श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला पुष्प ४१.

श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचित

तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकालंकार

(भाषाटीकासमन्वित)

[प्रथम खंड.]

—= टीकाकार =—

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि

श्री पं. माणिकचंदजी कौंदेय न्यायाचार्य.

—× संपादक व प्रकाशक ×—

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति-न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

All Rights are Reserved by the Society.

—+ मुद्रक +—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापुर.

वीर सं. २४७६] सन् १९४९ दिसंबर [मूल्य १२ रूपये.

संपादकीय वक्तव्य.

आज स्वाध्यायप्रेमियोंके करकमलोंमें आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाकी ओरसे यह ग्रंथराज श्लोकवार्तिकालंकार अर्पित करनेका सुअवसर प्राप्त होता है, इसका हमें परमहर्ष है।

जैनसंसारमें उमास्वामिविरचित तत्वार्थसूत्र आबालगोपाल प्रसिद्ध है। जैनदर्शनको समझनेके लिए सूत्रबद्ध, सुसंबद्ध व मूलग्रंथके रूपमें तत्वार्थसूत्रकी महिमा है। यह ग्रंथ सर्व प्रमेयोंको समझनेके लिए परम सहायक है। जैनदर्शनकी यह कुंजी है। श्रीपरमपूज्य उमास्वामी महाराजने जैनदर्शनके प्रथित सर्व तत्वोंको इसमें सर्वदृष्टिसे ग्रथित किया है। इस ग्रंथका निर्माण कर आचार्यश्रीने असंख्य जिज्ञासुवोंको तत्वोंके परिज्ञानके लिए परम उपकार किया है। भगवदुमास्वामी श्वेतांबर, दिगंबर संप्रदायमें समानरूपसे मान्य हैं। आपके ग्रंथका सर्वत्र समादर है। इस ग्रंथकी महत्ता इसीसे स्पष्ट है कि उमास्वामीके अनंतर होनेवाले महर्षि समंतभद्रस्वामीने ९६ हजार श्लोक परिमित गंधहस्ति महाभाष्य नामक महान् ग्रंथकी रचना इस ग्रंथकी टीकाके रूपमें की है। यद्यपि यह भाष्य दुर्भाग्यसे उपलब्ध नहीं है। तथापि इस ग्रंथकी रचना हुई है यह अनेक उल्लेखोंसे स्पष्ट है। भगवान् समंतभद्र साधारण क्रिस्त शकके दूसरे शतमानमें बहुत बडे विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभाशाली विद्वत्ताके द्वारा सिद्धांत, दर्शन, न्याय, आचार विचारके तत्वानुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुतिशतक, जीवसिद्धि, कर्मप्राभृतटीका, रत्नकरंडश्रावकाचार जैसे ग्रंथरत्नोंकी सृष्टि की है। इस तत्वार्थसूत्रके ऊपर स्वामि समंतभद्रने गंधहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है, यह भी प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है।

तदनंतर इस धरातलको अपने सुललित चारित्रके द्वारा समलंकृत करनेवाले श्रीपूज्यपाद स्वामीने इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धी नाम टीका ग्रंथकी रचना की है। सर्वार्थसिद्धि भी अपने ढंगका अपूर्व ग्रंथ है। जैनदर्शनके सर्वांग परिज्ञानके लिए एवं तत्वार्थसूत्रके गूढ रहस्योंकी गुत्थियोंको सुलझानेके लिए इस ग्रंथसे बडी सहायता मिलती है। पूज्यपाद स्वामीने भी सिद्धांत, न्याय, व्याकरणके प्रसिद्ध अनेक ग्रंथोंकी रचना की है।

तदनंतर उद्भट विद्वत्तासे परवादियोंको चकित करनेवाले निष्कलंक ज्ञानधारी तार्किक चूडामणि आचार्य अकलंक स्वामीने राजवार्तिक नामक टीका ग्रंथकी रचना इसी तत्वार्थसूत्रपर की है। अंकलंक स्वामीकी राजवार्तिक जैसे अन्य अनेक कृतियोंकी उपलब्धिसे उनकी सर्वतोपरि विद्वत्ता प्रसिद्ध है। आपने इस ग्रंथपर राजवार्तिककी रचना की है।

इस प्रकार जैनाचार्य परंपरामें रत्नत्रय कहलानेवाले समंतभद्र, पूज्यपाद, और अकलंक देवने इस ग्रंथको विस्तृत कर, इसकी रहस्यमय गुत्थियोंको सुलझानेमें सहायता की है। एवं इस मूल ग्रंथको ही उनकी विद्वत्ताके विस्तारके लिए मूलभूत बनाया है। इसीसे इस ग्रंथकी महत्ता स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इस तत्वार्थसूत्र ग्रंथपर विभिन्न आचार्योंके द्वारा लिखित निम्नलिखित

ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं। (१) भास्करनंद्याचार्य विरचित तत्वार्थवृत्ति (२) श्रुतसागरवृत्ति (३) द्वितीयश्रुतसागरविरचित तत्वार्थसुखबोधिनी, टीका (४) विबुधसेनाचार्य विरचित तत्वार्थ टीका (५) योगीद्रदेव विरचित तत्वप्रकाशिका (६) योगदेव विरचित तत्वार्थवृत्ति (७) लक्ष्मीदेव विरचित तत्वार्थटीका, (८) श्री अभयनंदि विरचित तत्वार्थवृत्ति।

इस प्रकार जैनाम्नायपरंपरामें इस ग्रंथके विस्तारमें अनेक ग्रंथकारोंने अपने जीवनको सफल किया है। इसीसे इसका अतिशय स्पष्ट है।

प्रकृत ग्रंथ श्रीतत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारकी रचना श्रीमहर्षि विद्यानंदस्वामीने की है। अनेक ग्रंथकारोंके समान जैनदर्शनके विस्तारके लिए विद्यानंद स्वामीने भी इसी ग्रंथको आधार बनाया है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। उपर्युक्त आचार्य रत्नत्रयोंके अनंतर इस तत्वार्थसूत्रपर यदि महत्वपूर्ण भाष्यकी रचना हुई है तो श्री आचार्य विद्यानंद स्वामीकी यही कृति गौरवपूर्ण उल्लेखके द्वारा करने योग्य है। श्रीमहर्षि विद्यानंद स्वामीने इस ग्रंथमें प्रशस्त तर्क–वितर्क-युक्ति प्रयुक्ति व विचारणाके द्वारा सिद्धांतसमन्वित तत्वोंका प्रतिष्ठापन किया है। परवादियोंको विविध विचार परिप्लुत न्यायपूर्ण युक्तियोंसे निरुत्तर करनेके कारण अनेकांतमतकी व्यवस्था होती है। अनेकांत मतकी शरण गये विना लोकमें तत्वव्यवस्था नहीं हो सकती है। तत्वव्यवस्थाके विना मोक्ष पुरुषार्थकी साधना नहीं बन सकती है, इस बातको आचार्य महाराजने बहुत अच्छी तरह सिद्ध किया है। इस ग्रंथका प्रमेय सिद्धांत होनेपर भी आचार्यश्रीने न्यायशास्त्रकी कसौटीसे कसकर सिद्धांतको समुज्वलरूपसे उपस्थित किया है। सुवर्ण अपने स्वभावसे स्वच्छ रहनेपर भी दहन, ताडन, भेदन, घर्षण आदि कसौटीमें उतरनेपर ही लोकादरके लिए पात्र होता है। इसी तरह स्याद्वाद सिद्धांत लोककल्याणके लिए अनवद्य सिद्धांत है, इस सिद्धांतको प्रकृत ग्रंथमें आचार्य महाराजने सुलभ बनाकर तत्वजिज्ञासु भव्योंके लिए महान् उपकार किया है।

महर्षि विद्यानंद स्वामीका विशेष परिचय, कालविचार, समकालीन ग्रंथकर्ता, एवं उनकी अन्य रचनायें आदिके संबंधमें एवं तत्वार्थ सूत्रपर भाष्यकी रचना करनेवाले स्वामि समंतभद्र, पूज्यपाद व अकलंक सदृश रत्नत्रय महर्षियोंके संबंधमें विस्तृत विवेचनपूर्वक एक बडी प्रस्तावना लिखनेका विचार था। परंतु पाठकोंमें प्रथम भागके प्रकाशनकी आतुरता होनेसे, कुछ अवधिमें उक्त विषयोंपर अधिक प्रकाश पडनेकी संभावना होनेसे, तथा अभी न लिखनेकी कुछ विद्वन्मित्रोंकी सलाह होनेसे, इस भागमें वह प्रस्तावना हम जोड नहीं सके। इस ग्रंथको हमने पांच खंडोंमें समाप्त करनेका विचार किया है। अंतिम पांचवें खंडमें इस ग्रंथके संबंधमें उपर्युक्त सभी विवेचनोंसे परिपूर्ण गवेषणात्मक विस्तृत प्रस्तावना जोडनेका संकल्प हमने किया है। पाठकोंको हम आज इतना ही आश्वासन देते हैं। अग्रिम खंड शीघ्र प्रकाशित होते रहेंगे। इस ग्रंथके परिपूर्ण दर्शनकी बडी आतुरता स्वाध्याय प्रेमियोंमें हैं। यह हमारे ध्यानमें है। अतएव आगामी खंडोंको बहुत ही द्रुतगतिसे प्रकाशन करनेकी व्यवस्था की गई है।

टीकाकारके प्रति कृतज्ञता

अभीतक इस वज्रोमय कठिन ग्रंथकी भाषा टीका व टिप्पणी नहीं की गयी थी। अतएव स्वाध्यायप्रेमियोंको इसके रहस्यमय चमत्कारी कठिन प्रमेयोंके परिज्ञानकी उत्सुकता सैकडों वर्षोंसे बनी आरही थी। किंतु अब पूज्य पण्डित माणिकचंदजीके शुभ्र पुरुषार्थसे हिंदी टीका पूर्णरीत्या निष्पन्न हो चुकी है। इसमेंसे केवल एक ही सूत्रकी व्याख्या प्रथम खण्डमें आपके सन्मुख प्रस्तुत की जारही है। वीरमुखोत्पन्न गणधरग्रंथित जिनवाणीमाताके अश्रुतपूर्व अनुपम वाङ्मयको सप्रसाद निरखिये।

अभी तो इस मुद्रित प्रथम खण्डमें पहिले अध्यायके अकेले आदि सूत्रकी ही व्याख्या है, अन्य सूत्रों और अध्यायोंकी श्लोकवार्त्तिक टीकामें अनन्त अपनुम तत्त्वज्ञान भरा हुआ है, जो कि क्रमशः मुद्रित होता रहेगा। पूरे ग्रंथमें पांच हजार पृष्ठ हैं। प्रति पृष्ठमें पचीस या अट्ठाईस श्लोक प्रमाण लेख है। इतना विशाल दर्शन ग्रंथ अन्यत्र अप्राप्य है। इस अठारह हजार श्लोक प्रमाण पूरे संस्कृत ग्रंथकी हिंदी-भाषाटीका [illegible] अधिक श्लोक प्रमाण पांच वर्ष पूर्व परिपूर्ण कर दी गयी है। जिसकी प्रेस कापी श्रीमान् धर्मवीर रा. ब सरसेठ भागचंदजी महोदयके अजमेरके ग्रंथ भण्डारमें टीकाकार द्वारा विराजमान हो चुकी है। पण्डितजीकी यह हस्तलिखित कापी अतीव शुद्ध है। सुंदर लिखी गयी है।

जैनदर्शन अगाध है एवं गंभीर है। उसके अथाह अंतस्तलमें पहुंचकर अभ्यास करनेवाले विद्वान् भी विरले हैं तो सामान्यजनोंकी बात ही क्या है! उसमें भी यदि न्यायशास्त्र तर्कवितर्कणाओंका भंडार हो तो उसे सामान्य जनता समझ भी नहीं पाती और उससे उपेक्षित होजाती है। ऐसी अवस्थामें ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथोंको सरल रूपसे समझनेके लिए यदि विस्तृत भाषा टीका हो तो तत्वजिज्ञासुवोंको बडी अनुकूलता होसकती है। इसलिए आज इस महान् श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथकी राष्ट्रभाषात्मकटीका प्रकाशित होरही है, यह अत्यंत संतोषका विषय है।

श्लोकवार्तिकालंकार सदृश महान् ग्रंथकी सरल सुबोधिनी टीका लिखना कोई खेल नहीं है। विद्यानंद स्वामीकी अंतस्तलस्पर्शिनी विचारधारावोंको समझकर, दूसरोंको समझानेवाला विद्वान् भी असाधारण ही होना चाहिये। क्योंकि श्रीविद्यानन्द स्वामीकी पद्धतिया अतीव कठिन, गम्भीर और तीक्ष्ण होती हैं। जैनसंसार **श्रीमान् तर्करत्न पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य** महोदयसे अच्छीतरह परिचित है। न्यायाचार्यजी महोदयका परिचय लिखना अनावश्यक है। आज करीब ५० वर्षोंसे जैन समाजमें आप विद्वानोंकी सृष्टिमें अपने ज्ञानका उपयोग कर रहे हैं। स्वर्गीय पं. गुरु गोपालदासजी बरैयाने जिन विद्वानोंका निर्माणकर जैन समाजका उपकार किया है, आज समाजके विविधक्षेत्रमें कार्यकरनेवाले जो सैकडों प्रौढ विद्वान् प्रतीत होरहे हैं, उन सब विद्वानोंकी उत्पत्तिका प्रधानश्रेय श्री. पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयको है। श्रीगोपाल दि. जैन सिद्धांत विद्यालयमें करीब १६ वर्ष प्रधान अध्यापकके स्थानपर रहकर आपने न्याय व सिद्धांत शास्त्रका अध्यापन कार्य किया

है। पं. गोपालदासजी बरैयाने भी न्यायशास्त्रका कभी कभी परिशीलन आपसे किया था। इतने कहने मात्रसे आपकी अगाध विद्वत्ताके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जैन विद्यालय सहारनपुरमें प्रधान अध्यापकके स्थानपर रहकर आपने सेकडों विद्वानोंको तैयार किया। आपकी अगाध विद्वत्तासे जैन समाजका बालगोपाल परिचित है ; आपने इस श्लोकवार्तिकालंकार सदृश ग्रंथकी भाषाटीका लिखकर स्वाध्यायप्रेमियोंके प्रति अनंत उपकार किया है। श्रीन्यायाचार्यजीने छोटी मोटी अनेक पुस्तकें लिखी हैं, परंतु इस महान् ग्रंथकी टीका लिखकर अपनी लेखनीको सफल बनाया है। क्योंकि यह हजारों वर्ष अव्याहत प्रवाहित होकर रहनेवाली एवं असंख्य तत्वजिज्ञासुवोंको तृप्त करनेवाली यह ज्ञानधारा है। इस अमृतधाराको सिंचितकर भव्योंको तृप्त करनेके श्रेयको प्राप्त करनेके लिए न्यायाचार्यजीने कई वर्ष तपश्चर्या की है। उनकी कठिन तपश्चर्याका ही यह मधुरफल है कि आज यह ग्रंथ विद्वत्संसारको आस्वादनके लिए मिल रहा है।

षट्दर्शनोंके अतिरिक्त पण्डितजी व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त तथा अन्य गणित, भूविज्ञान आदिमें भी गम्भीर प्रतिभायुक्त हैं। पण्डितजीने प्रत्येक सूत्रके आदि अन्तमें तथा अध्यायोंके पहिले पीछे भी सारगर्भित पाण्डित्यपूर्ण स्वरचित संस्कृतपद्योंकी रचना भी करदी है।

अन्य काव्य ग्रंथों या कथासाहित्यकी भाषाटीका जितनी हृद्य नरम होती है, दर्शन शास्त्रोंकी भाषाटीकायें उतनी सरल नहीं होती हैं। फिर भी पण्डितजीने कठिन पंक्तियोंकी सुबोध्य टीका बनानेमें कोई कसर नहीं छोडी है। स्वाध्याय करनेवाले निरालस होकर उपयोग लगावें। यदि परीक्षामुख और न्यायदीपिकाका अध्ययन करलें तो पर्याप्त अधिकारिता प्राप्त होजावेगी। इस महाग्रंथमें प्रवेश करनेके लिये पण्डितजी "दर्शनदिग्दर्शन" पुस्तकको लिख रहे हैं। आधी लिख चुके हैं।

श्रीमाननीय पंडितजीने अपनी अगाध विद्वत्ताको पुंजीकृत कर इस ग्रंथमें ओत प्रोत करदिया है। उनके अनुभवका लाभ आज इस रूपमें विद्वत्संसारको न होता तो बडा पश्चात्ताप करना पडता। उनका अनुभव, ज्ञान, विचारधारा, तर्कणाशक्ति, आदि सभी उनके व्याख्यानोंमें ही बिखरकर पडे रहते। शब्दवर्गणायें अनित्य हैं, उनको कुछ समयके लिए क्यों न हो नित्य बनानेके लिए यही प्रक्रिया उपादेय है। अतः न्यायाचार्यजीने वर्षोंतक घोर परिश्रमकर इस ग्रंथकी टीका लिखी है, उनके प्रति कृतज्ञताके सिवाय हम क्या व्यक्त कर सकते हैं। हमारे समान ही विद्वत्संसार, तत्वाभ्यासी, एवं भविष्यमें होनेवाले सर्व मुमुक्षुजीव आपके प्रति कृतज्ञता व्यक्त किये विना न रहेंगे।

प्रकाशनका इतिहास

इस महान् ग्रंथके प्रकाशनका सर्व श्रेय श्रीमान् धर्मवीर रा. ब. रा. भू. कैप्टन सर सेठ भागचंदजी सोनी O. B. E. जो आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाके अध्यक्ष हैं, को ही है। क्योंकि सर सेठ साहबकी ही प्रबलप्रेरणा व साहित्यप्रेमसे यह ग्रंथ प्रकाशनमें आ रहा है। सर सेठ साहबकी भावना थी कि श्रीसिद्धांतमहोदधि पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य जैसे महान् विद्वानोंकी

कृतिका एवं ज्ञानका लाभ दुनियाको हो। श्री न्यायाचार्यजीने जिस कठिन ग्रंथकी भाषा बनानेके लिए बीसों वर्ष परिश्रम किया है, यदि वह अप्रकाशित रह जाय तो क्या प्रयोजन रहा ! इसलिए श्रीमाननीय पंडितजीसे उन्होंने इस ग्रंथको प्रकाशित करनेकी अनुमति ली। श्री पंडितजीने भी बहुत आनंदके साथ अपने परिश्रमके सुमधुर फलको तत्वजिज्ञासु भव्योंको समर्पण करनेकी अनुमति प्रदान की। श्री सर सेठ साहबको परमहर्ष हुआ। आपके हृदयमें पंडितजीकी विद्वत्ता एवं महत्ताके प्रति परमआदर है। वैसे तो आपके घरानेसे सदा ही विद्वानोंका सन्मान होता आ रहा है, जैन समाजमें सोनी घरानेकी प्रतिष्ठासे अपरिचित एक भी व्यक्ति नहीं निकल सकता है। आपके पूर्वज स्वनामधन्य सेठ मूलचंदजी, रा. ब. सेठ नेमीचंदजी, एवं रा. ब. धर्मवीर सेठ टीकमचंदजी, सा. ने समाज व धर्मकी रक्षार्थ लाखों रुपयोंके व्ययसे जो कार्य किये हैं, वे इतिहासके पृष्ठोंमें अमिट रहेंगे। श्रीधर्मवीर सर सेठ भागचंदजी साहब भी अपने पूर्वजोंके समान ही परमधार्मिक, विचारशील, गुरुभक्त, साहित्यप्रेमी एवं समाजके कर्णधार हैं। आज आपकी कार्यकुशलता एवं धर्मप्रेमका ही कारण आज कई वर्षोंसे भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभाने आपके नेतृत्वको धारण करनेमें अपना सौभाग्य समझा है। आपका प्रभाव समस्त समाजपर ही नहीं भारतवर्षीय सर्व क्षेत्रोंमें है। कई वर्ष आप केंद्रीय धारासभाके मेंबर रहचुके हैं। आपकी दूरदर्शिता एवं कार्यकुशलताके ही कारण ब्रिटिश सरकारने आपको, रा. ब. केप्टन, सर नाईट, O. B. E. जैसे महत्वपूर्ण उपाधियोंसे सन्मानित किया है। आप केवल श्रीमंत नहीं हैं। धीमंत भी हैं। स्वाध्यायादिके द्वारा सदा तत्वचर्चा करते रहते हैं। जैनसिद्धांतकी तात्विक अकाट्य, तर्कणावोंमें आपको परमश्रद्धा है। इसीलिए आपने श्री माननीय पंडितजीके अगाध पांडित्य और बीस वर्षके परिश्रमके प्रति परमआदर व्यक्त करते हुए उनको समुचित पुरस्कार देकर अपनी गुणग्राहकता, विद्वत्प्रेम, वात्सल्य और धनाधिपोचित उदारताके अनुसार सन्मानित किया है। एवं इस महान् ग्रंथको श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमालाको प्रकाशित करनेके लिए अर्पण किया है।

श्रीपरमपूज्य स्व. आचार्य कुंथुसागर महाराजके प्रति भी सरसेठ साहबकी विशिष्ट भक्ति थी। आपके प्रति आचार्यश्रीकी प्रसादपूर्ण दृष्टि थी। यही कारण है कि आज वर्षोंसे ग्रंथमालाके अध्यक्ष स्थानपर रहकर आप इस संस्थाका सफल संचालन कर रहे हैं। आपके नेतृत्वमें ग्रंथमालासे ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथका प्रकाशन होरहा है, यह समाजके लिए प्रसन्नताकी बात है।

श्रीपरमपूज्य प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य आचार्य कुंथुसागर महाराजने अपनी प्रखर विद्वत्ताके द्वारा आजीवन लोक कल्याणके कार्य किये। उनके पुण्यविहारसे गुजरात और बागडप्रांत पुनीत हुआ। लाखों लोगोंका उद्धार हुआ। उनका एकमात्र ध्येय था कि जैनधर्मको विश्वधर्मके रूपमें जनता जब देखेगी, तब उसका हित होगा। प्राणिमात्रका उद्धार करनेका सामर्थ्य जिस वीतराग धर्ममें विद्यमान है, यदि उसका परिज्ञान जनसाधारणको नहीं होता है तो इससे उसका बडा ही अहित होगा। संसारके पतनगर्तमें वह पडेगी। इस अंतर्वेदनासे उनकी आत्मा त्रस्त थी। शायद स्वार्थ, ईर्ष्या व द्वेषकी धधकती हुई अग्निमें भस्मसात् होनेवाली अनंतजीवोंकी दयनीय दशाको

न देख सकनेके कारण ही वह आत्मा बहुत जल्दी इस पापमय संसारको छोडकर चली गई। विश्ववंद्य आचार्यश्रीके हृदयमें प्रबल भावना थी कि इस विश्वकल्याणकारी धर्मका देश विदेशमें प्रचार हो। आपने अपने दिव्य उपदेशसे असंख्य जनताका उपकार किया है। लाखों जैनेतर आत्महितैषी जन, यहांतक प्रमुख अधिकारी गण, राजा महाराजा, आपके चरणोंके दास बन गये हैं, एवं अहिंसाधर्मके भक्त बने हैं। उनकी अगाधविद्वत्तासे सर्वजन मंत्रमुग्धवत् हो गये थे। आचार्यश्रीके ज्ञान एवं लोकहितैषणाका लाभ सर्वदेशीय, सर्वप्रांतीय सर्व संप्रदायके लोगोंको हो, इस उद्देश्यसे ग्रंथमालाके द्वारा उनकी सरल व सुललित कृतियोंका प्रकाशन हो गया है। करीब ४० ग्रंथ आजपर्यंत ग्रंथमालाके द्वारा प्रकाशित हुए हैं, जिनसे हजारों स्वाध्यायप्रेमियोंने लाभ उठाया है। श्री वंदनीय आचार्यश्रीकी भावनावोंके अनुसार ही आज इस महान् ग्रंथका प्रकाशन संस्थाके द्वारा हो रहा है। इस प्रसंगमें इतना ही लिखना पर्याप्त होगा।

स्वकीय निवेदन.

इस ग्रंथके प्रकाशनका निश्चय होनेपर श्रीधर्मवीर सर सेठ भागचंदजी साहबने यह आदेश दिया कि यह ग्रंथ हमारे ही तत्वावधानमें ग्रंथमालाके द्वारा संपादित व प्रकाशित होजाना चाहिये। श्रीपूज्य पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयने भी विश्वासपूर्वक आदेश दिया किया कि इस कार्यको तुम ही करो। हमने अपनी अयोग्यताकी उपेक्षाकर केवल गुरुजनोंकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेकी भावनासे इस गुरुतरभारको अपने ऊपर लिया। क्योंकि परमपूज्य आचार्य कुंथुसागर महाराजका इस सेवकपर परमविश्वास था। श्री पं. माणिकचंदजीसे इस पंक्तिके लेखकको अध्ययन करनेका भी भाग्य मिला था। सरसेठ साहबका इसके प्रति परम अनुग्रह है। ऐसी हालतमें इस कार्यकी महत्ताको लक्ष्यमें रखकर भी गुरुजनोंकी भक्तिसे इस कार्यमें साहस किया। फिर करना भी क्या था ?। जो कुछ भी सिद्धांतमहोदधि महोदयने लिपिबद्ध किया था, उसे क्रमबद्ध व्यवस्थामें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करना था। उसमें हम कहांतक सफल हुए कह नहीं सकते। परंतु इस प्रसंगमें इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि–

दृष्टं किमपि लोकेस्मिन्न निर्दोषं न निर्गुणम् ।
आवृणुध्वमतो दोषान्विवृणुध्वं गुणान्बुधाः॥

अंतमें निवेदन है कि हमने बहुत सावधान पूर्वक यह प्रकाशन कार्य किया है। इसमें जो गुणके परमाणु हैं, वे सब श्रीआचार्य कुंथुसागर महाराज सरीखे तपोनिधि एवं पं. माणिकचंदजी सदृश विद्वानोंकी आत्मावोंकी शुभभावनावोंसे निर्मित हैं। अतः उसका श्रेय उन्हींको मिलना चाहिये। यदि कोई दोषका अंश है तो वह मेरी अयोग्यताके कारण उत्पन्न है। उसके प्रति मुझे क्षमा करें। किसी भी तरह इस ज्ञानधाराका उपयोग कर स्वाध्यायप्रेमी अपने ज्ञानतरुको हरा-भरा करेंगे तो सबका श्रम सार्थक होगा। इति.

विनीत

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.

ऑ. मंत्री–आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला, सोलापूर



श्रीविद्यानंदस्वामिविरचितम्

श्रीतत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकम्

तर्करत्न पं. माणिकचंद्रन्यायाचार्यमहोदयैर्विरचिता

तत्त्वार्थचिन्तामणिः

श्रीमन्नाभिसुतं सिद्धं विघ्नौघध्वान्तभास्करम् ।
सुरासुरनरेन्द्रेड्यं, प्रणमामि त्रियोगतः ॥ १ ॥
अजिताद्यावर्धमानमर्हतः सिद्धचक्रकम् ।
सूर्युपाध्यायसाधूंश्च स्तौम्यहं परमेष्ठिनः ॥ २ ॥
प्रमाणनयसत्तर्कैर्न्यक्कृत्यैकान्तिनां गतिम् ।
हंसी स्याद्वादगीः सिद्धा, पुनीतान्मम मानसम् ॥ ३ ॥
कलिसर्वज्ञोपाह्वक–आम्नायविधिज्ञकुन्दकुन्दगुरुः ।
आर्हतदर्शनकर्ता निवसेन्मे हृदि सदा ह्युमास्वामी ॥ ४ ॥
समन्ताद्भद्रमेत्यस्मादकलङ्को भवेत्सुधीः ।
विद्यानन्दी प्रभानेमीन्द्वन्वर्थगुरुकीर्तनात् ॥ ५ ॥
एकैकं न्यायसिद्धान्तशास्त्रे धत्ते गभीरताम् ।
सिद्धान्तन्यायपूर्णे मे का गतिः श्लोकवार्तिके ॥ ६ ॥
तथापि सार्वविद्यज्ञगुर्वाशीर्नावमाश्रितः ।
ग्रन्थाब्धौ प्रविशामीह जिनमूर्तीर्हृदि स्मरन् ॥ ७ ॥
गुरून् शरण्यानास्थायानूद्यते देशभाषया ।
हिन्दीनामिक्रयाऽप्यन्ते स्युर्मे सूक्ष्मार्थबोधकाः ॥ ८ ॥
प्रयोजकाः सद्गुरवो नियोज्योऽहं लघुर्जनः ।
पारनेत्री भवित्री मे ऋद्धिचुञ्चुगुरुस्मृतिः ॥ ९ ॥
श्रुतवारिधिमुन्मथ्य न्यायशास्त्रामृतं स नः ।
समन्तभद्र उद्धरे भावितीर्थकरो भ्रियात् ॥ १० ॥

इस अनाद्यनन्त संसारमें अनन्तानन्त जीव तत्त्वबोधके विना अनेक दुःखोंसे पीडित हो रहे हैं, उनमें असंख्य प्राणी गृहीतमिथ्यात्वके वशीभूत होकर युक्त्यनुभवसे शून्य कोरे वाग्जालमें फंसकर सदागम सूर्यप्रकाशके रहते हुए भी दुःखान्धगर्तमें गिरते चले जा रहे हैं। सम्पूर्ण जीवोंको संसार व्याधिसे छुडाकर उत्तम सुखमें धारण करानेका लक्ष्य कर ही सनातन जैनधर्मके तत्त्वोंका ज्ञान श्री अर्हन्तदेवकी द्वादशाङ्गमय वाणीसे जागरूक हो रहा है! यह धर्मजागृति किसी विशेष युगमें ही नहीं, किन्तु अनादिकालसे मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले अनेक तीर्थङ्कर महाराजोंद्वारा अद्यावधि धाराप्रवाहरूपसे चली आ रही है और इसी क्रमसे अनन्तकाल तक सुसंघटित रूपसे चलती रहेगी। इसके द्वारा ही जीवोंके अन्तस्तलमें छिपा हुआ अवस्तुका स्वाभाविक स्वरूप समय समय पर प्रगट होता रहता है। अनन्त पुरुषार्थी भव्य जीवोंने अतीर्थङ्कर भगवान्के उपदेशद्वारा कैवल्य और निःश्रेयस प्राप्त किया है। वर्तमान अवसर्पिणी काल सम्बन्धी चौवीसवें तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान स्वामीने पूर्व जन्ममें उपार्जित तत्त्वज्ञान और तीर्थङ्करत्वके प्रभावसे वैराग्य प्राप्त कर जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की तथा विविध तपस्याओंको करके पौद्गलिक दुष्कर्मोंका क्षय करते हुए सर्वज्ञता प्राप्त कर अनेक भव्यजीवोंको सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रतिभास करानेवाले द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानका उपदेश दिया। जो कि सिद्धान्त, न्याय व्याकरण, साहित्य, स्याद्वाद, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र, कला, विज्ञान आदिसे परिपूर्ण था। उस उपदेशको अविकल रूपसे धारण करनेवाले श्री गौतमस्वामीने आचाराङ्ग आदि बारह अंगरूप गूंथा। तदनन्तर गुरुपरिपाटी और आम्नायके अनुसार वही सर्वज्ञोक्त श्रुतज्ञानका उपदेश अङ्ग अङ्गांश रूपसे अद्यावधि चला आ रहा है। सम्पूर्ण ज्ञानका प्रतिपादन शब्दोंके द्वारा असम्भव है। केवलश्रुतज्ञानके कतिपय अंशोंका ही समझाना और लिखना हो सकता है। अतः सर्वज्ञदेवसे भाषित अर्थ स्वांशमें परिपूर्ण होता हुआ अविकलरूपसे भविष्यमें भी प्रवाहित रहे, इस परोपकार बुद्धिसे प्रेरित होकर प्रकाण्ड, प्रतिभाशाली, पूज्यपाद, आचार्यवर्योंने सिद्धान्त, न्याय आदि मोक्षमार्गोपयोगी ग्रन्थोंकी रचना की। जीव आदि वस्तुओंके अन्तस्तलपर पहुंचाकर अनुभव करानेवाले आगमोंको समुदायरूपसे न्याय, सिद्धान्त, शास्त्र कहते हैं। प्रत्येकका लक्षण इस प्रकार है—प्रमाण तथा नयोंके द्वारा वस्तु और वस्तुके धर्मोंकी परीक्षाको न्याय कहते हैं, तथा सर्वज्ञकी ज्ञानधाराके अनुसार प्रमाण सिद्ध पदार्थोंके निर्णयको सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थ यदि अक्षय भण्डार हैं तो न्यायशास्त्र उनकी रक्षा करनेवाले दुर्ग (किले) हैं तथा युक्तिप्रधान हेतुवादके कतिपय वचन अनुभवी सम्यग्दृष्टि विद्वानोंको आगमद्वारा भी परिरक्षणीय होते हैं। अतः श्रीकुन्दकुन्द, धरसेन, नेमिचन्द्र आदि आचार्योंने सिद्धान्तप्रधान और युक्तिवादगौण ऐसे अनेक सिद्धान्तप्राभृत ग्रन्थ निर्माण किये हैं तथा श्री समन्तभद्र अकलंक, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, प्रभृति प्रतिवादिभयंकर ऋषियोंने प्रमाण, नय और युक्तियोंके द्वारा तत्त्वोंके अधिगम करानेवाले न्याय शास्त्र रचे हैं। न्याय और सिद्धान्तके

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषयोंको मिलाकर संक्षेपसे प्रतिपादन करनेवाले मूलग्रन्थको दर्शन कहते हैं। त्रियोग द्वारा किये गये, कहे या विचारे गये प्रत्येक कर्तव्यके समय उस दर्शन ग्रन्थका अपनी आत्मामें बुद्धिचक्षुसे दर्शन करते रहनेवाले दार्शनिक विद्वान् कहलाते हैं।

श्री महावीरस्वामीके मोक्ष–गमनके पश्चात् कतिपय शताब्दियोंके बीत जानेपर विदेहक्षेत्रमें जाकर श्री सीमन्धर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले उपज्ञज्ञानधारी श्रीउमास्वामी आचार्यने तत्त्वज्ञान ग्रन्थोंके सारभूत जैनदर्शन तत्त्वार्थ–मोक्षशास्त्रकी रचना की। अल्प सूत्रोंमें त्रिलोक त्रिकालकी तत्त्वमालाको अक्षुण्ण निरूपण करनेवाला यह मूलग्रन्थ अतीव गम्भीर है। अति विस्तर उदार अर्थको इङ्गित मात्रसे अत्यल्प शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेवाले पद समुदायको सूत्र कहते हैं। इस जैनदर्शनके गूढार्थ प्रकाशनके लिये स्वामी समन्तभद्राचार्य–उदयाचलसे ८४००० चौरासी हजार श्लोकोंमें गन्धहस्तिमहाभाष्य–ग्रन्थ–सूर्य प्रगट हुआ। स्वामी समन्तभद्रकी सिंह-गर्जनासे अनेक प्रतिवादियोंके बुद्धि कुयुक्तिगर्भगत अर्थ स्खलित होजाते हैं तथा उन्हीं समन्त-भद्राचार्यसे विस्तारित जैनधर्म ध्वजाकी शीतल छायामें आश्रय पाकर आसन्न भव्य जीव इष्ट तत्त्वार्थको प्राप्तकर चारों ओरसे कल्याण पात्र बन जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रको त्रैविद्यविद्य श्री भट्टाकलङ्क देवने श्रुतज्ञानाब्धिका मथन कर उद्धार किये गये तत्त्वार्थराजवार्तिक अमृतसे सिञ्चित किया। सूत्र वार्तिक और भाष्यका यह योग रत्नत्रयके समान संसिद्धिमें आवश्यक है। उक्त दोनों ग्रन्थ जैन शास्त्रोंमें आकर (खानि) ग्रन्थ माने जाते हैं। श्री समन्तभद्राचार्य रचित गन्धहस्ति-महाभाष्यके मङ्गलाचरणस्वरूप देवागमस्तोत्रका श्रवणकर श्रीविद्यानन्द आचार्य प्रबुद्ध हुए और तत्क्षण सम्यग्दर्शन तथा अखण्ड सम्यग्ज्ञान और त्रयोदशविध चारित्रको स्वीकार कर विद्यानन्द स्वामीजीने शास्त्रार्थ और शास्त्र–लेखन द्वारा अक्षुण्ण जैनधर्मकी प्रभावना की। उस समय भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें जैनधर्मका पटहनिनाद व्याप्त था। न्याय विद्याके अग्रगुरु श्री समन्तभद्राचार्य भगवान्के भावोंको विद्यानन्दस्वामी गुरु रूपसे मानते थे। अतएव अष्टसहस्री ग्रन्थके मंगलाचरण श्लोकमें स्वामीजीने समन्तभद्राचार्यकी वन्दना की है। अन्य मतावलम्बियोंके पोच और युक्तिरहित आपातरम्य कुतर्कोंसे जिनागम रहस्यको बाल बालाग्र रूपसे भी अखण्डित होनेके उद्देशसे अथवा प्रत्युत महावीर स्वामीके निकट शास्त्रार्थ करनेके लिये गये गौतमगणीके अनुसार या अहिक्षेत्रमें पार्श्वनाथके मन्दिरमें जैनोंको पराजित करनेके अभिप्रायसे गये हुए स्वयंके (अपने) समान, शास्त्रार्थ करनेके लिये आये हुए परवादियोंको जैनधर्ममें दीक्षित करनेके अभि-प्रायसे विद्यानंद आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थकी रचना की। पूर्वोक्तभाव, उनकी लेखनशैली और खंडनमंडनव्यवस्थासे विचारशीलोंको सहजमें प्रगट हो सकता है। पूज्यपाद विद्यानन्द स्वामीजीने इस ग्रंथमें अत्यंत कठिन जैनसिद्धांतके प्रमेयोंको सुयुक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है। प्रत्येक स्थलपर परवादियोंको स्वपक्ष समर्थन करनेकेलिये पर्याप्त

स्थान देनेका भी औदार्य दिखलाया है। गाढ अन्धकारके प्रसारसे ही सूर्यके प्रताप, प्रकाश, आदि गुणों तथा विपुलप्रतिपक्ष निराकरण शक्तियोंका ज्ञापन होता है। न्यायशास्त्र और सिद्धान्त शास्त्रकी दृष्टिसे यह ग्रंथ अतीव उच्चकोटि-का है। वर्तमानकालमें इस ग्रंथका अध्ययन अध्यापन हो कष्टसाध्य होरहा है। तिसपर इस महान् ग्रंथकी टीका करना तो अंधकवर्तिकीय (अन्धेके हाथ बटेर) ही कहना चाहिये। कहां यह अनेक प्रमेयोंसे भरा हुआ गम्भीर ग्रन्थ समुद्र और कहां मेरी छोटीसी टूटी फूटी बुद्धिरूपी नौका? इस विषमसमस्याकी घटनासंयोजनामें पञ्च-परम गुरुचरण शरणके अतिरिक्त और क्या प्रयोजक हो सकता है? इस जगत्रूप नाट्य भूमिमें अनेक प्रकारके पात्र हैं। किन्तु जलौका नीतिको हेय समझकर "हंसक्षीर न्याय" से उपगूहनाङ्ग का पालन ही सम्यग्दृष्टिको अनिवार्य होता है। अतः निन्दा, प्रशंसा, वादके निर्णयको साधु सज्जनोंकी विवेचना बुद्धिपर उन्मुक्त कर, स्वाभाविक पदवीका अवलम्ब करता हुआ गुरुचरण-रजसे अपने मस्तकको पवित्र बनाकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थके देशभाषारूपी कार्यमें प्रवृत्त होता हूं। रत्नत्रयधारी धर्मात्मा सज्जन शुभभावोंसे मेरी आत्माको प्रबल बनावें, ऐसी पवित्र भावना है। "ॐ नमोऽर्हत्परमेष्ठिने"।

श्रीविद्यानन्दस्वामी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थके आदिमें निर्विघ्नरूपसे शास्त्रकी परिसमाप्त्यर्थ और शिष्टोंके आचारके परिपालनका लक्ष्य रख तथा नास्तिकता परिहारके लिये एवं उपकार स्मरणके द्योतनार्थ अपने इष्टदेव श्री १००८ वर्धमान स्वामीका ध्यान करते हुए प्रतिज्ञा श्लोकको कहते हैं।

श्रीवर्धमानमाध्याय घातिसंघातघातनम्।
विद्यास्पदं प्रवक्ष्यामि, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकम्॥ १॥

प्रत्येक ग्रन्थनिर्माताको अपने प्रारम्भित ग्रन्थमें सम्बन्धाभिधेय, शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजन इन तीनों गुणोंका समावेश करना आवश्यक है। तभी वह ग्रन्थ विचारशील विद्वानोंमें आदरणीय होता है।

अपने वक्तव्य प्रमेयका ग्रन्थके शब्दोंसे वाचन होनेको सम्बन्धाभिधेय कहते हैं। अतएव उन्मत्तोंका बकवाद श्रद्धेय नहीं है। वाच्य अर्थोंमें परस्पर सम्बन्ध घटना होती रहनी चाहिये।

जिस कार्यको धीमान् जन कर सकते हैं, उसको शक्यानुष्ठान कहते हैं। इस गुणके न होनेसे किसी व्यक्तिका शिरसे चलनेका, औषधिपति चन्द्रमाको घरमें लानेका तथा सर्वज्वरहारी तक्षक सर्पके शिरमें लगी हुयी मणिके ग्रहण करनेका उपदेश ग्राह्य नहीं होता है।

प्रकृतमें स्वहितकारी, प्रयोजनसाधक वाक्योंमें इष्टप्रयोजन गुण है। तभी तो विष-भक्षण, हिंसा, परधन ग्रहणको पुष्ट करनेवाले वाक्योंमें प्रामाण्य नहीं माना है। इस ग्रन्थमें भी वे तीनों गुण विद्यमान हैं।

मुमुक्षुजनोंके उपयोगी तत्त्वार्थसूत्रके प्रमेयका और श्लोकवार्तिकग्रन्थका वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध है। इस प्रकरण ग्रन्थके द्वारा प्रतिभासित मोक्षके कारण संवर, निर्जरा तत्त्वोंका और संसारके कारण आस्रव, बन्ध तत्त्वोंका उपादान और हान करना संसारी जीवोंको शक्यानुष्ठान भी है तथा वक्ता एवं श्रोताको अज्ञानकी निवृत्ति और कैवल्यविद्याकी प्राप्ति होना साक्षात् और परम्परया इष्टप्रयोजन है। इन सम्पूर्ण विषयोंको आद्यश्लोकमें ही स्वामीजीने ध्वनित कर दिया है।

श्लोकका अर्थ—प्रवक्ष्यामि ऐसी भविष्यकालवाचक लृट् लकारके उत्तम पुरुषकी क्रिया होनेसे "अहं" पदका आक्षेप (अध्याहार) हो जाता है। अहं शब्द अभिमानप्रयुक्त अपने औद्धत्यको भी प्रगट करता है। अतः शिष्टसम्प्रदायमें कण्ठोक्तरूपसे अहं अर्थात् मैं शब्दका क्वचित् उच्चारण नहीं भी किया जाता है। थोडे शब्दोंमें अधिक अर्थ लिखनेवाले विद्वानोंको क्रियासे ही कर्तृवाच्यमें प्रत्यय होनेके कारण कर्ता अर्थ स्पष्ट है। उसको पुनः लिखनेमें पुनरुक्त दोषकी गन्ध भी प्रतीत होती है। अतः मनीषी आचार्य प्रवक्ष्यामि क्रियासे ही प्रतिज्ञा करते हैं। अर्थात् प्रकर्षेण युक्तिपूर्वक परपक्षनिराकरणेन परिभाषयिष्यामि, मैं विद्यानन्द आचार्य युक्तिपूर्वक प्रतिवादियोंके पक्षका निराकरण करता हुआ भाष्यसंकलनायुक्त स्पष्टरूपसे कहूंगा। कं (किसको) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् "नामैकदेशो नाम्नि प्रवर्तते" पूरे नामका एकदेश भी बोल दिया जाता है। जैसे सत्यभामा नामकी लडकीको सत्या या भामा कह देना। इस नियमके अनुसार उमास्वामी आचार्यसे रचे हुए तत्त्वार्थ मोक्षशास्त्रको भी तत्त्वार्थ कहदेते हैं। अत्यन्त प्रिय विषय में प्रायः आधे नामका उच्चारण होता है। विद्यानन्द आचार्यकी तत्त्वार्थसूत्र और उसका " मोक्षमार्गस्य नेतारं " इत्यादि मंगलाचरणश्लोक एवं तत्त्वार्थसूत्रके उपर रचे गये गन्धहस्तिमहाभाष्य और उसके " देवागमनभोयान " आदि-मंगलाचरणके श्लोकोपर अत्यन्त श्रद्धा थी। अतः ग्रन्थकार श्रद्धेय विषयोंके आद्य कारण तत्त्वार्थ-सूत्रके ऊपर श्लोकोंमें यानी अनुष्टुप् छंदोंमें वार्तिकोंको रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। श्लोकबद्धं वार्त्तिकं। मूलग्रंथकारसे कथित तथा उनके हृदयगत गूढअर्थोंकी एवं मूल ग्रन्थकर्तासे नहीं कहे गये अतिरिक्त भी अर्थोंकी अथवा दो वार कहेगये प्रमेयकी चिन्तनाको वार्तिक कहते हैं। ऐसे अर्थको धारण करनेवाले तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक नामकवृत्तिरूपसे किये गये ग्रन्थको कहूंगा। किं कृत्वा (क्या करके) श्री वर्धमानमाध्याय (अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और समवसरण आदि बाह्यलक्ष्मीसे सहित होरहे इष्टदेव श्रीवर्धमानस्वामी चौवीसवें तीर्थङ्करको मन, वचन, कायसे ध्यान करके) कथम्भूतं श्रीवर्धमानं (कैसे हैं श्री वर्धमान भगवान्) घातिसंघातघातनं (जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिकर्मोंकी सैंतालीस प्रकृतिओं तथा इनकी उत्तरोत्तर अनेक प्रकृतियोंका क्षायिक रत्नत्रयसे समूल-चूल क्षय कर दिया है)। पुनः कथम्भूतं श्रीवर्धमानं (फिर कैसे हैं वर्धमानस्वामी) विद्यास्पदं (मुझ विद्यानन्दी आचार्यके अव-लम्ब हैं। यहां स्वामीजीने गुरुजनोंसे प्रिय शिष्ट सम्बोधनमें एकांश(आधे) बोले गये विद्या शब्दका

अपनेलिये प्रयोग किया है। श्री विद्यानन्द स्वामीको अपने इष्टदेव श्रीवर्धमान स्वामीका ही सहारा है। अथवा इस श्लोक द्वारा द्वितीय अर्थ भी अभिधेय होजाता है— अहं घातिसंघातघातनं आध्याय प्रवक्ष्यामि " मैं घातियोंके समुदायको ध्वंस करनेवाले श्रीअर्हन्तदेवका ध्यान करके श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थको " प्रवक्ष्यामि " आगमगम्य पदार्थोंको हेतुवाद और दृष्टान्तपूर्वक दार्शनिकोंके सन्मुख सिद्ध करूंगा। " कथंभूतं अर्हन्तं " कैसे हैं श्री अर्हन्त देव " श्री वर्धमानं " " अवाप्योरुपसर्गयोः " इस करके अव उपसर्गके अकारका लोप होजाता है। अव समन्तात् ऋद्धं वृद्धिं मानं केवलज्ञानं यस्य, चारों ओरसे अनन्तानन्त पदार्थोंके प्रकाश करनेकी शोभासे देदीप्यमान है केवलज्ञान जिनका " पुनः कथम्भूतं " फिर कैसे श्रीअर्हन्तदेव " विद्यास्पदं " " सम्पूर्णवाङ्मय द्वादशांगवाणीके आस्पद अर्थात् उत्पत्तिस्थान या अधिष्ठान हैं। " पुनः कथम्भूतं श्री अर्हन्तं " फिर कैसे हैं श्री अर्हन्तदेव ", तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं, बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मप्रकृष्टत्वान्यतरावच्छिन्नस्तत्पदवाच्यार्थः " तत् अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओंमें प्रधानशुद्धात्मा " त्व " उसका भाव हुआ, स्वाभाविकपरिणाम " अर्थ " सो है प्रयोजन जिसका ऐसा जो श्लोक अर्थात् तीर्थङ्कर प्रकृतिके उदय कालमें होनेवाले पुण्यगुण ख्यापन रूप यश इसके लिये है, वृत्तिकानां (आचरणानां) समुदायो वार्त्तिकं, चारित्रका समुदाय जिनका। भावार्थ—अर्हन्तदेव यथाख्यात चारित्रकी उत्तरोत्तर शुद्ध परिणतियोंके द्वारा तेरहवें गुणस्थानमें तीर्थङ्करत्वके कर्तव्योंसे उत्तम यशको प्राप्त करते हुए प्रसिद्ध परम शुद्धात्मा पदवीको प्राप्त करेंगे। स्वामीजीको तृतीय अर्थ भी अभिप्रेत है—

" कं आध्याय प्रवक्ष्यामि " मैं कं अर्थात् परमात्मास्वरूप सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान करके " स्पष्टवक्ता न वञ्चकः " की नीतिके अनुसार सिंहवृत्तिसे सर्व सन्मुख (सरे बाजार) प्रतिवादियोंको शास्त्रार्थ करनेका दुंदुभिवादन करता हुआ सप्तभंगीवाणीका निरूपण करूंगा " कथम्भूतं कं " कैसे हैं सिद्धपरमेष्ठी " श्रीवर्धमानं " श्रिया वातीति श्रीवं श्री, व, ऋद्ध, मान अनन्तानन्त संख्यानेन ऋद्धं प्रवृद्धं मानं परिमाणं यस्य—आत्मलब्धिको सुरभित करनेवाला प्रकृष्ट है परिमाण जिनका। भावार्थ—अनेक भव्य जीवोंकी स्वाभाविक परिणतिरूप स्वसम्पत्तिको स्वकीयशुद्धिकी सत्तामात्रसे सुवासित करनेवाले अनंतानंत सिद्ध भगवान् सिद्धक्षेत्रमें शोभायमान हैं। पुनः कथम्भूतं " कं " घातिसंघातघातनम् फिर कैसे हैं सिद्ध भगवान् ?

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं।
हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेइ विग्घन्तु ॥ १ ॥
सुहमं च णाणकम्मं हणेइ आऊ हणेइ अवगहणं ।
अगुरुलहुगं च गोदं अव्वावाहं हणेइ वेयणियं ॥ २ ॥

इन प्रमाण वाक्योंके अनुसार सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंके घात करनेवाले आठ कर्मोंको बतलाया है। अघाति कर्मोंमें भी नञ्का अर्थ ईषत् यानी " थोडा " माना है। अतः घाति संघात-घातनं अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका संक्षय करनेवाले सिद्ध भगवान् हैं। " पुनः कथम्भूतं कं " फिर कैसे हैं सिद्ध परमात्मा " विद्यास्पदं " केवलज्ञान जिनमें प्रतिष्ठित होरहा है अर्थात् केवलज्ञानके सार्वभौम अधिपति हैं या शरीरादिसे रहित होकर शुद्धचैतन्य मात्रमें है सतत अव-स्थान जिनका। " कथं प्रवक्ष्यामि " कैसा है निरूपण करना, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्ति यथा स्यात् तथा। यह क्रियाविशेषण है। तत्त्वार्थश्लोक अर्थात् आप्ततत्त्वके हितकीर्तनमें अवार्त्ति, अव+आर्त्ति अवका अर्थ अवक्षेपण है। यानी दूर करदी हैं संसार संबंधी यातनायें (पीडायें) जिस कथनमें, यहां भी अव उपसर्गके अकारका लोप हो जाता है, यहां अपसमानार्थक अव उपसर्ग है, जैसे कि अवचिनोति अपचिनोति। इस श्लोकका चतुर्थ अर्थ इस प्रकार है:—

(अहं विद्यास्पदं आध्याय प्रवक्ष्यामि) मुझको विद्या यानी आप्ततत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके आधारभूत समंतभद्र स्वामीके वाक्य ही हैं। अतः अन्वर्थनामा मुझ विद्या (विद्यानन्द) के श्रद्धा-स्पद आराध्य गुरु महाराज समंतभद्रस्वामी हैं। अतः मैं अपने गुरु संमतभद्र स्वामीका ध्यान करके (प्रवक्ष्यामि) मानूं स्वर्गस्थित गुरु महाराजके सन्मुख तत्त्वार्थशास्त्रकी परीक्षा देनेकी सदिच्छासे स्वभ्यस्त प्रमेयका भलेप्रकार निरूपण करूंगा। (कथम्भूतं विद्यास्पदं) कैसे हैं समन्तभद्रस्वामी, " श्री वर्धमानं " अर्थात् काञ्ची, वाराणसी आदि नगरियोंमें अनेक विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके विजयलक्ष्मीको प्राप्तकर शिवकोटी राजाके सन्मुख स्वकीय नमस्कार झेलनेके योग्य जगदानंदन चंद्रप्रभ भगवान्की प्रतिमाप्रभावनाका चमत्कार दिखलाकर अखिल भारतवर्षमें जैनधर्मकी ध्वजा फहरानेवाली विजयलक्ष्मीको अहोरात्रि चतुर्गुणित वृद्धिको प्राप्त कर रहा है मान यानी आत्मगौरव जिनका, श्रियं वर्द्धयतीति श्रीवर्द्धः। (पुनः कथम्भूतं समंतभद्रं) फिर कैसे हैं श्री समंतभद्र " घातिसंघातघातनम् " सम्यग्दर्शनकी रोमरोमाग्र रूपसे रक्षा करते हुए शरीर-स्वस्थताके घाती भस्मक आदि अनेक रोग समुदायको जिनवाक्य पीयूषधारासे घात करनेवाले अथवा स्याद्वादसिद्धान्तके प्रचार प्रभावनारूप शुभभावना विचारोंकी वासनासे अग्रिम जन्ममें त्रैलोक्यानंद विधायिनी, तीर्थङ्कर प्रकृतिको बांधकर आगामी उत्सर्पिणी कालमें तीर्थङ्कर होते हुए ज्ञानावरण आदि समुदायको अनंतानंत कालतकके लिये घात करनेवाले। घातिसंघातं घातयिष्यति, (पुनः कथम्भूतं) फिर कैसे हैं श्री समंतभद्र स्वामी (तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिकं) वर्त्तिकानां समूहो वार्त्तिकम्—तत्त्व करके निर्णीत अर्थ समूहको प्रकाशनार्थ या प्रवर्धनार्थ परवादिमदोन्माथिनी वाणी-रूप वर्त्तिकाओंके (दीप कलिकाओंके) समुदाय रूप हैं। " शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम् " करके यहां मध्यमपदलोपी समास है अर्थात् श्रीसंमतभद्र स्वामीकी वाग्धारारूपी प्रदीपकलि-

काओंसे यावत् तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। यहां वर्त्तिकाओंके समुदायसे प्रदीप लक्ष्यार्थ है। स्वामीजीको पञ्चम अर्थ भी अभीष्ट है—

" अहं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमाध्याय प्रवक्ष्यामि " चारविनयोंमें ज्ञानविनय प्रधान है शुद्धांतःकरणसे स्वात्मोपलब्धिके उपयोगी स्वकीय ज्ञानको बढाना और उसकी बहुत मान्यता करना ज्ञान विनय है। अतः अपनी शुद्धात्मामें निरवद्य स्वकीय–ज्ञानकी प्रतिष्ठा करना आवश्यक गुण है। सम्पूर्ण परद्रव्योंसे चित्त–वृत्तिको हटाकर अपनी आत्माके स्वाभाविक गुणोंका ध्यान करना ही सिद्धिका साक्षात् कारण है। अतः श्रीविद्यानंद स्वामी अपनी आत्मामें पूर्ण रूपसे विराजमान ज्ञानस्वरूप श्लोकावार्त्तिक ग्रंथका स्वयं ध्यान करके पर [illegible] रूपसे सावधानपूर्वक ग्रंथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। (कथम्भूतं श्लोकवार्त्तिकं) कैसा है श्लोकवार्त्तिक ग्रंथ, (श्रीवर्धमानं) ऊहापोह-शालिनी, प्रतिवादिमत्तेभसिंहनादिनी, नवनवोन्मेषधारिणी, स्याद्वादसिद्धांतप्रचारिणी, विद्वच्चेत-श्चमत्कारिणी, अध्येतृबोधवैशद्यकारिणी, ऐसी तर्कणा लक्ष्मीसे उत्तरोत्तरवृद्धिको प्राप्त हो रहा है। (पुनः कथम्भूतं श्लोकवार्त्तिकं) फिर कैसा है श्लोकवार्त्तिक ग्रंथ " आध्यायघातिसंघातघातनम् " आङ्, धी, इण् घञ् चारों ओरसे बुद्धिके समागम द्वारा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके सर्वघातिपटलोंका उदयाभावरूपक्षय करदेनेवाला है। यहां आध्याय पदकी आवृत्ति कर दो बार अन्वय किया है अथवा घातिसंघातघातनम् " कुयुक्तियों या अपसिद्धान्तोंके समुदायका विनाश कर देनेवाला है। (पुनः कथम्भूतं श्लोकवार्त्तिकं) फिर कैसा है श्लोकवार्त्तिक ग्रंथ (विद्यास्पदं) प्रतिवादियोंके द्वारा विचारमें लाये गये पूर्वपक्षोंमें न्याय, मीमांसा, वेदांत, बौद्ध, आदिकोंकी तत्त्व-विद्याओंका तथा उत्तरपक्षमें सिद्धांतित आर्हत सिद्धांत और न्यायविद्याका स्थान (घर) है। ऐसे तत्त्वार्थसूत्रके श्लोकका यानी यशःकीर्तनका वार्तिक अर्थात् वार्ताओंका समुदाय यह ग्रंथ अन्वर्थनामा है। वृत्तिरूपेण कृतो ग्रन्थो वार्त्तिकं। तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर श्लोकोंमें रचागया वार्त्तिक है।

श्री विद्यानंद स्वामी मंगलाचरण श्लोकके विषयमें कार्यकारण भावसंगतिको दिखलाते हैं। क्योंकि विना संगतिके बोले हुए वाक्य अप्रमाण होते हैं जैसे कि—

जरद्गवः कम्बलपाणिपादो, द्वारि स्थितो गायति मंगलानि।
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा, राजन् सितायां लशुनस्य कोऽर्थः॥

इसका अर्थः—एक बुड्ढा बैल है। हाथ पैरोंमें कम्बल है। (बैलोंके गलेमें लटकनेवाला चमडा) द्वार पर बैठा हुआ मंगल गा रहा है। उसको पुत्रकी इच्छा रखती हुयी ब्राह्मणी पूंछती है कि हे राजन्! मिश्रीमें लहसुन डालनेका क्या फल है। ऐसे अष्ट सष्ट वाक्योंकी पूर्वापर अर्थोंमें संगति नहीं है। इस कारण अप्रमाण होते हैं। अतः प्रामाणिक पुरुषोंको संगतियुक्त वाक्य ही बोलने चाहिये संगति छह प्रकारकी है—

शास्त्रांग इष्टोदाहो, हेतुताऽवसरस्तथा ।
निर्वाहकैककार्यत्वं पोढा संगतिरिष्यते ॥ २ ॥

यहां हेतुतासङ्गति है, श्लोकवार्त्तिक ग्रंथका और गुरुओंके ध्यानका अव्यभिचारी कार्यकारण भाव सम्बन्ध है । इसी बातको ग्रंथकार आद्य वाक्य द्वारा प्रगट करते हैं—

श्रेयस्तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकप्रवचनात्पूर्वं परापरगुरुप्रवाहस्याऽऽध्यानं तत्सिद्धिनिबन्धनत्वात् ।

इस अनुमानवाक्यमें ' तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकप्रवचनात्पूर्वं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानं ' यह पक्ष है, श्रेयस्त्व साध्य है और ' तत्सिद्धिनिबन्धनत्व ' हेतु है । तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक महाग्रन्थके आदिमें पर गुरु सर्वोत्कृष्ट-तीर्थङ्करोंका और अपर गुरु गणधरसे लेकर आम्नायके अनुसार निरंतर प्रवर्तनेवाली गुरुपरम्पराका पूर्णरूपसे चिन्तन करना अत्यंत श्रेष्ठ है, क्योंकि श्लोकवार्त्तिकग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्तिका कारण गुरुजनोंका चिन्तन ही है ।

न्यायवेत्ता विद्वान् प्रत्यक्षित और आगमसिद्ध पदार्थोंको भी अनुमानसे सिद्ध करनेकी अभिलाषा रखते हैं । अनुमानसे प्रमेयसिद्धिमें दृढता आ जाती है । चमत्कार भी प्रतीत होता है । एक ही अग्निको आगम प्रमाण, अनुमान और प्रत्यक्षसे सिद्ध करनेमें विशिष्ट प्रमिति हो जाती है । ऐसे प्रमाण-संप्लवको जैनाचार्य भी इष्ट करते हैं । एक अर्थमें विशेष–विशेषांशरूपसे जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्तिको प्रमाणसम्प्लव कहते हैं ।

सिद्धांत विषयोंको अनुमान प्रमाणसे सिद्ध करने, करानेमें दूसरा यह भी प्रयोजन है कि लक्ष्यलक्षणभावकी अपेक्षा हेतुहेतुमद्भाव बना देनेमें गुणों और दोषोंका अधिक आदान प्रदान हो जाता है । लक्षणके अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये तीन दोष हैं । लक्षणमें इनके होनेसे दूषण और न होनेसे भूषण है, किन्तु हेतुके दोष उक्त तीन दोषोंसे कहीं अधिक है । अव्याप्ति दोष भागासिद्ध हेत्वाभासमें गर्भित हो जाता है, और अतिव्याप्ति व्यभिचारमें गतार्थ है तथा असम्भव असिद्ध हेत्वाभासमें प्रविष्ट हो जाता है । फिर भी हेतुके कतिपय सत्प्रतिपक्ष, बाध, अकिञ्चित्कर, विरुद्ध आदि दोष लक्ष्यलक्षणभावसे प्राप्त लक्षणाभासमें देनेसे शेष रह जाते हैं । अतः लक्ष्यको साध्य बनाकर और लक्षणको हेतु बनाकर अनुमान द्वारा पदार्थोंकी सिद्धि कर देनेसे वादीको व्याप्ति, दृष्टांत द्वारा सर्व दोषोंको हटाकर स्पष्टरूपसे कथन करनेका अवसर मिल जाता है, और प्रतिवादीको दोषोत्थापन करनेका पूरा क्षेत्र (मैदान) प्राप्त हो जाता है । जैनाचार्योंका यह औदार्य प्रशंसनीय है । " **वादे वादे जायते तत्त्वबोधः** " प्रमाण और तर्कणाओंसे स्वपक्षकी सिद्धि और अन्यपक्षमें दूषण बताते हुए तत्त्व-निर्णय या जीतनेकी इच्छासे भी कदाग्रहरहित वादियोंके परस्परमें प्रवर्ते हुए संवादको वाद कहते हैं । ऐसे वाद संवादके होते रहते वस्तुभूत तत्त्वोंकी झलक हो जाने पर हेय–उपादेय–तत्त्वोंका निर्बाध बोध हो जाता है । यह सिद्धान्त भी दोष और गुण

के विवेचनार्थ पूरा स्थान मिलनेपर ही संघटित होता है। इसलिये कचित् 'शृंगसास्नावान् गौः' ऐसे लक्षणवाक्यको भी हेतुपरक वाक्योंसे लिखते हैं। "अयं गौः शृंगसास्नादिमत्त्वात्" यह गौ है, क्योंकि इसमें सींग और सास्ना (गलेमें लम्बा लटकता हुआ चर्म) है। सींग सास्नावाली गौ होती है। इस लक्षण वाक्यसे सींग और सास्ना होनेके कारण यह गौ है, ऐसा परीक्षकोंका हेतुवादरूप वाक्य बोधकर प्रतीत होता है। अतः उद्भट न्यायशास्त्री श्रीविद्यानन्दस्वामी प्रकृत अर्थको सद्धेतुओंसे सिद्ध करते हैं।

तत्र परमो गुरुस्तीर्थंकरत्वश्रियोपलक्षितो वर्धमानो भगवान् घातिसंघातघातनत्वाद्यस्तु न परमो गुरुः स न घातिसंघातघातनो यथास्मदादिः।

यहां 'तीर्थंकरत्वश्रियोपलक्षितो वर्धमानो भगवान्' पक्ष है। परमगुरुत्व साध्य है। घातिसंघातघातनत्व हेतु है। अस्मदादि व्यतिरेक-दृष्टांत है। उन गुरुओंमें अनन्त, अनुपम प्रभाव और अचिन्त्य विभूतिका कारण तथा तीनों लोकको विजय करनेवाली ऐसी तीर्थंकरत्वलक्ष्मीसे सम्बद्ध होकर शोभायमान हो रहे वर्धमान भगवान् तो उत्कृष्ट गुरु हैं यानी अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले हैं। क्योंकि आत्माके स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्रको विभावित करनेवाले चार घातियाकर्मोंके क्षयकारक होनेसे, (हेतु)। गुरुपनेके लिये उक्त गुणोंका पाया जाना आवश्यक है। जो परमगुरु नहीं हैं, वे घातियाकर्मोंका नाश करनेवाले भी नहीं हैं। जैसे हम आदि अल्पज्ञानी। यहां वर्धमान भगवान्को उपलक्षण करके सर्व ही अर्हंत देवोंको पक्षकोटिमें ले रखा है, अतः ऋषभदेव भगवान् आदिको भी परमगुरुपना साध्य है, वे अन्वय दृष्टांत नहीं हो सकते हैं, और पार्श्वनाथ आदिका दृष्टांत देनेपर प्रतिवादीकी ओरसे आगमाश्रित दोष उठा देनेकी भी सम्भावना है। अतः अन्वय दृष्टांत न देकर व्यतिरेक व्याप्तिको दिखलाते हुए व्यतिरेक दृष्टांत दिया है। विपक्षमें हेतुका न रहना ही व्याप्तिका प्राण है। यह बात भी ध्वनित हो जाती है।

आद्य श्लोकमें यद्यपि हेतुको द्योतन करनेवाले पञ्चमी विभक्त्यन्त–पदका प्रयोग नहीं है। घातिसंघातघातनम् ऐसा मुख्यतः प्रथमान्त किन्तु वर्धमानं का विशेषण होनेसे द्वितीया विभक्त्यन्त वाक्य है। फिर भी "**स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं**" इस वाक्यके सदृश प्रथमान्त भी हेतुवाक्य बना लिये जाते हैं। जैसे "**गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः**" यहां राजमाषा न भक्षणीया गुरुत्वात्, यह हेतुवाक्य है। रमास नहीं खाने चाहिये, क्योंकि प्रकृतिसे भारी होते हैं। वायु दोषको पैदा करते हैं।

अब वर्धमान भगवान्में परमगुरुत्व सिद्ध करनेके लिये दिया गया घातिसंघातघातनत्व हेतु असिद्ध है यानी पक्षमें नहीं रहता है, ऐसी प्रतिवादीकी शंकाको दूर करते हैं:—

घातिसंघातघातनोऽसौ विद्यास्पदत्वात्।

यहां असौ यह पक्ष है, घातिसंघातघातनत्व साध्य है। विद्यास्पदत्व हेतु है। वे श्री वर्धमान तीर्थंकर घातिसमुदायका ध्वंस करनेवाले हैं। क्योंकि पूर्ण सम्यग्ज्ञानके आश्रय हैं। यहांपर इस द्वितीय हेतुमें प्रतिवादी व्यभिचार उठाता है; किसी स्थलमें हेतुके रहते हुए साध्यके न रहनेको व्यभिचार कहते हैं।

विद्यैकदेशास्पदेनास्मदादिनाऽनैकान्तिकः, इति चेन्न।

कतिपय पदार्थविषयक सम्यग्ज्ञानके आश्रय तो सम्यग्दृष्टि हम लोग भी हैं। किन्तु हमारे घातियाकर्मोंका क्षय नहीं हुआ है। अतः व्यभिचार दोष हुआ।

आचार्य कहते हैं कि यह आपका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि:—

सकलविद्यास्पदत्वस्य हेतुत्वाव्यभिचारानुपपत्तेः।

परमगुरुपना सिद्ध करनेवाले हेतुमें विद्याका अर्थ सकलविद्या है। अतः पूर्णज्ञान माने गये केवलज्ञानके आश्रयपनेको हेतु करनेसे व्यभिचार दोष नहीं बन सकता है। हम सदृश सामान्य जीवोंमें पूर्णज्ञान नहीं है।

प्रसिद्धं च सकलविद्यास्पदत्वं भगवतः सर्वज्ञत्वसाधनात्।

भगवान्को त्रिकाल–त्रिलोकसम्बन्धी पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान साधदिया है। इस कारणसे सकल विद्याका आधारपना भी सिद्ध हो चुका।

अतो नान्यः परमगुरुरेकान्ततत्त्वप्रकाशनात्। दृष्टेष्टविरुद्धवचनत्वादविद्यास्पदत्वाद-क्षीणकल्मषसमूहत्वाच्चेति न तस्याऽऽध्यानं युक्तम्।

अतः केवलज्ञानी जिनेन्द्र देवसे अतिरिक्त दूसरा कोई कपिल, सुगत आदि परमगुरु नहीं हैं। क्योंकि दूसरे लोगोंने एकान्ततत्त्वका प्रकाशन किया है और उनके ग्रंथरूपी वचनोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरोध आता है। तथा वे पूर्ण ज्ञान न होनेसे अविद्याके भी स्थान हैं और कर्मसमुदाय भी उनका नष्ट नहीं हुआ है। भावार्थ—वर्धमान स्वामीने अनेकान्त तत्त्वका प्रकाशन किया है। इस हेतुसे उनके वचन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे और पूर्वापरमें विरुद्ध नहीं हैं। अविरुद्ध वचन होनेसे ही वर्धमान स्वामी विद्याके आस्पद जाने जाते हैं। केवल-ज्ञानरूपी विद्याके आश्रय होनेसे ही वे पापके क्षय करनेवाले सिद्ध होते हैं और पापका क्षय करनेके कारण परमगुरुपना वर्धमानस्वामीमें आजाता है। इन चार ज्ञापक हेतुओंसे श्री वर्धमान स्वामीमें तो गुरुत्व सिद्ध होगया, किन्तु कपिल, सुगत आदिकोंमें गुरुपनका निषेध करनेवाला

व्यतिरेक बन गया। अर्थात् कपिल आदिकोंने पाप समुदायका क्षय नहीं किया है। अतः वे अविद्याके स्थान हैं। अविद्याके आश्रय होनेसे कपिल आदिकोंके वचन पूर्वापर तथा प्रत्यक्ष और अनुमानसे विरोधी हो जाते हैं। कपिल आदिकोके वचन पूर्वापर विरोधी हैं। तभी तो उनके द्वारा क्षणिकत्व, नित्यत्व आदि एकान्ततत्त्वोंका प्रकाशन किया गया ज्ञात होता है और एकान्ततत्त्वके प्रकाशक होनेसे वे परमगुरु नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार चार हेतुओंकी मालाके व्यतिरेकदृष्टांत कपिल, सुगत, जैमिनि आदिक हैं। ये परमगुरु नहीं हैं।

एतेनापरगुरुगणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातस्तस्यैकदेशविद्यास्पदत्वेन देशतो घातिसंघातघातनत्वसिद्धेस्सामर्थ्यादपरगुरुत्वोपपत्तेः।

इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा हेतुओंका समर्थन करनेसे गणधरको आदि लेकर श्री उमास्वामी सूत्रकारतकके आचार्यगण अपरगुरु अच्छी तरह व्याख्यापूर्वक सिद्ध हो गये। क्योंकि पूर्वोक्त चारों सद्धेतुओंमें एकदेश लगादेने से अपरगुरुपना साध्यतककी व्याप्ति बन जाती है। अर्थात् श्रीगणधर कुंदकुंद आदिक आचार्योंने अनेक अनेकांततत्त्वोंका प्रकाशन किया है। इससे उनके वाक्य किसी प्रमाणसे विरुद्ध नहीं हैं। ऐसा होनेसे ही वे एकदेश विद्याके आस्पद बन जाते हैं। तथा एकदेश-विद्याके आस्पद होनेसे एकदेश ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मोंके नाश करनेवाले ज्ञात होते हैं और कुछ अंशोंमें घातिया कर्मोंके नाशक होनेसे अपरगुरु माने जाते हैं। यों विशेषणसहित हेतुकी सामर्थ्यसे उन गणधर आदिके अपर गुरुपन सिद्ध होजाता है।

भावार्थः— हेतु दो प्रकारके होते ह। एक कारकहेतु। दूसरे ज्ञापकहेतु। अनुमान प्रकरणके हेतुओंको ज्ञापकहेतु कहा जाता है। जैसे अग्निको सिद्ध करनेमें धूम और मुहूर्तके पहिले भरणिनक्षत्रका उदय सिद्ध करनेमें कृत्तिका-नक्षत्रका उदय। तथा कार्य करनेवाले साधनोंको कारकहेतु कहते हैं। जैसे धूमका कारकहेतु अग्नि है और घटका कुलाल, मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि। कहीं कहीं कारकहेतु साध्य हो जाता है उस कारकहेतुका कार्य ज्ञापक हेतु बन जाता है। 'जैसे पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ कारकहेतु वह्निको साध्य बनाया है और वह्निके कार्य धूमको ज्ञापकहेतु बनाया है। अतः न्यायशास्त्रोंमें ज्ञापक और कारक हेतुके विवेक करनेका सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। प्रकरणमें पूर्वोक्त हेतु ज्ञापकहेतुहैं। यदि कारक हेतु होते तो यह व्यवस्था होती कि वर्धमान स्वामीने परमगुरुपनेसे ही घातिया कर्मोंका नाश किया। घातियाकर्मोंके क्षयके निमित्तसे भगवान्को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञानके कारण ही भगवान्के वचन प्रत्यक्ष और परोक्षसे अविरुद्ध पैदा हुए और उन वचनोंको कारण मानकर अनेकान्ततत्त्वका प्रकाशन हुआ। इस प्रकारका कार्यकारणभाव उलटा करनेसे

यानी कारणोंको साध्य और कार्योंको हेतु बनानेसे अनुमान द्वारा ज्ञाप्यज्ञापक भाव बन जाता है। साध्य और हेतुके समानदेशमें रहने रूप समव्याप्ति होनेपर हेतुको भी साध्य बना सकते हैं। व्यभिचार दोष नहीं होता है। किंतु विषमव्याप्ति होनेपर तो व्यापकको ही साध्य और व्याप्यको ही हेतु बनाना पडेगा। अन्यथा अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जावेगा। यहां प्रश्न है।

नन्वेवं प्रसिद्धोऽपि परापरगुरुप्रवाहः कथं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकप्रवचनस्य सिद्धिनिबन्धनं यतस्तस्य ततः पूर्वमाध्यानं साधीय इति कश्चित्।

आप जैनोंने परमगुरुओंकी और अपर गुरुओंकी आम्नायको सिद्ध किया सो ठीक है। किन्तु वह गुरुओंकी परिपाटी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थकी सिद्धिका कारण कैसे हो सकती है? जिससे कि उन गुरुओंका ग्रन्थके आदिमें ध्यान करना अत्युत्तम माना जावे ऐसा कोई कह रहा है। इस प्रश्नका उत्तर बीचमें नैयायिक यों देते हैं कि --

तदाध्यानाद्धर्मविशेषोत्पत्तेरधर्मध्वंसात्तद्धेतुकविघ्नोपशमनादभिमतशास्त्रपरिसमाप्तितः स तत्सिद्धिनिबन्धनमित्येके।

उन गुरुओंके चोखे ध्यानसे विलक्षण पुण्य पैदा होता है। उस पुण्यसे पापका नाश हो जाता है। अतः पापको कारण मान करके शास्त्रकी पारेसमाप्तिमें आनेवाले विघ्नोंका उपशम हो जानेसे अभीष्ट शास्त्रकी निर्विघ्न समाप्ति हो जाती है। इस परम्परा-कार्यकारणभावसे गुरुओंका त्रियोगपूर्वक ध्यान करना शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। इस प्रकार कोई एक कह रहे हैं।

तान् प्रति समादधते।

ग्रन्थकार कहते हैं कि पुण्यविशेषके साथ शास्त्रपरिसमाप्तिका अन्वयव्यतिरेकरूपसे कार्यकारणभाव व्यभिचरित है। अतः नैयायिकोंका यह उत्तर हमको अनुचित प्रतीत होता है। इस प्रकार नैयायिकोंके उत्तरका प्रत्युत्तर रूपसे समाधान करते हैं कि—

तेषां पात्रदानादिकमपि शास्त्रारम्भात् प्रथममाचरणीयं परापरगुरुप्रवाहाध्यानवत्तस्यापि धर्मविशेषोत्पत्तिहेतुत्वाविशेषाद्यथोक्तक्रमेण शास्त्रसिद्धिनिबन्धनत्वोपपत्तेः।

उन नैयायिकोंको शास्त्रके आरम्भसे पहिले पात्रोंको दान देना, इष्टदेवकी पूजा, सत्य बोलना, ईर्यासमिति, चारित्र पालना आदि पुण्यकर्म करना भी इष्ट करना चाहिये। क्योंकि पर अपर गुरुओंके प्रवाहके ध्यानसमान उन पात्रदान आदिको भी पुण्यविशेष की उत्पत्ति करनेमें समान रूपसे कारणता है। ध्यान ही में कोई विशेषता नहीं है, तब तो पात्रदान आदि द्वारा उनके कहे हुए क्रमके अनुसार अधर्मका नाश और पापहेतुक विघ्नोंका विलय हो जानेसे शास्त्रकी सिद्धिरूपी कार्य होना बन जावेगा। भावार्थ— नैयायिकोंके मतानुसार नियमसे गुरुओंके ध्यानको

ही शास्त्रकी कारणता नहीं आ सकेगी। इष्टदेव पूजा आदि भी कारण हो सकते हैं। अब पूर्वोक्त शङ्काका अन्यवादी इस प्रकार निराकरण करते हैं कि—

परममङ्गलत्वादाप्तानुध्यानं शास्त्रसिद्धिनिबन्धनमित्यन्ये।

सर्वोत्कृष्ट मंगलकार्य होनेसे यथार्थवक्ता गुरुओंका ध्यान करना शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। अतः ग्रन्थकर्त्ताको उन गुरुओंका ध्यान करना आवश्यक है। ऐसा अन्य कह रहे हैं।

तदपि तादृगेव। सत्पात्रदानादेरपि मंगलतोपपत्तेः न हि जिनेन्द्रगुणस्तोत्रमेव मंगलमिति नियमोऽस्ति स्वाध्यायादेर्मङ्गलत्वाभावप्रसंगात्।

इस पर आचार्य कहते हैं कि नैयायिकोंके सदृश अन्य प्रतिवादियोंका वह कार्यकारणभाव भी अन्वयव्यतिरेक न घटनेसे वैसा ही व्यभिचारी है।

क्योंकि श्रेष्ठ पात्रोंके लिये दान देना आदिको भी तो मंगलपना सिद्ध है। केवल जिनेंद्रके गुणोंका स्तवन करना ही मंगल है, ऐसा कोई एकांतरूपसे नियम नहीं है। यदि नियम मानोगे तो स्वाध्याय कायोत्सर्ग, आदिको मंगलपनेके अभावका प्रसंग होगा, जो कि हम और तुम दोनोंको इष्ट नहीं है। यहां पूर्वोक्त शंकाका समाधान अपरजन तीसरे प्रकारसे करते हैं, उसको सुनिये।

परमाप्तानुध्यानाद्ग्रन्थकारस्य नास्तिकतापरिहारसिद्धिस्तद्वचनस्यास्तिकैरादरणीयत्वेन सर्वत्र ख्यात्युपपत्तेस्तदाध्यानं तत्सिद्धिनिबन्धनमित्यपरे।

उत्कृष्ट यथार्थ वक्ता गुरुओंका शिष्टसंम्प्रदायके अनुसार भले प्रकार ध्यान करनेसे ग्रंथको बनानेवाले विद्वान्के नास्तिकतादोषका निराकरण होजाता है। अतः स्वर्ग, नरक, मोक्ष, पुण्य पाप, प्रेत्यभाव केवलज्ञानी, सिद्ध, आचार्योंकी आम्नाय, आत्मा और उसके अतीन्द्रियगुण आदि तत्त्वोंको ग्रंथकार मानते हैं। ऐसा जानकर पूर्वोक्त तत्त्वोंके माननेवाले करोडों आस्तिक लोगोंद्वारा उन ग्रंथकारके वचनोंका आदर हो जानेसे सभी स्थानोंपर उनकी ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा होना बन जावेगा। यों उन गुरुओंका ध्यान ग्रंथके सिद्धि (प्रसिद्धि) में कारण है।

भावार्थ—ग्रन्थ अपने लिये तो लिखा नहीं जाता है। दूसरे लोग ही लाभ उठावें और प्रगाढविद्वत्तासे लिखा हुआ ग्रन्थ समाजमें प्रतिष्ठित बनें इस बुद्धिसे प्रेरित होकर ग्रन्थ लिखनेका यत्न किया जाता है। यदि लाखों आस्तिक लोग ग्रन्थकी प्रतिष्ठा न करेंगे तो कोई उस ग्रन्थसे लाभ भी न उठा सकेगा। तथा च ग्रन्थ लिखना व्यर्थ पडेगा। अतः उक्त कारणमालासे गुरुका ध्यान करना ग्रन्थकी निष्पत्तिका कारण है। इस प्रकार तीसरे सज्जनोंका समाधान है।

तदप्यसारम्।

आचार्य कहते हैं कि ग्रन्थकारके नास्तिकता दोषके दूर करनेका और प्रशंसा प्राप्त करनेका वह उपाय भी प्रशस्त नहीं है। अतः वह तीसरोंका उत्तर भी निस्सार है। जब कि—

श्रेयोमार्गसमर्थनादेव वक्तुर्नास्तिकतापरिहारघटनात् तदभावे सत्यपि शास्त्रारम्भे परमात्मानुध्यानवचने तदनुपपत्ते।

वक्ता ग्रन्थकारने आदि सूत्रमें ही कहे गये मोक्षमार्गका वार्त्तिक और भाष्य द्वारा समर्थन किया है। इसीसे उनका नास्तिकपन दोष दूर हुआ घटित हो जाता है। उस यदि मोक्षमार्गका व्याप्ति द्वारा, हेतु दृष्टान्तोंसे समर्थन न करते और शास्त्रके आदिमें परमात्माके बढिया ध्यान करनेका वचन कह भी देते तो भी वह नास्तिकताका परिहार नहीं हो सकता था। क्योंकि कई मनुष्य "**विषकुम्भं पयोमुखं**" के न्यायानुसार लोक रिझानेके लिये कतिपय दिखाऊ काम कर देते हैं। पश्चात् उनकी कलई खुल जाती है। अब चौथे कोई महाशय उक्त शंकाका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि—

"शिष्टाचारपरिपालनसाधनत्वात्तदनुध्यानवचनं तत्सिद्धिनिबन्धनमिति केचित्"।

"गुरुजनमनुसरन्ति शिष्याः" इस न्यायसे गुरुपरिपाटीके अनुसार अनिन्दित चरित्रवाले शिष्ट—सज्जनोंको अपने गुरुओंका पुनः पुनः ध्यान करना और उसका ग्रन्थकी आदिमें उल्लेख कर कथन करना अपने कर्त्तव्यका परिपालन है। इस कारण गुरुओंका ध्यान उस शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। गुरुओंका पीछे ध्यान करनेसे ही शिष्टके आचारका परिपालन हो सकता है। ऐसा कोई कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि—

तदपि तादृशमेव। स्वाध्यायादेरेव सकलशिष्टाचारपरिपालनसाधनत्वनिर्णयात्।

वह कहना भी तैसा ही है अर्थात् यह भी कार्यकारणभाव पूर्वोक्तवादियोंके समान अन्वय-व्यतिरेकको लिये हुए नहीं है। क्योंकि स्वाध्याय, देवपूजा, सामायिक आदि ही सम्पूर्ण सुशिक्षा प्राप्त सज्जनोंके आचारका पूर्ण रीतिसे पालन करानेवाले साधन निर्णीत किये गये हैं। केवल गुरुओंके ध्यानसे तो शिष्टाचार प्रगट नहीं होता है। क्योंकि अनेक चोर, मायाचारी (दगाबाज), वेश्या, शिकारी लोग भी सम्मानार्थ अपने गुरुओं (उस्तादों) का ध्यान किया करते हैं।

अब पूर्वोक्त शंकाके चारों उत्तरों में अस्वरस (असंतोष) बतलाकर स्वामीजी महाराज स्वयं उक्त शंकाका सिद्धान्तरूपसे समाधान करते हैं।

ततः शास्त्रस्योत्पत्तिहेतुत्वात्तदर्थनिर्णयसाधनत्वाच्च परापरगुरुप्रवाहस्तत्सिद्धिनिबन्धनमिति धीमद्वृतिकरम्.

"शास्त्रसिद्धिनिबन्धनम्" यहाँ सिद्धिका अर्थ शास्त्रकी उत्पत्ति और ग्रन्थकारके शास्त्र रूपी वचनोंकी कारण हो रही उन प्रतिपादक ग्रन्थकारकी प्रतिपाद्य पदार्थोंके निर्णय करानेवाली ज्ञप्ति है। इन दोनों कार्योंका नियमरूपसे कारण परगुरुओं और अपरगुरुओंका प्रवाह ही है। उक्त शंकाका यही साक्षात् कार्यकारण भावरूपसे समाधान बुद्धिमानोंको सन्तोषपूर्वक धैर्य उत्पन्न करनेवाला है। भावार्थ— गुरुओंके ध्यानसे ही यह शास्त्र बना है और इसमें लिखे हुए प्रमेयका निर्णय भी हमें गुरुओंके प्रसादसे ही प्राप्त हुआ है। स्वामीजीका यह उत्तर गुरुपरिपाटीसे आम्नायके ज्ञातापनेको सिद्ध करता है। और यह ग्रन्थ स्वरुचिसे विरचित है, इस दोषका भी परिहार हो जाता है।

अब ग्रंथकारके समाधानपर किसीकी शंका है;—

सम्यग्बोध एव वक्तुः शास्त्रोत्पत्तिज्ञप्तिनिमित्तम्।

"प्रतिभाकारणं तस्य" इस नियमसे शास्त्रकी उत्पत्ति और शास्त्र है वाचक जिसका ऐसे प्रतिपादकके अर्थनिर्णयका कारण तो ग्रन्थकारका अच्छा प्रबोध (व्युत्पन्नता) ही है। गुरुओंका ध्यान इन दोनोंमे कारण नहीं है।

इति चेन्न। तस्य गुरूपदेशायत्तत्वात्।

आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक ग्रन्थसंस्कारोंसे भावना किया गया व्युत्पत्तिलाभ तो गुरुओंके उपदेशके ही अधीन है। अतः गुरुओंका ध्यान ही निदान हुआ।

पुनः शंकाकार अपनी शंकाको दृढ करता है:—

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाद्गुरूपदेशस्यापायेऽपि श्रुतज्ञानस्योत्पत्तेर्न तत्तदायत्तम्।

गुरुओंके उपदेशके न होनेपर भी श्रुतज्ञानके आवरण हो रहे कर्मोंका क्षयोपशम हो जानेसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रकी उत्पत्ति और उसका ज्ञान गुरूपदेशके अधीन नहीं हैं। क्योंकि व्यतिरेक व्यभिचार दोष है।

इति चेन्न। द्रव्यभावश्रुतस्याप्तोपदेशविरहे कस्यचिदभावात्।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो नहीं हो सकता है।

क्योंकि यथार्थ वक्ताके उपदेशके विना शब्दरूपी द्रव्यशास्त्र और ज्ञानरूपी भावशास्त्र किसीको भी प्राप्त नहीं होते हैं। "गुरुविन ज्ञान नहीं" ऐसी लोकप्रसिद्धि भी है।

द्रव्यश्रुतं हि द्वादशाङ्गं वचनात्मकमाप्तोपदेशरूपमेव तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदर्हत्सर्वज्ञवचनातिशयप्रसादात्स्वमतिश्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशयाच्चोत्पद्यमानं कथमाप्तायत्तं न भवेत्।

आचार्यश्री आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचाराङ्ग आदि बारह अंग पौद्गलिकशब्दस्वरूप द्रव्यश्रुत है। वह तो परमगुरुका उपदेश स्वरूप है ही और उस द्वादशांगका जो अर्थज्ञान है, वह भावश्रुतज्ञान है। ये दोनों भी शास्त्र और शास्त्रज्ञान गणधरदेवोंको भगवान् अर्हत्परमेष्ठी सर्वज्ञके सर्वजीवोंको समझानेकी शक्ति रखनेवाले अतिशय वचनोंके प्रसादसे तथा अपने अपने मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंके विशिष्ट अतिशयशाली क्षयोपशमसे पैदा हो जाते हैं, तो शास्त्र और शास्त्रका ज्ञान गुरुओंके उपदेशके अधीन क्यों नहीं होगा ? अर्थात् होगा ही।

यच्चक्षुरादिमतिपूर्वकं श्रुतं तच्चेह प्रस्तुतं, श्रोत्रमतिपूर्वकस्य भावश्रुतस्य प्रस्तुतत्वात्तस्य चाप्तोपदेशायत्तताप्रतिष्ठानात्परापराप्तप्रवाहनिबन्धन एव परापरशास्त्रप्रवाहस्तन्निबन्धनश्च सम्यगवबोधः स्वयमभिमतशास्त्रकरणलक्षणफलसिद्धेरभ्युपाय इति तत्कामैराप्तस्सकलोप्याध्यातव्य एव।

सम्भवतः यों कोई दृष्टिकोण रखें कि आंखोंसे घट, पटको देखकर उनके बनानेवाले आदि का और जिव्हासे रसको चखकर नीबू, अंगूर आदिका भी अर्थसे अर्थान्तर का ज्ञान होना रूप श्रुतज्ञान हो जाता है तथा आहार, भय, आदि संज्ञाओंका विना सिखाये संचेतन हो जाता है। अतः गुरुके बिना भी तो श्रुतज्ञान हो गया। आचार्य कहते हैं कि– ऐसी आशंका न करना, क्योंकि यहां प्रकरणमें चाक्षुष, रासन आदि मतिज्ञानोंसे होनेवाले श्रुतज्ञानका कार्यकारण भाव विचारणीय नहीं है, किन्तु श्रवणेंद्रियजन्य मतिज्ञानके पश्चात् होनेवाले वाच्यज्ञान रूप भाव श्रुतज्ञानका कारण प्रस्तावमें विचार प्राप्त है। ग्रन्थ लिखनेमें वही श्रुतज्ञान उपयोगी हो सकता है। और वह श्रुतज्ञान आप्तके उपदेशके ही अधीन प्रतिष्ठित है। इस कारणसे सत्यवक्ता परगुरु और अपर गुरुओंके प्रवाहको कारण मानकर ही धारारूपसे उन व्यक्तियोंके द्वारा पर–अपर शास्त्रोंका प्रवाह चला आ रहा है। और तिस कारण शास्त्रोंकी चली आयी हुयी परिपाटीसे हम लोगोंको अच्छी व्युत्पत्ति प्राप्त है तथा वह व्युत्पत्ति अपने अभीष्ट शास्त्रोंको बनाने स्वरूप फलकी सिद्धिका बढिया उपाय है। इस कारण उस शास्त्र बनानेकी इच्छा रखनेवाले विद्वानोंको सर्वज्ञ देवसे लेकर अबतकके चले आये हुए यथार्थ वक्ता सभी श्री गुरुओंका ध्यान करना ही चाहिये।

तदुक्तम्। उसीको अन्यत्र भी कहा है कि—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,। प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।

प्रत्येक अभीष्टफल की सिद्धिका अच्छा उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सच्चा ज्ञान तो शास्त्रसे पैदा होता है और उस शास्त्रकी उत्पत्ति जिनेंद्र देव तथा गणधर देव आदि यथार्थ वक्ता गुरुओंसे है।

इससे सिद्ध होता है कि गुरुओंकी प्रसन्नतासे व्युत्पत्तिलाभ करनेवाले विद्वानोंको वे गुरु ही पूज्य हैं क्योंकि दूसरोंसे किये हुए उपकारको साधु सज्जन भूलते नहीं हैं। फिर यहां शंका उत्पन्न होती है।

ननु यथा गुरूपदेशः शास्त्रसिद्धेर्निबन्धनं तथाप्तानुध्यानकृतनास्तिकतापरिहार-शिष्टाचारपरिपालनमंगलधर्मविशेषाश्च तत्सहकारित्वाविशेषादिति चेत्।

कि जिस तरहसे गुरुओंका उपदेश शास्त्रकी सिद्धिका कारण है, उसी प्रकार आप्तके ध्यानसे किये गये नास्तिकतादोषका निराकारण, शिष्टोंके आचाररूप गुणका पालन, सुख करनेवाला मंगल और प्रतिभाका उपयोगी पुण्यविशेष भी तो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके बनानेमें कारण हो सकते हैं। क्योंकि जैसा सहकारी कारण गुरुका उपदेश है, वैसेही उक्त चारों भी सहकारी कारण हैं। उपादान कारणको सहायता पहुंचाकर या साथ कार्य करनेरूप सहकारीपनकी अपेक्षासे इन पांचोंमें कोई अंतर नहीं हैं। यदि ऐसा कहोगे तो—

सत्यम्। केवलमाप्तानुध्यानकृता एव ते तस्य सहकारिण इति नियमो निषिध्यते, साधनान्तरकृतानामपि तेषां तत्सहकारितोपपत्तेः कदाचित्तदभावेऽपि पूर्वोपात्तधर्मविशेषेभ्यस्तन्निष्पत्तेश्च, परापरगुरूपदेशस्तु नैवमनियतः, शास्त्रकरणे तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वादन्यथा तदघटनात्।

आचार्य कहते हैं कि ठीक है। आधा अंगीकार करना, या जबतक मैं उत्तर नहीं देता हूं, तबतक ठीक है, यह "सत्यं" अव्ययका अर्थ लिया गया है।

सुनिये! गुरूपदेशके समान नास्तिकता परिहार आदि भी उस शास्त्रके सहकारी अवश्य हैं। किंतु वे चारों सहकारी कारण आप्तके ध्यानसे ही किये जाते हैं। जैसाकि पहिले तुमने कहा था इस नियमका निषेध है। आप्त के ध्यान और नास्तिकतापरिहार आदिके कार्यकारण भावमें अन्वयव्यतिरेक नहीं घटते हैं। देवपूजन, स्वाध्याय, तपस्या आदि अन्य कारणोंसे भी उत्पन्न होकर वे चारों उस ग्रंथके सहायक बन सकते हैं और कभी कभी उस आप्तके ध्यान विना भी पूर्वजन्म में उपार्जित विलक्षण पुण्योंसे भी वे चारों गुण पैदा हो जाते हैं। किंतु पर–अपर गुरुओंका उपदेश तो ऐसा नियमके विना नहीं है। अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकार अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोषवाला नहीं है। तभी तो शास्त्रके बनानेमें उस गुरुओंके उपदेशकी अवश्य अपेक्षा है। उसके विना दूसरे प्रकारसे वे शास्त्र बन नहीं सकते हैं।

ततः सूक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकप्रवचनात्पूर्वं श्रेयस्तत्सिद्धिनिबन्धत्वादिति प्रधानप्रयोजनापेक्षया नान्यथा, मंगलकरणादेरप्यनिवारणात्। पात्रदानादिवत्।

आर्यिकाश्री सुविधिसागर जी महाराज

तिस कारण हमने पहिले बहुत अच्छा कहा कि तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिकशास्त्रके आदिमें प्रथम पर–अपर गुरुओंके प्रवाहका ध्यान करना ही कल्याणकारी है। क्योंकि वही उस शास्त्रकी सिद्धिका कारण है। इस प्रकार प्रधान प्रयोजनकी अपेक्षासे गुरुओंके ध्यानको ग्रंथ बनानेमें कारण माना है दूसरे प्रकार गौणफलकी अपेक्षासे नहीं। यदि ग्रन्थ बनानेमें प्रधानकारणके अतिरिक्त सामान्य कारणोंका विचार किया जावे तो पात्रदान, जिनपूजन आदिके समान मंगल करना, कायोत्सर्ग करना आदिका भी निराकरण हम नहीं करते हैं। निष्कर्षार्थ यह निकला कि गुरुओंका ध्यान ग्रंथ करनेमें आवश्यक कारण है और पात्रदान आदि अनियमरूपसे कारण हैं। फिर यहां दूसरी शंका उपस्थित होती है कि:–

कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं तस्य श्लोकवार्त्तिकं वा, तद्व्याख्यानं वा येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत्। तल्लक्षणयोगित्वात्।

तत्त्वार्थसूत्रको और उसके ऊपर अनुष्टुभ् छन्दों में बनायी गयीं स्वामीजीकी वार्त्तिकोंको तथा उनका भी विवरण भाष्यरूप व्याख्यानको शास्त्रपना कैसे है? जिससे कि उसके प्रारम्भमें परमेष्ठिओंका त्रियोगसे ध्यान किया जारहा है अर्थात् यदि इन तीनों को शास्त्रपना सिद्ध हो जावे, तब तो उन ग्रन्थोंके आदिमें परमेष्ठियोंका ध्यान किया जावे। जबतक इनमें शास्त्रपना ही सिद्ध नहीं है, फिर व्यर्थ ही शास्त्रोंके कारण मिलानेकी क्या आवश्यकता है! (उत्तर) यदि ऐसा कहोगे तो हम कहते हैं कि– उस शास्त्रका लक्षण सूत्र, व्याख्यान और भाष्यमें घटित होजाता है। अतः उक्त तीनों भी शास्त्रके लक्षणको धारनेसे शास्त्र हैं।

वर्णात्मकं हि पदं, पदसमुदायविशेषः सूत्रं, सूत्रसमूहः प्रकरणं, प्रकरणसमितिराह्निकं, आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्। तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः।

वर्णोंकी सुबन्त, तिङन्तस्वरूप एकताको पद कहते हैं। परस्परमें आकांक्षा रखते हुए गंभीरार्थ प्रतिपादक पदोंके निरपेक्ष समुदायको सूत्र कहते हैं। एक विषयको निरूपण करनेवाले कतिपय सूत्रोंके समूहको प्रकरण कहते हैं। कतिपय विषयोंके निरूपण करनेवाले प्रकरणोंके समुदायको आह्निक कहते हैं। यहां "अह्निभवं आह्निकं" एक दिनमें होनेवाला कार्य आह्निक है। ऐसा यौगिक अर्थ अभीष्ट नहीं है। किंतु पूर्वोक्त पारिभाषिकअर्थ ही उपादेय है। यौगिकसे रूढि अर्थ बलवान् होता है। अनेक प्रकरणोंके कथन करनेवाले आह्निकोंके सम्मेलनको अध्याय कहते हैं। और अध्यायोंका समुदाय शास्त्र कहलाता है। इस प्रकार शास्त्रका लक्षण है। वह लक्षण दशअध्यायोंके समाहाररूप तत्त्वार्थग्रन्थमें घट जाता है। इस लक्षणसे तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र सिद्ध हुआ।

शास्त्राभासत्वशंकाप्यत्र न कार्याऽन्वर्थसंज्ञाकरणात् । तत्त्वार्थविषयत्वाद्धि तत्त्वार्थो ग्रन्थः प्रसिद्धो न च शास्त्राभासस्य तत्त्वार्थविषयताविरोधात् । सर्वथैकान्तसम्भवात् ।

शास्त्र न होकर शास्त्रसरीखे दीखनेवाले झूंठे किस्से, कहानी या हिंसा, मिथ्यात्वपोषक आदिकी पुस्तकोंको शास्त्राभास कहते हैं । यों इस ग्रंथमें शास्त्राभासपनेकी शंका भी न करना । क्योंकि इस ग्रंथकी संज्ञा " जैसा नाम वैसे अर्थ " को लिये हुए है । तत्त्वकरके निर्णीत किये गये जीव आदि अर्थोंको विषय करनेवाला होनेसे निश्चय कर यह ग्रंथ तत्त्वार्थके नामसे प्रसिद्ध है । हाँ, जो कपिल, सुगत, आदिकोंके सांख्यदर्शन, न्यायबिन्दु आदि शास्त्राभास हैं, उनमें तत्त्वार्थका प्रतिपादन नहीं है । क्योंकि सर्वथा एकांतका सम्भव होनेसे परमार्थ तत्त्वार्थकी विषयता न होनेके कारण उनको शास्त्रपनेका विरोध है ।

प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्त्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात् । वार्त्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धं, तत्कथमन्यार्थं भवेत् ।

जब कि उक्त प्रकार तत्त्वार्थसूत्रको शास्त्रपना अच्छी तरह सिद्ध हो चुका है, पुनः उसकी टीकारूप वार्त्तिकोंको शास्त्रपना सिद्ध हो ही गया । क्योंकि वे सूत्रोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये बनायी गयी हैं । सूत्रोंके नहीं अवतार होने देनेकी तथा सूत्रोंके अर्थको न सिद्ध होने देनेकी ऊहापोह तर्कणा करना और उसका परिहार करना तथा ग्रंथकारके हृदयगत अर्थसे भी अधिक अर्थको प्रतिपादन करना, ऐसे वाक्यको वार्त्तिक कहते हैं । यह वार्त्तिकका प्रसिद्ध लक्षण सर्ववादियोंको मान्य है । यों भला वह वार्त्तिक सूत्रके सिवाय अन्य पदार्थको कहनेके लिये कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं ।

तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम् ।

तिस कारण इस उपर्युक्त कथन करनेसे वार्त्तिकोंके व्याख्यानरूप ग्रंथके भाष्यको भी शास्त्रपनेका निवेदन कर दिया गया है । यहां शंका है कि—

ततोऽन्यत्र कुतः शास्त्रव्यवहार इति चेत् । तदेकदेशे शास्त्रत्वोपचारात् ।

उन सूत्र, वार्त्तिक और व्याख्यानके सिवाय अनेक ग्रंथ हैं । उनमें शास्त्रपनेका व्यवहार कैसे होगा ? यों कहनेपर तो इसका उत्तर यह है कि—वर्तमानमें उपलब्ध जितने प्रामाणिक शास्त्र हैं, वे सब तत्त्वार्थशास्त्रके या उसके अर्थ ग्रंथके एकदेश हैं । अतः उनमें भी शास्त्रपनेका व्यवहार है । अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं हैं ।

यत्पुनर्द्वादशाङ्गं श्रुतं तदेवंविधानेकशास्त्रसमूहरूपत्वान्महाशास्त्रमनेकस्कन्धाधारसमूहमहास्कन्धाधारवत् ।

हाँ, फिर जो आचाराङ्ग आदि बारह श्रुतज्ञानके प्रतिपादक शास्त्र हैं, वे ऐसे तत्त्वार्थ-सूत्र सरीखे अनेक शास्त्रोंके समुदायरूप होनेसे महाशास्त्र हैं। जैसे अनेक छोटे छोटे स्कन्ध वाले समूहोंका आधार एक महास्कन्ध होता है। एक अक्षौहिणीमें घोडे, हाथी, आदिके अनेक समूह हैं। एक बनमें अनेक जातिके वृक्षोंका समुदाय है। बहुतसे पुद्गलपिण्डोंका मिलकर एक महापिण्ड बन जाता है।

येषां तु शिष्यन्ते शिष्याः येन तच्छास्त्रमिति शास्त्रलक्षणं, तेषामेकमपि वाक्यं शास्त्रव्यवहारभाग्भवेदन्यथाऽभिप्रेतमपि माभूदिति यथोक्तलक्षणमेव शास्त्रमेतदवबोद्धव्यम्।

जिनके मतमें शास्त्र शब्दकी निरुक्ति करके ' शिष्यजन जिसके द्वारा सिखाये जावें " ऐसा शास्त्र शब्दका अर्थ निकाला जाता है, उनके अनुसार तो एक भी " उपयोगो लक्षणम् " ऐसा वाक्य शास्त्रव्यवहारको धारण करनेवाला हो जावेगा, क्योंकि एक वाक्यसे भी तो शिष्योंको शिक्षा मिलती है। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकार कहोगे तो विवक्षित ग्रंथ भी शास्त्र न होओ, इसलिये शास्त्र शब्दका यौगिक अर्थ अच्छा नहीं, किंतु जैसा पूर्वमें कहा गया है, अध्यायोंका समुदाय, यही शास्त्रका लक्षण अच्छा समझना चाहिये।

ततस्तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम्।

तिस कारणसे उस शास्त्रके आरम्भमें परापर गुरुप्रवाहका प्रकृष्ट ध्यान करना युक्त ही है।

अबतक विद्यास्पद विशेषणरूप साध्यका कारकहेतु मानकर घातिसमुदाय घातनको सिद्ध करते हुए वर्धमान स्वामी में परमगुरुपना सिद्ध किया था। किंतु इस समय विद्यास्पदको श्लोकवार्त्तिक ग्रंथका विशेषण करते हुए दूसरा प्रयोजन बतलाते हैं।

अथवा। यद्यपूर्वार्थमिदं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं न तदा वक्तव्यम्, सतामनादेयत्वप्रसंगात्, स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात्। पूर्वप्रसिद्धार्थं तु सुतरामेतन्न वाच्यम्। पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यात्।

यहां तर्क है कि यदि यह तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक ग्रंथ नवीन अपूर्व अर्थको विषय करनेवाला है, तब तो विद्यानन्द स्वामीको यह ग्रन्थ नहीं कहना चाहिये। क्योंकि प्राचीन आम्नायके अनुसार न कहा हुआ होनेसे सज्जन लोगोंको उपादेय नहीं हो सकेगा। चाहे किसी भी मनुष्यके द्वारा केवल अपनी रुचिसे रचे हुए नवीन कार्यका हिताहित विचार करनेवाले पुरुष आदर नहीं करते हैं। और यदि यह ग्रन्थ पूर्वके प्रसिद्ध अर्थोंको ही विषय करता है, तब तो सरलतासे प्राप्त हुआ कि सर्वथा ही यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जाने हुए पदार्थोंको पुनः पुनः जानना पिसे हुए को पीसनेके समान व्यर्थ है।

इति ब्रुवाणं प्रत्येतदुच्यते ।

ऐसी तर्कणाको बोलनेवाले प्रतिवादीके प्रति यह कहा जाता है ।

विद्यास्पदं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं प्रवक्ष्यामीति, विद्या पूर्वाचार्याशास्त्राणि सम्यग्ज्ञानलक्षणविद्यापूर्वकत्वात्ता एवास्पदमस्येति विद्यास्पदम् । न पूर्वशास्त्रानाश्रयं, यतः स्वरुचिविरचितत्वादनादेयं प्रेक्षावतां भवेदिति यावत् ।

जिस श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थको मैं कहूंगा, वह विद्यास्पद है । गुरुपरिपाटीसे चले आये हुए पूर्व आचार्योंके शास्त्र ही विद्या कहलाते हैं । क्योंकि सम्यग्ज्ञानरूपी पूर्ववर्तिनी विद्यासे वे पैदा हुए हैं । यहां कारणधर्मका कार्यमें उपचार है । वे विद्यास्वरूप शास्त्र ही इस श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थके आधार हैं । अतः पूर्व शास्त्रोंको नहीं अवलम्ब करके यह ग्रन्थ अवतीर्ण नहीं हुआ है, जिससे कि योंही अपनी रुचिसे बनाये जानेके कारण विचारशीलोंके पठन पाठन करने में ग्रहण योग्य न होता। इस ग्रन्थका प्रमेय नया नहीं है, केवल शब्द और युक्तियोंकी योजना हमारी सम्पत्ति है, यह फलितार्थ हुआ ।

पिष्टपेषणवद्व्यर्थं स्यात्, इत्यप्यचोद्यम् ।

कोई आक्षेप कर रहा है कि यदि पूर्वाचार्योंसे कहे हुए प्रमेयका ही इस ग्रन्थ में प्रतिपादन है, तो फिर भी पिसे हुए को पीसनेके समान व्यर्थ पडा । निष्फल ग्रन्थ तो नहीं बनाना चाहिये ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह पूर्व में किया गया दूसरा कटाक्ष भी अनुचित है ।

आध्यायघातिसंघातघातनमिति विशेषणेन साफल्यप्रतिपादनात् । धियः समागमो हि ध्यायः, आसमन्ताद्ध्यायोऽस्मादित्याध्यायं तच्च तद्घातिसंघातघातनं चेत्याध्यायघातिसंघातघातनम्, यस्माच्च प्रेक्षावतां समन्ततः प्रज्ञासमागमो यच्च मुमुक्षून् स्वयं घातिसंघातं घ्नतः प्रयोजयति तन्निमित्तकारणत्वात् । तत्कथमफलमावेदयितुं शक्यं, प्रज्ञातिशयसकलकल्मषक्षयकरणलक्षणेन फलेन फलवत्त्वात् ।

क्योंकि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक का दूसरा विशेषण " आध्यायघातिसंघातघातनम् " है, इससे ग्रन्थकी सफलता बतलायी जाती है । पहिले आध्याय शब्द " क्त्वा " प्रत्ययान्त अव्यय था. क्त्वा को ल्यप् हो जाता है. अब इण् धातुसे घञ् प्रत्यय करके आय कृदन्त शब्द बनाया है. इस के पूर्व में धी उपपद और आङ् उपसर्ग लगा दिया है. इस कारण ध्याय का अर्थ है बुद्धि का आगमन अर्थात् चारों तरफसे बुद्धिका आगमन हो जिसमे उसको आध्याय कहते हैं. बुद्धिके समागम का कारण होकर और जो वह घातियोंके समुदायका नाश करने वाला होवे । वैसा यह ग्रन्थ

आध्यायघातिसंघातघातन है। क्योंकि जिस कारण इस ग्रन्थ से विचारवान् पुरुषोंको सर्व बाजुओं से विशिष्ट ज्ञानका समागम होता है और यह जो स्वतन्त्र कर्तारूप से घातिसमुदायको नाश करते हुए मुक्ति के अभिलाषी जीवोंको उसका प्रयोजक निमित्तकारण होनेसे यह ग्रन्थ घातिकर्मों के नाश करनेमें प्रेरक भी है तो भला इस ग्रन्थ को फिर कैसे निष्फल कहा जा सकता है ? भावार्थ– नहीं, इस ग्रन्थका साक्षात् फल चमत्कारक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है और परम्परासे सम्पूर्ण पापोंका क्षय करना फल है। इन दो स्वरूप फलों करके यह ग्रन्थ फलवान् है।

कुतस्तदाध्यायघातिसंघातघातनं सिद्धम् ? विद्यास्पदत्वात्। यत्पुनर्न तथाविधं न तद्विद्यास्पदं यथा पापानुष्ठानमिति समर्थयिष्यते.

यदि यहां पर कोई प्रश्न करे कि उक्त दोनों फल यानी ज्ञानका समागम और कर्मोंके क्षयका प्रेरकपना ये ग्रन्थमें कैसे सिद्ध हुए ? बताओ, आचार्य उत्तर कहते हैं कि इसका हेतु यह है कि यह ग्रन्थ पूर्वाचार्योंके ज्ञान को आश्रय मानकर लिखा गया है। इस अनुमान में व्यतिरेक दृष्टान्त दिखाते हैं। जो कोई वाक्य फिर तत्त्वबोध और कर्मोंकी हानी का कारण नहीं है, वह पूर्वाचार्योंके ज्ञान के अधीन भी नहीं है। जैसे जुआ खेलना, चोरी करना आदि पाप कर्म में नियुक्त करनेवाले वाक्य हैं। उक्त हेतुका प्रकृत साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। इसका आगे समर्थन कर देवेंगे। समर्थन कर देनेसे ही हेतु पुष्ट होता है।

विद्यास्पदं कुतस्तत् ?

शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थ के दो फल सिद्ध करनेमें पूर्वाचार्योंके ज्ञानका अवलम्ब लेकर लिखा जाना हेतु दिया था वह हेतु पक्ष में कैसे सिद्ध होता है ? अर्थात् किस कारण वह ग्रन्थ विद्याका आस्पद मान लिया जाय ? न्यायशास्त्रमें राजाकी आज्ञा नहीं चलती है।

इति चेत्। श्रीवर्धमानत्वात् प्रतिस्थानमविसंवादलक्षणया हि श्रिया वर्धमानं कथमविद्यास्पदं नामातिप्रसंगात्।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसी असिद्ध हेत्वाभास उठानेकी सम्भावना है तब तो उस का उत्तर यह है कि—

श्री से बढ रहा होनेके कारण यह ग्रन्थ पूर्वज्ञानियोंके अवलम्बसे लिखा गया सिद्ध होता है। जिससे जानी जावे चांदी और पकडी जावे सीप ऐसे झूंठे ज्ञानको विसंवादी कहते हैं तथा स्नान, पान गोता लगाना इस अर्थ क्रियाओंको करनेवाले जल आदिके समीचीन ज्ञान को अविसंवादि ज्ञान कहते हैं। ज्ञान की शोभा तो जिसको जाना जावे, उसीमें प्रवृत्ति की जावे और

वही प्राप्त होवे ऐसे अविसंवाद से है। उस अविसंवाद रूप लक्ष्मीसे यह ग्रन्थ प्रत्येक स्थलपर वृद्धि (पुष्टि) को प्राप्त हो रहा है तो फिर पूर्वाचार्योंके ज्ञानको अवलम्ब करनेवाला भला कैसे नहीं माना जावे ? यदि पूर्वोक्त लक्ष्मीसे पुष्ट श्लोकवार्त्तिक सदृश ग्रन्थ भी गुरुपरिपाटीके द्वारा आये हुए नहीं माने जावेंगे तो गन्धहस्तिमहाभाष्य, तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, समयपाहुड आदि ग्रन्थ भी गुरुआम्नायपूर्वक न सिद्ध हो सकेंगे। यह अतिप्रसंग दोष आजावेगा।

तदेवं सप्रयोजनत्वप्रतिपादनपरमादिश्लोकवाक्यं प्रयुक्तमवगम्यते।

उस कारण सो साभिप्राय प्रयोग किये गये आदिके मंगलाचरण—श्लोकरूप वाक्यकी दूसरे अर्थ में भी इस प्रकार तत्परता होने से इस ग्रन्थ के दोनों फलोंका प्रतिपादन कर दिया गया है। श्लोकवार्तिकके विशेषणोंको हेतु बनाकर प्रयोजनवालापना जान लिया जाता है। भावार्थ— श्री वर्धमानपनेसे विद्यास्पदपना और विद्यास्पदपने से बुद्धि समागमपूर्वक कर्मक्षय में प्रेरकपना तथा बुद्धि समागमसहित घातिसंघातघातन से सफलपना इस ग्रन्थ में सिद्ध हो जाता है।

ननु किमर्थमिदं प्रयुज्यते श्रोतृजनानां प्रवर्तनार्थमिति चेत्, ते यदि श्रद्धानुसारिणस्तदा व्यर्थस्तत्प्रयोगस्तमन्तरेणापि यथा कथञ्चित्तेषां शास्त्रश्रवणे प्रवर्तयितुं शक्यत्वात्। यदि प्रेक्षावन्तस्ते तदाकथमप्रमाणकादूवाक्यात्प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्त्वविरोधादिति केचित्।

यहां शंका है कि फल बतलाने वाले " श्री वर्धमानमाध्याय " इत्यादि प्रथम श्लोकके लिखनेका क्या प्रयोजन है ? श्रोताओंको श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ सुननेकी प्रवृत्तिके लिये पूर्वमें श्लोक लिखा है। उक्त शंकाका यह उत्तर ठीक नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि वे भव्यजीव श्रद्धाके अनुसार चलनेवाले हैं तो उनके लिये प्रयोजन बतलानेवाले आदि श्लोकका बोलना निरर्थक है। कारण कि शास्त्र सुननेमें भक्ति रखनेवाले सज्जन तो विना फल बतलाये भी शास्त्र सुनने में चाहे जैसे किसी प्रकारसे प्रवृत्ति कर सकते हैं और यदि वे हिताहितको विचार कर परीक्षा करके ग्रन्थ को सुननेवाले हैं तो नहीं प्रमाण रखनेवाले आदिके कोरे फल दिखानेवाले आज्ञावाक्यसे भला कैसे प्रवृत्ति करेंगे ? विना परीक्षा किये चाहे किसी भी वाक्यको सुनकर तदनुसार काम करनेवाले जीवको प्रेक्षावान्पनेका विरोध है। सम्यग्ज्ञान द्वारा हेयोपादेय के विचारको प्रेक्षा कहते हैं। इस प्रकार फल बतलानेवाले आदि श्लोकका उच्चारण आज्ञाप्रधानी और परीक्षाप्रधानी श्रोताओंके प्रति व्यर्थ ही है, ऐसी कोई शंका करते हैं।

तदसारम्, प्रयोजनवाक्यस्य सप्रमाणकत्वनिश्चयात्।

आचार्य कहते हैं कि किसी की इस प्रकारकी शंका में कोई भी सार नहीं है।

क्योंकि प्रयोजन (फल) बतलानेवाले आदिके वाक्यरूप श्लोकमें प्रमाणसहितपनेका निश्चय है ।

प्रवचनानुमानमूलं हि शास्त्रकारस्तत्कर्तृकं प्रतिजानीते नान्यथा, अनादेयवचनत्वप्रसंगात् तथाविधाच्च, ततः श्रद्धानुसारिणां प्रेक्षावतां च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ।

अच्छे शास्त्रको बनाने वाले विद्वान् जिस आदिवाक्यका पहले प्रयोग करते हैं, वह वाक्य आगमप्रमाण और अनुमानप्रमाण दोनोंको मूल मानकर सिद्ध होना चाहिये, अन्यथा अग्राह्यपनेका प्रसंग आवेगा । यहां भी आदि का फल बतानेवाला वाक्य आगम और अनुमानके आधारके विना नहीं है कारण कि प्रमाणोंको मूल न मानकर कहे हुए वाक्योंको कोई जीव ग्रहण नहीं करता है । जब कि आचार्य महाराजका पहला वाक्य आगमप्रमाणके अनुसार है तो उस प्रकारके उस वाक्यसे श्रद्धाके अनुसार चलनेवाले आज्ञाप्रधानियोंकी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है । और पहले वाक्यका प्रयोजन बतलाना रूप प्रमेय जब अनुमानकी भित्तिपर सिद्ध हो चुका है तो हिताहित विचारनेवाले परीक्षाप्रधानियोंकी शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति भी बिना विरोधके हो जावेगी । कोई रोक नहीं है ।

श्रद्धानुसारिणोऽपि ह्यागमादेव प्रवर्तयितुं शक्या, न यथा कथंचित् प्रवचनोपदिष्टतत्त्वे श्रद्धामनुसरतां श्रद्धानुसारित्वादन्यादृशामतिमूढमनस्कत्वात् तेषां तदनुरूपोपदेशयोग्यत्वात् सिद्धमातृकोपदेशयोग्यदारकवत् ।

शंकाकारने पूर्वमें कहा था कि शास्त्रोंमें श्रद्धा, भक्ति, रखनेवाले भद्रप्रकृतिके मनुष्य तो विना फलके कहे हुए भी शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति कर लेंगे । इसके उत्तरमें यह विशेष समझना आवश्यक है कि श्रद्धाके अनुसार चलनेवाले आज्ञाप्रधानी श्रोताओंको भी सच्चे आगमसे निश्चित किये हुए पदार्थोंमें ही प्रवृत्ति करनी चाहिये । केवल भोलेपन से चाहे जिस किसी भी शास्त्रके वाक्योंमें विश्वास करना ठीक नहीं है । क्योंकि सर्वज्ञ से कहे हुए शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंमें ही श्रद्धा करनेवालोंको आज्ञाप्रधानी माना है । इनसे भिन्न–शास्त्र और अशास्त्र का विवेक न कर कोरी भोलेपनकी श्रद्धा करनेवालोंको मन में अत्यन्त मूर्खताके विचारोंसे युक्त ही कहना पडता है । " गंगा गये गंगादास, यमुना गये यमुनादास " के सदृश विना विचारे कोरे भोंदूपनेकी श्रद्धा रखनेवाले उसी प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रों के सुननेमें अधिकारी नहीं हैं । जैसे कि विपरीत मिथ्यात्वके वशीभूत होकर हिंसामें धर्म मानने वाले मीमांसक और जीव, पुण्य, पाप, मोक्षको नहीं मानने वाले चार्वाक या अत्यन्त विपरीतबुद्धिवाले चोर, व्यभिचारी आदि। अर्थात् विपरीत (उल्टी) समझ रखनेवाले और यों ही कोरी श्रद्धा रखने

वाले इन दोनोंका समान रूपसे तत्त्वार्थशास्त्र आदि उच्च कोटिके ग्रन्थोंको सुननेमें अधिकार नहीं है। क्योंकि कहींकहीं पूर्वपक्षमें जैनोंकेसे सिद्धान्त ज्ञात होंगे और क्वचित् उत्तरपक्षमें जैनोंको अजैनोंकासा तत्त्व प्रतीत होगा। इस प्रकार अनेक स्थानोंपर बिना विचारे भोले जीव शास्त्रके हृदयको न जान सकेंगे या विपरीत समझ लेंगे। अतः उन मन्दबुद्धिवालोंको श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों को न सुनकर द्रव्यसंग्रह, पुरुषार्थ-सिध्युपाय आदि शास्त्र ही सुनने चाहिये। जो जिसके योग्य है, उस को वैसाही उपदेश हितकर होगा। जैसे कि छोटे बालकको सर्व द्रव्यशास्त्रोंकी जननी होकर सिद्ध (पुरानी) चली आरही अ, आ, इ, ई आदि वर्णमालाका ही उपदेश लाभकर है। थोडी बुद्धिवाला बच्चा उच्च कक्षाकी पुस्तकोंके पढनेका अधिकारी नहीं है।

प्रेक्षावन्तः पुनरागमादनुमानाच्च प्रवर्तमानास्तत्त्वं लभन्ते, न केवलादनुमानात्प्रत्यक्षादितस्तेषामप्रवृत्तिप्रसंगात्, नापि केवलादागमादेव विरुद्धार्थमतेभ्योऽपि प्रवर्तमानानां प्रेक्षावत्त्वप्रसक्तेः।

शंकाकारनेपूर्वमें कहा था कि विना तर्कसे सिद्ध किये गये आदिके प्रयोजनवाक्यसे परीक्षाप्रधानी विद्वान् किसी भी प्रकार शास्त्र सुननेमें प्रवृत्ति नहीं करेंगे। इसपर यह समाधान है कि– आगम और अनुमान दोनों प्रमाणोंसे ही विचार करनेवाले सज्जन, परीक्षक विद्वान् कहलाते हैं और तभी वे तत्त्वज्ञानको भी प्राप्त कर सकते हैं।

यों समीचीन विचारशाली पण्डित तो फिर श्रेष्ठ आगम और सच्चे अनुमान प्रमाणसे प्रवृत्ति करते हुए तत्त्वलाभ कर लेते हैं। ' युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्टापि न श्रद्धधे ' जो युक्ति से सिद्ध नहीं होता, उसको मैं प्रत्यक्ष देखता हुआ भी नहीं मानूंगा, ऐसी कोरी हेतुवादकी डींग मारने वाले वितण्डावादी परीक्षक नहीं कहे जाते। यदि केवल अनुमानसे ही पदार्थकी सिद्धि मानी जाय तो प्रत्यक्ष, आप्तवाक्यजन्य आगम और स्मरणसे उन जनोंकी प्रवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु उनसे भी समीचीन प्रवृत्ति होती है। अतः केवल हेतुवादीको परीक्षक नहीं माना गया है। इसी प्रकार केवल आगमसे ही वस्तुका ज्ञान करने वाले भी परीक्षक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि अनेक विरुद्ध पदार्थोंके प्रदिपादक बौद्ध, चार्वाक, वैशेषिक आदि मतोंके पोषक ऐसे शास्त्रों (शास्त्राभासों) से प्रवृत्ति करनेवालोंको भी प्रेक्षावान्पनेका प्रसंग आवेगा। (हित अहितको विचारनेवाली बुद्धि प्रेक्षा है)

" **तदुक्तं** " उसी बातको समन्तभद्राचार्यने यों कहा है–

" सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिध्दं चेदागमात्सर्वं विरुध्दार्थमतान्यपि " ॥ इति,

यदि हेतुसे ही सर्व पदार्थों की सिद्धि मानी जावे तो प्रत्यक्ष, स्मरण आदिकसे जो घट पटादिकका यथार्थ ज्ञान होता है, वह न हो सकेगा, तथा यदि आगमसे ही सम्पूर्ण तत्त्वोंका सद्भाव सिद्ध किया जाय तो एक दूसरे के विरुद्ध अर्थोंके प्रतिपादक चार्वाक, बौद्ध, अद्वैतवादी आदि मत भी सिद्ध हो जावेंगे। क्योंकि सम्पूर्ण मतवालों ने अपने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ रच लिये है ।

तस्मादाप्ते वक्तरि संप्रदायाव्यवच्छेदेन निश्चिते तद्वाक्यात्प्रवर्त्तनमागमादेव, वक्तर्यनाप्ते तु यत्तद्वाक्यात्प्रवर्तनं तदनुमानादिति विभागः साधीयान्, तदप्युक्तं "वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितं आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितं"

तिस कारण हेतुवाद और आगमवाद के एकान्तों का निर्णय (फैसला) इस प्रकार है कि विना विच्छेद के गुरु आम्माय से आये हुये तत्त्वज्ञान के अनुकूल यथार्थ वक्ताका निश्चय होने पर उस सत्यवक्ता के वाक्य द्वारा जो शिष्यों की प्रवृत्ति होगी, वह आगम से ही हुयी प्रवृत्ति कही जावेगी. और बोलनेवालेके सत्यवक्तापनेका निश्चय न होजाने पर उसके वाच्यार्थमें हेतुवाद लगाकर अनुमान से सिद्ध हुये पदार्थमें श्रोताओं की उस प्रवृत्ति करने को अनुमानसे प्रवृत्ति होना कहते हैं, इस प्रकार अनुमान और आगम से जाने गये प्रमेयका भेद करना बहुत अच्छा है। उस बातको भी स्वामी समन्तभद्राचार्यने देवागमस्तोत्र में ऐसा ही कहा है कि अयथार्थ बोलनेवाले वक्ताके ज्ञान होजाने पर हेतु से जो साध्य सिद्ध किया जाता है, वह हेतु साधित तत्त्व है और सत्यबोलने वाले वक्ताके निश्चय हो जाने पर उसके वाक्यसे जो साध्य जाना जाता है, वह आगमसे सिद्ध हुआ पदार्थ है ॥

न चैवं प्रमाणसंप्लववादविरोधः, क्वचिदुभाभ्यामागमानुमानाभ्यां प्रवर्त्तनस्येष्टत्वात् प्रवचनस्याहेतुहेतुमदात्मकत्वात्, स्वसमयप्रज्ञापकत्वस्य तत्परिज्ञाननिबन्धनत्वादपरिज्ञातहेतुवादागमस्य सिद्धांतविरोधकत्वात्.

एक प्रमेय में विशेष, विशेषांशोंको जाननेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति को प्रमाणसंप्लव कहते हैं. जैसे-आप्त के वचन से वह्निको आगम द्वारा जानने में तथा धूम हेतु से अग्निको अनुमान द्वारा जानने में एवं आग को बहिरिन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष द्वारा जानने में प्रतिभासका तारतम्य है, इस प्रकार विशेषांशोंको जाननेवाला प्रमाणसंप्लव सर्वप्रवादियोंने इष्ट किया है ।

यदि यहाँ कोई शंका करे कि — स्याद्वादी लोक आप्तवाक्यसे आगमज्ञानकी प्रवृत्ति का ही अवधारण करेंगे और अनाप्त दशामें हेतु से अनुमान ज्ञानका नियम करेंगे तो एक विषय में कदाचित् भी अनुमान और आगम दोनों प्रवृत्त न हो सकेंगे, ऐसा माननेपर आपको प्रमाणसं-

ध्रुववादका विरोध आवेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार शंका ठीक नहीं हैं, क्यों कि प्रमाणसंप्लव सब जगह नहीं होता है। घट, पटादिकोंको प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा दृढरूपसे जान कर व्यर्थ ही दूसरा प्रमाण उनके जानने के लिये नहीं उठाया जाता है, हाँ ! कहीं कहीं आगम और अनुमान दोनों प्रमाणों से भी प्रवृत्ति होना हम इष्ट करते हैं। शास्त्रों में सभी बातें आगम ज्ञान के आश्रित होकर ही नहीं लिखी जाती है। सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वोंके निरूपण करने वाले सच्चे शास्त्र हेतुवाद और अहेतुवादसे तद्रूप होकर भरे हुये हैं। विशेषकर यह श्लोकवार्तिक शास्त्र तो प्रत्यक्ष ज्ञान, आगमज्ञान और अनुमानज्ञान से परिपूर्ण है.

अपने अतीन्द्रिय और इन्द्रियग्राह्य तत्त्वोंसे परिपूर्ण सिद्धान्त विषयोंकी प्रतिवादियोंके प्रति समझाने में सद्युक्तियों से उन तत्त्वों का परिज्ञान कर लेना ही कारण है। हेतुवाद से तत्त्वों का निर्णय न करके कोरी श्रद्धा से लिखा हुआ शास्त्र तो सिद्धान्तका विरोधी हो जाता है। तभी तो वेदादिक इतर रचनायें केवल विश्वाससे विचारशीलोमें प्रतिष्ठा नहीं पाते है।

तथा चाभ्यधायि —

और इसी बातको पूर्व के आचार्यों ने भी तिस प्रकार कहा है कि —

"जो हेदुवादपरकम्मि हेदुओ आगमम्मि आगमओ, सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविरोहओ अण्णोत्ति."

हेतु के परिवार मानेगये पक्ष, दृष्टान्त, व्याप्ति और समर्थनयुक्त हेतुवादसे जो सिद्ध किया गया है, वह आगमोंमें श्रेष्ठ आगम है। और वही सिद्धान्त के अनेक गूढ रहस्योंका समझाने वाला है। इसके अतिरिक्त शास्त्रतो सिद्धान्तके पोषक नहीं, उलटे विरोधी हैं। ऐसे भयंकर शस्त्र के समान शास्त्रों से श्रोताओं को दूर रहना चाहिये। अन्धश्रद्धाके अनुसार आँख मीच कर चाहे जिस ऐरे गैरे शास्त्रमें शास्त्रपने की श्रद्धा रखने वाले वादियों के निरासार्थ शास्त्रमें हेतुवाद की प्रधानता मानी गयी है। एवञ्च तत्त्वार्थसूत्र और श्लोकवार्तिक आदि ही सच्चे शास्त्र हैं।

अब "श्री वर्धमानमाध्याय" इस आदिवाक्यकी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार आगम और अनुमान प्रमाण की नींव पर स्थिति को सिद्ध करते हैं।

तत्रागममूलमिदमादिवाक्यं परापरगुरुप्रवाहमाध्यायप्रवचनस्य प्रवर्त्तकं तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकं प्रवक्ष्यामीति वचनस्यागमपूर्वकागमार्थत्वात्। प्रामाण्यं पुनरस्याभ्यस्तप्रवक्तृगुणान् प्रतिपाद्यान् प्रति स्वत एवाभ्यस्तकारणगुणान् प्रति प्रत्यक्षादिवत्। स्वयमनभ्यस्तवक्तृगुणांस्तु विनेयान् प्रति सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वादनुमानात्स्वयं प्रतिपन्नाप्तांतरवच-

नाद्वा निश्चितप्रामाण्यात्, न चैवमनवस्था, परस्पराश्रयदोषो वा, अभ्यस्तविषये प्रमाणस्य स्वतः प्रामाण्यनिश्चयादनवस्थाया निवृत्तेः, पूर्वस्यानभ्यस्तविषयस्य परस्मादभ्यस्तविषयात्प्रमाणत्वप्रतिपत्तेः ।

उन दोनों मूल कारणों में प्रथम आगम को आदिवाक्य का मूलकारणपना तर्कसे सिद्ध करते हैं। प्रारम्भ करके शास्त्र की प्रवृत्ति करने वाला सबसे पहिला यह "श्री वर्द्धमानं" इत्यादि वाक्य है, उसके मूल कारण पूर्वाचार्योंके आगम ही हैं। क्यों कि पर और अपर गुरुओंका ध्यान कर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकको कहूँगा, ऐसे वचन आगमगम्य पदार्थों का आगम प्रमाण से निर्णय करने पर ही कहे जाते हैं। गुरुओं के प्रसादसे जाने हुए पदार्थों के मनन करनेमें ही गुरुओं के ध्यान की आवश्यकता होती है। अपने प्रत्यक्ष और अनुमानसे जाने हुए पदार्थोंके कहनेमें भक्त मनुष्य भी गुरुओंके स्मरण को कारण नहीं मानता है।

जिन गुरुओंके आगम को अवलम्ब लेकर यह ग्रन्थ बनाया है, उन आगमों का प्रमाणपना अभ्यासदशामें तो स्वतः है अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष के कारण इन्द्रियों में निर्मलत्वादि गुणोंका और मन में निश्चलता रूपगुणके जाननेका जिनको अभ्यास है, वे पुरुष प्रत्यक्षमें स्वतः ही अर्थात् उन ज्ञानके कारणोंसे ही प्रामाण्य जान लेते हैं। तथा हेतु में साध्य के अविनाभाव जानने का जिनको अभ्यास है, वे अनुमान में स्वतः ही प्रामाण्य जान लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे वक्ता संबन्धी गुणोंको जाननेका जिन श्रोताओं को अभ्यास हो चुका है, ऐसे श्रोताओंके प्रति उस वक्तासे कहे हुए आगम में प्रमाणपना अपने आप सिद्ध हो जाता है। तभी तो व्यवहार में हुंडी लिखने का, लेने, देने, का कार्य चल रहा है। और जिनको वक्ताके गुण जानने का स्वयं अभ्यास नहीं है, उन शिष्यों के लिये तो इस अनुमान से सत् आगम में प्रामाण्य सिद्ध करा दिया जाता है, कि यह ग्रन्थ प्रमाण है [प्रतिज्ञा] क्योंकि इसमें बाधक प्रमाण के नहीं उत्पन्न होने का अच्छा निश्चय है। अथवा प्रकृतआगम में स्वयं निश्चित कर लिया है प्रामाण्य जिसमें ऐसे दूसरे आप्तोंके वचन से भी प्रमाणता आजाती है। लोक में भी एक आदमी का दूसरे आदमी से कहने और दूसरे का तीसरेके कथन करनेसे विश्वास कर लिया करते हैं। उसी प्रकार शास्त्रों के प्रमाणपने का दूसरे दूसरे प्रामाणिक शास्त्रों से निर्णय कर लेते हैं। यहां कोई कहे कि —

ऐसा करने से अनवस्था दोष आवेगा क्यों कि प्रकृत शास्त्र को दूसरे से, दूसरे को तीसरे से और तीसरेको चौथे शास्त्र से प्रमाणपना मानने से मूलको क्षय करनेवाली अनवस्था होगी, तथा यदि विवक्षित आगमको दूसरे शास्त्र से प्रमाणीकपना माना जाय और दूसरे आगम को विवक्षित आगम से, यानी श्लोकवार्तिकका प्रमाणीकपना गोम्मटसारसे और गोम्मटसार का

श्लोकवार्तिकसे प्रमाणपना माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष भी आवेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ये दोनों दोष स्याद्वादियोंको नहीं लगते हैं, हमने अपने ग्राम संबन्धी तालाबके जलज्ञान या अन्धेरेमें अपने घरके टेढ़े नीचे, ऊंचे, सोपान (जीना) के समान परिचित विषयों के ज्ञानमें प्रामाण्यका निश्चय स्वतः माना है। इस कारण अनवस्थादोष निवृत्त हो जाता है। तथा ग्रामान्तरमें जलज्ञानके प्रामाण्य का संशय होने पर स्नान, पान, अवगाहन रूप अर्थक्रियाके ज्ञान से निर्णय होना माना है। अतः अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं रहता है। पूर्वके अनभ्यस्त विषयको जाननेवाले ज्ञान का अभ्यस्त विषय को जाननेवाले ज्ञानान्तर से प्रमाणपना प्रतीत किया जाता है। अर्थक्रियाके ज्ञान में भी प्रामाण्यका संशय होने पर तीसरे ज्ञान से निर्णय कर लिया जाता है। अत्यन्त विवादस्थल में भी तीन, चार ज्ञानोंसे अधिक की आवश्यकता नहीं होती है। अन्तका ज्ञान स्वतः प्रमाणात्मक है, अतः आकांक्षा शान्त होजाती है।

तथानुमानमूलमेतद्वाक्यं, स्वयं स्वार्थानुमानेन निश्चितस्यार्थस्य परार्थानुमानरूपेण प्रयुक्तत्वात्.

जिस प्रकार आदि वाक्यको आगममूलक सिद्ध किया जा चुका है, वैसे ही विद्यानन्द स्वामी का प्रयोजन बताने वाले इस आदिवाक्य का प्रमेय अनुमान प्रमाण के भी आश्रित है। क्योंकि विद्यानन्द स्वामीने स्वयं व्याप्ति ग्रहण कर किये गये स्वार्थानुमानसे निश्चित अर्थको परार्थानुमानरूप बना कर प्रयोग कर दिया है। स्वयं व्याप्तिको ग्रहण कर अपने लिये किये गये अनुमानको स्वार्थानुमान कहते हैं और स्वयं अनुमान से साध्यका निश्चय कर दूसरे को समझाने के लिये जो वचन बोला जाता है, उसको परार्थानुमान कहते हैं। यहाँ गुरु के ज्ञान का कार्य होने से और शिष्य के ज्ञान का कारण होने से वचन को भी उपचार से प्रमाण मान लिया गया है। वस्तुतः शिष्य का ज्ञान परार्थानुमान है. ।

समर्थनापेक्षसाधनत्वान्न प्रयोजनवाक्यं परार्थानुमानरूपम्, इति चेन्न।

यहाँ किसी का पूर्व पक्ष है कि—"विवादास्पदत्व" हेतु अपने समर्थन कराने की अपेक्षा रखता है। अतः फल बताने वाला वाक्य परार्थानुमानरूप नहीं हो सकता. जो अनुमान समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता है, वही परार्थानुमान है। जैसे कि स्वयं वह्नि के साथ धूमकी व्याप्ति जाननेवालेको धूम दिखा कर विना समर्थन किये ही अग्नि का ज्ञान करा दिया जाता है, वह परार्थानुमान कहा जाता है। हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति दिखलाकर हेतु के पक्षमें रहने को समर्थन कहते हैं, ऐसा समर्थन जहाँ होता है, वहाँ परार्थानुमान नहीं माना जाता है।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि:—

स्वेष्टानुमानेन व्यभिचारात्, न हि तत्समर्थनापेक्षसाधनं न भवति प्रतिवादिविप्रतिपत्तौ तद्विनिवृत्तये साधनसमर्थनवचनादर्शनमित्वात्, क्वचिदसमर्थितसाधनवचने असाधनांगवचनस्येष्टेः।

जो समर्थन की अपेक्षा करता है, यदि वह परार्थानुमान न माना जाय तो हर एक वादी को अपने अभिप्रेत अनुमान से व्यभिचार हो जावेगा। क्योंकि प्रत्येक वादी अपने अभीष्ट साधन को सिद्ध करने के लिये प्रतिवादीके प्रति व्याप्ति को दिखलाते हुए ही साधनका प्रयोग करता है। क्वचित् स्पष्ट रूप से यदि समर्थन नहीं करता तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि यहाँ समर्थन है ही नहीं। तभी तो हेतुके साथ साध्यकी व्याप्ति को दिखला कर पक्षमें हेतु के रहने रूप समर्थन यदि प्रतिवादीको विवादास्पद [संशयग्रस्त] हो जाय तो उस संशयके परिहार के लिये हेतु का समर्थन करना वादीको अत्यावश्यक हो जावेगा। समर्थन कर देनेसे वह वादी का दिया हुआ अनुमान परमार्थानुमान नहीं है यह नहीं समझना। जो कोई वादी विना समर्थन किये हुए केवल पंचमी विभक्त्यन्त साधन वचन कह देते हैं, उनके ऊपर "असाधनांगवचन" नाम का निग्रहस्थान दोष देना हम इष्ट करते हैं। वादी को उचित है कि अपने साध्य को सिद्ध करने के लिये व्याप्ति, समर्थन और दृष्टान्तमें रहना, इन सभी गुणो को हेतु में दिखलावे। उक्त गुणों को न कह कर केवल साधनका कहना वादीके लिये असाधनांग वचन नाम का दोष है.।

प्रकृतानुमानहेतोरशक्यसमर्थनत्वमपि नाशंकनीयं, तदुत्तरग्रन्थेन तद्धेतोः समर्थननिश्चयात्. सकलशास्त्रव्याख्यानात्तद्धेतुसमर्थनप्रवणात्तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकस्य प्रयोजनवत्त्वसिद्धेः।

बुद्धिका समागम और कर्मोंका नाश इन दोनो प्रयोजनोंको अनुमान से सिद्ध करने वाले प्रकरणप्राप्त विद्यास्पदत्व हेतुका समर्थन हो ही नहीं सकता यह शंका भी न करना चाहिये। क्योंकि स्वामीजीने आगे के श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थके द्वारा उस विद्यास्पदत्व हेतुका निश्चित रूपसे साध्यके साथ समर्थन किया है। प्रसिद्ध होरहे तत्त्वार्थसूत्रका व्याख्यान करने वाला सम्पूर्ण श्लोकवार्तिक ग्रन्थ इस विद्यास्पद हेतुके समर्थन करने में ही तत्पर है। इस कारण तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थको प्रयोजनसहितपना सिद्ध हुआ। अबतक ग्रन्थको फलसहित बताने वाले प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है।

प्रागेवापार्थकं प्रयोजनवचनमिति चेत्, तर्हि स्वेष्टानुमाने हेत्वर्थसमर्थनप्रपंचाभिधानादेव साध्यार्थसिद्धेस्ततः पूर्वं हेतूपन्यासोपार्थकः किन्न भवेत्।

बौद्ध शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थका फलवान्पना तो हम मान चुके, किन्तु ग्रन्थका पहलेसे ही प्रयोजन कह देना व्यर्थ है। क्योंकि इसमें छोटापन प्रतीत होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तो आपके अभिप्रेत सत्त्व हेतुसे क्षाणिकत्त्व को सिद्ध करने वाले अनुमानमें हेतुके लिये [के अर्थ] समर्थन की सामग्री के कहने से ही साध्यरूप प्रयोजन की सिद्धि हो जावेगी सो आपका भी उसके पहलेसे ही हेतु का कथन करना व्यर्थ क्यों न होगा?। बताओ।

साधनस्यानभिधाने समर्थनमनाश्रयमेवेति चेत्, प्रयोजनवत्त्वस्यावचने तत्समर्थनं कथमनाश्रयं न स्यात् ।

साधनके न कहने पर समर्थन करना आश्रयरहित हो जावेगा, अतः समर्थम के अवलम्ब के लिये साधनका प्रयोग करना आवश्यक है यदि शंकाकार ऐसा कहेंगे तो हम भी कहते हैं कि ग्रन्थकी आदि में यदि फल-बतानेवाला वाक्य न कहा जावेगा तो उत्तर ग्रन्थ से प्रजोजन का समर्थन करना बिना अवलम्बका क्यों न हो जावेगा?। भावार्थ – आदिमें प्रयोजनका सूत्र वाक्य करने पर ही भविष्य के श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ से फल का स्पष्ट करना ठीक समझा जावेगा। विना फल बताए लम्बा, चौडा विवरण करना असंगत होगा। फलका उद्देश न करके मतिमन्द भी प्रवृत्त नहीं होता है, फिर विचारशील तो कैसे प्रवृत्त हो सकता है? अतः प्रयोजन बताने में तुच्छता नहीं, प्रत्युत प्रवृत्ति करानेमें दृढता आजाती है।

ये तु प्रतिज्ञामनभिधाय तत्साधनाय हेतूपन्यासं कुर्वाणाः साधनमभिहितमेव समर्थयन्ते ते कथं स्वस्थाः ।

जो पण्डित पक्षमें साध्यके रहने रूप प्रतिज्ञा को न कह कर उस प्रतिज्ञाको सिद्ध करने के लिये केवल हेतुका वचन करते हुए कहे हुए साधन का ही समर्थन करते हैं, वे बुद्धमतानुयायी तो किसी भी प्रकार निराकुल नहीं हैं। क्योंकि पक्ष के बिना कहे समर्थन कहाँ किया जावेगा?। कहिये,

पक्षस्य गम्यमानस्य साधनाददोष इति चेत्प्रयोजनवत्त्वसाधनस्य गम्यमानस्य समर्थने को दोषः संभाव्यते ?

अनुक्त पक्ष भी प्रकरण और अभिप्रायसे समझ लिया जाता है, उस पक्षमें हेतुका समर्थन कर दिया जावेगा यदि इस प्रकार शंकाकार पुनः कहेगा तो उसी प्रकार हमको भी आदि वाक्यके कथन मात्रसे विना कहे हुए प्रकरणसे ही जाने गये प्रयोजनवान्पनेको बताने वाले विधास्पद हेतुके समर्थन करने में कौन दोष संभावित है?। अर्थात् कोई क्षति नहीं पड़ती है।

सर्वत्र गम्यमानस्यैव तस्य समर्थनसिद्धेः प्रयोगो न युक्त इति चेत्संक्षिप्तशास्त्रप्रवृत्तौ सविस्तरशास्त्रप्रवृत्तौ वा? प्रथमपक्षे न किंचिदनिष्टं सूत्रकारेण तस्याप्रयोगात्। सामर्थ्याद्गम्यमानस्यैव सूत्रसंदर्भेण समर्थनात्। द्वितीयपक्षे तु तस्याप्रयोगे प्रतिज्ञोपनयनिगमनप्रयोगविरोधः।

पुनरपि शंकाकार यों कहता है कि प्रयोजन बतानेवाले साधनके कहनेकी आवश्यकता नहीं, विना कहे हुए भी अर्थापत्तिसे जाने हुए प्रयोजनवाक्यका समर्थन होना सिद्ध है, इस कथनपर आचार्य दो पक्ष उठाते हैं कि शंकाकारका यह उक्तकथन संक्षेपसे शास्त्र कहनेवालोंकी प्रवृत्तिमें घटता है अथवा विस्तारसहित शास्त्र लिखनेवालोंकी प्रवृत्तिमें भी?, यदि पहिला पक्ष मानोगे तो हमको कोई बाधा नहीं है, क्योंकि सूत्रकार उमास्वामी महाराजने प्रयोजनवाक्यका कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है किन्तु भविष्यके सूत्रोंकी रचना करके प्रकरणकी सामर्थ्यसे जाने हुए प्रयोजनका ही समर्थन किया है। और यदि तुम दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे अर्थात् विस्तृतशास्त्रोंमें भी प्रयोजनवाक्यका प्रयोग न करना स्वीकार करोगे तब तो पक्षमें साध्यको कहनारूप प्रतिज्ञा तथा व्याप्तिको दिखलाये हुए हेतुका पक्षमें उपसंहार करनेस्वरूप उपनय और साध्यका निर्णय कर पक्षमें कथन करनेरूप निगमन इन तीनोंका भी प्रयोग करना विरुद्ध पडेगा।

प्रतिज्ञानिगमनयोरप्रयोग एवेति चेत्, तद्वत्पक्षधर्मोपसंहारस्यापि प्रयोगो मा भूत्। यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमित्युक्ते शब्दादौ सत्त्वस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात्।

पुनः भी बुद्धमतानुयायी शंकाकारका कहना है कि प्रतिज्ञा और निगमनका कण्ठसे प्रयोग करना तो हम सर्वथा नहीं मानते हैं यों अवधारण करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तुम्हारे यहाँ प्रतिज्ञा और निगमनके समान पक्षमें व्याप्तियुक्त हेतुके रखनेका उपसंहाररूप उपनयका भी प्रयोग नही होना चाहिये, आप बौद्धोंने जो जो सत् हैं, वे वे सम्पूर्ण पदार्थ द्वितीयक्षणमें नष्ट हो जाते हैं ऐसी व्याप्तिका कथन कर चुकनेपर सत्त्वहेतुका शब्द, बिजली आदिमें उपसंहार किया है, यह उपनय भी बिना कहे हुए अनुमानके प्रकरणसे जाना जा सकता था, फिर आपने क्यों व्यर्थ ही कहा? बताओ।

तस्यापि क्वचिदप्रयोगोऽभीष्ट एव "विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवल" इति वचनात्, तर्हि सविस्तरवचने गम्यमानस्यापि सिद्धः प्रयोगः संक्षिप्तप्रवृत्तावेव तस्याप्रयोगात्।

यदि शंकाकार पुनरपि ऐसा कहेगा कि कहीं कहीं उस उपनयका प्रयोग न करना भी हमको अच्छा-इष्ट है, क्योंकि हमारे बौद्धग्रन्थों में लिखा हुआ है कि "विद्वानोंके प्रति केवल हेतु

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ही कहना चाहिये ''। इस पर आचार्य कहते हैं कि तब तो विस्तृत टीकाग्रन्थोंमें मूलकारसे न कहे हुए प्रयोजनवाक्यका भी प्रकरणसे जान कर हमको भी प्रयोग करना तुम्हारे कहनेसे ही सिद्ध हुआ। हाँ! संक्षेपसे शास्त्र लिखनेकी प्रवृत्तिमें उसका प्रयोग न करना ठीक है। यही आपका भी अभिप्राय है।

ततः क्वचिद्गम्यमानं सप्रयोजनत्वसाधनमप्रयुक्तमपि सकलशास्त्रव्याख्यानेन समर्थ्यते, क्वचित्प्रयुज्यमानमिति नैकान्तः स्याद्वादिनामविरोधात्।

उस कारण अब तक यह सिद्ध हुआ कि संक्षिप्त ग्रन्थोंमें बिना कहे हुए अर्थात् प्रकरणसे ही जाने गये प्रयोजनसहितपनेको बतानेवाले साधनवाक्यका और कहे हुए वाक्यका भी अग्रिम सम्पूर्ण शास्त्रके व्याख्यानद्वारा समर्थन किया जाता है, तथा विस्तृतग्रन्थों में कण्ठोक्त प्रयोजनवाक्यका ही पूरे ग्रन्थसे समर्थन (पोषण) किया जाता है, इस प्रकार अनेकान्तपक्षको स्वीकार करनेपर स्याद्वादियोंके मतमें कोई विरोध नहीं है, पूर्वमें कहा हुआ आप बौद्धोंका एकान्त ठीक नहीं है, उसमें विरोध आता है।

सर्वथैकान्तवादिनां तु न प्रयोजनवाक्योपन्यासो युक्तस्तस्याप्रमाणत्वाद्।

सर्वथा एकान्तपक्षका आग्रह करनेवाले बौद्ध, मीमांसक, नैयायिकोंके शास्त्रोंमें तो प्रयोजनवाक्यका कथन करना युक्त ही नहीं है. क्योंकि प्रयोजनवाक्यको ये लोग प्रमाण नहीं मानते हैं।

तदागमः प्रमाणमिति चेत् सोऽपौरुषेयः पौरुषेयो वा? न तावदाद्यपक्षकक्षीकरणं, ''अथातो धर्मजिज्ञासेति प्रयोजनवाक्यस्यापौरुषेयत्वासिद्धेः। स्वरूपेर्थे तस्य प्रामाण्यानिष्टेश्चान्यथातिप्रसंगात्पौरुषेय एवागमः प्रयोजनवाक्यमिति चेत्। कुतोऽस्य प्रामाण्यनिश्चयः? स्वत एवेति चेत् न, स्वतः प्रामाण्यैकान्तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। परत एवागमस्य प्रामाण्यमित्यन्ये, तेषामपि नेदं प्रमाणं सिद्ध्यति, परतः प्रामाण्यस्यानवस्थादिदोषदूषितत्वेन प्रतिक्षेप्स्यमानत्वात्प्रतीतिविरोधात्।

कोई पण्डित कह रहा है कि प्रयोजन कहनेवाले वचनको हम लोग आगमप्रमाणरूप मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम तुम्हारे ऊपर दो पक्ष उठाते हैं कि आपका वह आगम किसी पुरुषका न बनाया होकर अनादि है या किसी पुरुषविशेषका बनाया हुआ सादि है? बताओ, उन दोनोंमेंसे पहला पक्ष स्वीकार करना मीमांसकोंको उचित नहीं है क्योंकि मीमांसादर्शनमें धर्मका ज्ञान हो जानारूप प्रयोजनको बतलानेवाला पहला सूत्र है ''अथातो धर्मजिज्ञासा'' जिसका कि अर्थ इसके अनन्तर यहाँसे धर्मके जाननेकी इच्छा है, ऐसा होता है। अनादिरूपमें थ शब्द नहीं बोला जाता है। ऐसे प्रयोजन कहनेवाले वाक्यको

अपौरुषेयता सिद्ध नहीं है। मीमांसकोंने भी इस सूत्रको बनानेवाले जैमिनि ऋषि माने हैं. मीमांसक लोग ज्योतिष्टोमयज्ञादि कर्मकाण्डके प्रतिपादक वेदवाक्योंको ही प्रमाण मानते हैं। अद्वैतस्वरूप अर्थमें निमग्न हो रहे विधिको कहनेवाले या प्रयोजनको कहनेवाले वाक्योंकी प्रमाणता उनको इष्ट नहीं है। अन्यथा यानी यदि मीमांसक लोग कर्मके कहनेवाले वाक्योंके अतिरिक्त वाक्योंको भी प्रमाण मानेंगे तो अद्वैतवादके प्रतिपादक "एकमेवाद्वयं ब्रह्म नो नाना" अथवा सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले " **यः सर्वज्ञः स सर्ववित्**" इत्यादि अर्थवादवाक्य भी प्रमाण मानने पडेंगे। अतिप्रसंग हो जावेगा।

यदि प्रयोजनवाक्यको नैयायिकोंके मतानुसार विशिष्ट पुरुषके द्वारा बनाये हुए पौरुषेय आगमस्वरूप ही मानोगे तो उस नैयायिकके माने हुए आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जावेगा? अपने आपहीसे आगममें प्रमाणपनेका निश्चय कर लिया जाता है यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानसामान्यके जाननेवाले ही कारणोंसे प्रामाण्यका भी निश्चय स्वतः कर लिया जाता है, इस प्रकार मीमांसकोंके एकान्तका भविष्यमें खण्डन कर दिया जावेगा और आप नैयायिक लोग तो ज्ञानमें स्वतःही प्रमाणपनेका निश्चय होना मानते भी नहीं हैं. अन्यथा अपसिद्धान्त हो जायगा।

पदोंका ज्ञान, संकेतग्रहण, शब्दका प्रत्यक्ष आदि आगमके सामान्यकारणोंके अतिरिक्त आसत्ति, आकांक्षा, योग्यता और तात्पर्यरूप कारणसे परतः ही आगममें प्रामाण्यका निर्णय होता है, इस प्रकार अन्य नैयायिक मान बैठे हैं, उन नैयायिकोंके मतमें भी प्रयोजनवाक्य आगमप्रमाणरूप सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रकृत जलके ज्ञानको दूसरे ठंडी वायु आदि के ज्ञानसे प्रमाणपना आवेगा। और ठंडी वायु आदिके ज्ञानको तीसरे ज्ञानसे प्रामाण्य माना जावेगा, जबतक उत्तरज्ञानोंसे पूर्व ज्ञानोंको प्रमाणपना न आवेगा तब तक आकांक्षा शांत न होनेसे उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी धारा चलेगी, क्योंकि जो दूसरेका ज्ञापक है, वह किसी न किसी ज्ञानसे ज्ञात होना चाहिये। इस तरह अनवस्थादोष आता है। द्वितीय ज्ञानको प्रथम ज्ञानसे प्रामाण्य मानोगे और प्रथम ज्ञानको द्वितीय ज्ञान से प्रमाणपना लावोगे तो अन्योन्याश्रयदोष भी आवेगा। एवं संवाद, प्रवृत्ति और प्रमाणपना इन तीनोंसे प्रमाणपनेका निश्चय माना जाय तो चक्रकदोष भी आता है।

इत्यादि दोषोंसे दूषित हो जानेके कारण नैयायिकोंके परतः प्रामाण्यका भविष्यमें विस्तारसे खण्डन करेंगे। तथा परतः प्रामाण्यवादमें लोकप्रसिद्ध प्रतीतिसे भी विरोध आता है। सभी लोग अभ्यासदशामें ज्ञान होनेके समयही उसके प्रामाण्यको भी जान लेते हैं।

परार्थानुमानमादौ प्रयोजनवचनमित्यपरे तेऽपि न युक्तिवादिनः, साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तौ तर्कस्य प्रमाणस्याऽनभ्युपगमात्प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा तत्रासमर्थत्वेन साध-

ष्यिष्यमाणत्वात्। ये त्वप्रमाणकादेव विकल्पज्ञानाच्चयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिमाहुस्तेषां प्रत्यक्षानुमान-प्रमाणत्वसमर्थनमनर्थक्रमेवाऽप्रमाणादेव प्रत्यक्षानुमेयार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात्।

ग्रन्थकारको उस ग्रन्थके प्रमेयोंके ज्ञानसे स्वयं तो कुछ प्रयोजन सिद्ध करना ही नहीं है क्योंकि ग्रन्थकर्ताको तो ग्रन्थरचनाके पूर्वमें ही भावग्रन्थसे प्रबोध और कर्महानिरूप फल प्राप्त हो चुका है। भविष्यमें शिष्योंके लिये उस फलकी प्राप्ति हो इस परोपकारबुद्धिसे प्रेरित होकर ग्रन्थके आदिमें शास्त्रकारका फल बतलाना उपयोगी है। अतः स्वयं अपनी आत्मारूप दृष्टान्तमें निश्चित किये हुए अविनाभाव रखनेवाले विद्यास्पद हेतुसे सज्ज्ञानकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश रूप साध्यका ज्ञान करानारूप प्रयोजनका प्रतिपादक वाक्य परार्थानुमानस्वरूप है, ऐसा कोई न्यारे वृद्धवैशेषिक कहते हैं, और साथमें अपने ग्रन्थोंके प्रारम्भमें "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष-समवायाभावानां सप्तानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः" इत्यादि प्रयोजन वाक्योंको भी परार्थानुमान रूपही सिद्ध हुआ मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका कथनभी युक्तिवादसे रहित है क्योंकि साध्य और साधनकी व्याप्तिका ग्रहण तर्कज्ञानसे ही हो सकता है। सब देश और कालमें उपसंहार करके साध्य और साधनके संबन्धको जाननेवाले तर्करूप ज्ञानको वैशेषिक प्रमाण नहीं मानते हैं। तर्क मिथ्याज्ञानका भेद माना है, उनके यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने गये हैं, उक्त दोनों प्रमाण उस सर्व देशकालोपसंहारवाली व्याप्तिको ग्रहण करने में असमर्थ हैं इसको भविष्य में सिद्ध करेंगे।

जो बौद्ध लोग साध्य और साधनके संबन्ध (वस्तुतः संबन्ध नहीं है) की कल्पना करने-वाले प्रमाणरूप सविकल्पक व्याप्तिज्ञानसे उन ही हेतु और साध्यके अविनाभावसंबन्धका विकल्पज्ञान होजाना कहते हैं, उन बौद्धोंको अपने माने गये प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानको भी प्रमाणपनेकी समर्थनपूर्वक सिद्धि करना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि अप्रमाणरूप तर्कज्ञानसे जैसे अविनाभावका ज्ञान हो जाता है उसी प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानने योग्य पदार्थोंका अप्रमाण-रूप प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जावेगा, व्यर्थ ही प्रमाणत्वका बोझ क्यों लादा जावे?।

ततो न प्रयोजनवाक्यं स्याद्वादविद्विषां किंचित्प्रमाणं, प्रमाणादिव्यवस्थानासंभवाच्च, न तेषां तत्प्रमाणमिति शास्त्रप्रणयनमेवासंभवि विभाव्यतां किं पुनः प्रयोजनवाक्योपन्यसनम्।

उस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि स्याद्वादसिद्धान्तसे द्वेष करनेवाले मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक, और बौद्धोंके शास्त्रोंकी आदिमें लिखे हुए प्रयोजन बतानेवाले "यतोऽभ्युदयनिश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः" जिससे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है, वह धर्म है इत्यादि वाक्य किसी भी प्रकारसे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमप्रमाणरूप नहीं हैं।

अन्यमतावलम्बियोंके माने हुए प्रमाण, प्रमेय, आदि पदार्थ ही जब युक्तियों से व्यवस्थित नहीं हो सकते हैं तब प्रमाण आदिकी व्यवस्थाका असम्भव हो जानेसे उनके यहाँ प्रयोजन वाक्य भी किसी प्रमाणस्वरूप कैसे सिद्ध हो सकता है ? और ऐसी अव्यवस्थामें प्रयोजनवाक्य लिखना तो भला दूर रहा किन्तु ऐसे लोगोंका तो शास्त्र बनाना ही असंभव है यह विचार लेना चाहिये, फिर प्रयोजनवाक्यके कथनकी तो बात ही दूर है।

श्रद्धाकुतूहलोत्पादनार्थं तदित्येके तदप्यनेनैव निरस्तं तस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वपक्षयोस्तदुत्पादकत्वायोगात्।

शिष्योंको ग्रंथ सुननेमें श्रद्धा (विश्वास) पैदा हो और कौतुक उत्पन्न हो इस प्रकार श्रोताओंके चित्तको आकर्षित करनेके लिये ग्रन्थकी आदिमें प्रयोजनवाक्य लिख दिया जाता है, ऐसा किसी एक सम्प्रदायको माननेवाले पण्डित कहते हैं, आचार्य महाराज आदेश करते हैं कि—

उनका कथन भी इस पूर्वोक्त विचारसे ही खण्डित हो जाता है क्योंकि प्रयोजनवाक्यके प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व इन दोनोंमेंसे किसी भी पक्षको ग्रहण करनेपर प्रयोजनवाक्यको उन उन श्रद्धा और कुतूहलका उत्पादकपना नहीं बन सकता है अर्थात् प्रमाण माननेमें अनवस्था, प्रामाण्यका निश्चय न होना, व्याप्ति न बनना, आदि दोष आवेंगे और अप्रमाण माननेसे तो प्रमाणपनेका विचार ही संसारसे नष्ट हुआ जाता है।

अर्थसंशयोत्पादनार्थं तदित्यप्यसारं क्वचिदर्थसंशयात्प्रवृत्तौ प्रमाणव्यवस्थापनानर्थक्यात्, प्रमाणपूर्वकोऽर्थसंशयः प्रवर्त्तक इति प्रमाणव्यवस्थापनस्य साफल्ये कथमप्रमाणकात्प्रयोजनवाक्यादुपजातोऽर्थसंशयः प्रवृत्त्यंगं। विरुद्धं च संशयफलस्य प्रमाणत्वं विपर्यासफलवत् स्वार्थव्यवसायफलस्यैव ज्ञानस्य प्रमाणत्वप्रसिद्धेः।

कोई संशयालु कह रहा है कि ग्रंथकी आदिमें प्रयोजनका लिखना ग्रन्थके वाच्य अर्थमें संशय पैदा करनेके लिये है क्योंकि अर्थमें संशय होनेपर ही जनता भविष्यमें उस ग्रंथको सुनेगी। इस शंकाकारका यह हृद्य प्रतीत होता है कि " एकांतनिश्चयाद्वरं संशयः " अनिष्ट बातके निर्णयकी अपेक्षा उसका संशय बना रहना कहीं अच्छा है, इस नीतिके अनुसार ग्रंथके सुननेमें जिनको कुछ भी फल नहीं दीखता, उनको ग्रंथकी आदिमें प्रयोजन बतानेसे फलप्राप्तिका कमसे कम संशय तो अवश्य हो जावेगा, जिससे कि वे फलकी संभावनासे तो ग्रंथ सुननेमें प्रवृत्ति करेंगे। अर्थशब्दका अर्थ प्रयोजन भी होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहनेमें भी कुछ सार नहीं है क्योंकि, अर्थके संशयसे ही कहीं प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्था मानना व्यर्थ पडेगा। यदि तुम ऐसा कहोगे कि प्रत्येक संशयको हम प्रवर्त्तक नहीं मानेंगे किन्तु प्रमाणज्ञानसे उत्पन्न हुआ

अर्थके विशेष विशेषांशोंको जाननेवाला संशयज्ञान ग्रन्थ सुननेमें प्रवृत्ति कराता है, ऐसा माननेपर प्रमाणतत्त्वकी व्यवस्थापना करना भी सफल है। पण्डितोंके साथ वाद, संवाद करनेसे विशिष्ट तत्त्वोंका ज्ञान होता है यह सिद्धांत भी विशेषांशमें संशय करनेवालेके ही लिये लागू है, केवलज्ञानीके लिये नहीं। अब आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार तुम्हारे कहनेपर प्रामाणिक प्रयोजनवाक्य तो भले ही प्रवृत्तिका कारण हो जाय किंतु अप्रमाणरूप प्रयोजनवाक्यसे उत्पन्न हुआ अर्थका संशय तो श्रोताओंको ग्रन्थ सुननेमें प्रवृत्तिका कारण कैसे भी नहीं हो सकता है। एक बात यह भी है कि रस्सीमें सर्पका ज्ञान करनारूप विपर्ययज्ञानका फल जैसे प्रमाणरूप नहीं है उसी प्रकार संशयके फलको भी प्रमाणस्वरूप मानना विरुद्ध है। अपना और अपने विषयका निश्चयरूप फलको करनेवाले ज्ञानको ही प्रमाणता प्रसिद्ध हो रही है, तथा च अर्थमें संशय उपजानेवाला आपका प्रयोजन वाक्य कैसे भी श्रोताओंकी प्रवृत्तिका कारण नहीं हो सकता है। फलसंभावना-रूप संशयसे बालजन भले ही प्रवृत्ति कर लेवें किंतु विचारशील विद्वान् निश्चयात्मक प्रमाणसे ही प्रवृत्ति करते हैं।

ये त्वाहुर्यन्निष्प्रयोजनं तन्नारंभणीयं यथा काकदन्तपरीक्षाशास्त्रं, निष्प्रयोजनं चेदं शास्त्रमिति व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानान्प्रति व्यापकानुपलब्धेरसिद्धतोद्भावनार्थं प्रयोजनवाक्यमिति।

यहां जो कोई ऐसा कहते हैं कि व्याप्यसे व्यापकका ज्ञान होता है और व्यापकके अभावसे तो व्याप्यका अभाव प्रतीत हो जाता है, यहां कार्यका आरम्भ करना (धूमके समान) व्याप्य है और प्रयोजनवान्पना (अग्निके समान) व्यापक है, तथा प्रयोजनरहितपना (वह्निके अभावसमान) व्याप्य है और कार्यके आरम्भका न होना (धूमाभावके समान) व्यापक है, ऐसा व्याप्यव्यापक-भाव सिद्ध हो जाने पर कोई असत्य उत्तररूप जातिनामका दोष उठाते हैं कि जो जो प्रयोजन-रहित है, वह वह शास्त्र सद्वक्ताओंको आरम्भ करने योग्य भी नहीं है, जैसे कि काकके दांतोंकी परीक्षा करने वाले शास्त्रको कोई नहीं बनाता है, इसके समान प्रयोजनसहितपना-रूप व्यापकके ज्ञान न होनेसे ग्रंथके आरम्भ-रूप अप्रशस्तव्यापकका भी अभाव होना चाहिये, इस प्रकार जाति-दोष उठानेवालोंके प्रति प्रयोजनके नहीं होनेकी असिद्धिको प्रगट करनेके लिये प्रयोजनवाक्य कह दिया गया है। भावार्थ—सद्वक्ताओंके आरंभ करने योग्य यह ग्रंथ प्रयोजनसहित है।

आचार्य कहते हैं कि समाधान करनेवाले ये लोग भी चारों ओरसे अच्छी तरह देखनेवाले परीक्षक नहीं हैं।

तेऽपि न परीक्षकाः स्वयमप्रमाणकेन तदसिद्धतोद्भावनाऽसंभवात् तत्प्रमाणत्वस्य परैर्व्यवस्थापयितुमशक्तेः।

कारण कि जब तक आदिके प्रयोजन वाक्यको प्रमाणपना सिद्ध नहीं तो फिर स्वयं अप्रमाणरूप प्रयोजनवाक्यसे जातिवादीके उठाये हुए दोषकी असिद्धि कैसे हो सकती है ? केवल प्रयोजनका उच्चारण कर देनेसे आप लोग उसकी प्रमाणताका निर्णय कैसे भी नहीं कर सकते हैं, प्रमाणोंसे सिद्ध किये हुए वाक्य ही दूसरोंके दोष हटानेमें समर्थ होते हैं, और अभीतक प्रयोजनवाक्यकी प्रमाणता दूसरोंके द्वारा नहीं व्यवस्थित की गई है।

सकलशास्त्रार्थोद्देशकरणार्थमादिवाक्यमित्यपि फल्गुप्रायं तदुद्देशस्याप्रमाणात्प्रतिपत्तुमशक्तेस्तल्लक्षणपरीक्षावत्।

" आगेके सम्पूर्ण शास्त्रके प्रतिपाद्य-विषयका संक्षेपसे नाममात्र कथन करनेके लिये पहिला वाक्य लिखा जाता है, " यह भी आदिवाक्यका फल बताना बहुभागमें व्यर्थ है, क्योंकि अप्रामाणिकवाक्यसे संक्षिप्त अर्थके कथनका भी निर्णय नहीं हो सकता है, जैसे कि प्रमाणरहित-वाक्यसे किसी वस्तुका लक्षण और परीक्षा नहीं की जाती है उसी प्रकार मन चाहा बोला हुआ वाक्य उद्देश करनेवाला भी नहीं होता है। बात यह है कि उद्देश्य, लक्षणनिर्देश, और परीक्षा तो प्रामाणिक वाक्यसे ही किये जाते हैं। यही सर्व दार्शनिकोंको इष्ट है।

ततो नोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधा व्याख्या व्यवतिष्ठते।

उस कारणसे उद्देश, लक्षण और परीक्षाकी प्रमाणताके निर्णय किये विना ग्रंथका नाम मात्र कथन करना, मिली हुयी वस्तुओंमेंसे पृथक् करनेका कारणरूप लक्षण बोलना और अनेक युक्तियोंकी सम्भावनामें प्रबलता और दुर्बलताके विचाररूप परीक्षा इन तीनों प्रकारसे व्याख्यान करना व्यवस्थित नहीं हो सकता है।

समासतोऽर्थप्रतिपत्त्यर्थमादिवाक्यं व्यासतस्तदुत्तरशास्त्रमित्यप्यनेनैव प्रतिक्षिप्तमप्रमाणाद्व्यासत इव समासतोऽप्यर्थप्रतिपत्तेरयोगात्।

कोई वादी आदिके वाक्यका प्रयोजन यह बतलाते हैं कि ग्रंथका संक्षेपसे ज्ञान करनेके लिये आदिका वाक्य है और विस्तार रूपसे अर्थ की प्रतिपत्ति करानेके लिये भविष्यका पूरा ग्रंथ है, ग्रंथकार कह रहे हैं कि यह इनका विचार भी पूर्वोक्तकथनसे खण्डित हो जाता है, क्योंकि जब तक पूरे ग्रंथमें प्रमाणता सिद्ध नहीं है, तब तक विस्ताररूपसे अर्थका ज्ञान जैसे नहीं हो सकता है उसी प्रकार ग्रंथके अप्रामाणिक पहिले वाक्यद्वारा संक्षेपसे भी पदार्थका निर्णय नहीं हो सकता है, अतः आप लोगोंको प्रयोजन कहनेवाले वाक्यकी प्रमाणताका निर्णय करना आवश्यक है।

स्याद्वादिनान्तु सर्वमनवद्यं तस्यागमानुमानरूपत्वसमर्थनादित्यलं प्रसंगेन।

स्याद्वादरूप सिद्धांतको माननेवाले जैनोंके मत में तो सर्व पूर्वोक्त कथन निर्दोष सिद्ध है, क्योंकि आदिके प्रयोजन वाक्यको आगमप्रमाणस्वरूपपने और अनुमानप्रमाणरूपपनेका अच्छी तरह

समर्थन कर दिया गया है, इस प्रकार आदिवाक्यके कथनपर बहुत विचार करनेपर भी वही हमारी कही हुयी पूर्वोक्त सफलता सिद्ध हुयी। अब अधिक इस प्रकरणको बढानेसे कुछ तत्त्व नहीं सधता है।

अब यहां दूसरी और तीसरी वार्त्तिकोंके अवतरण करनेका उत्थान किया जाता है।

ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामसत्यामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह।

यहां शंका है कि उपर्युक्त प्रयोजनवाक्यका अनुमान और आगमरूपपना तभी माना जा सकता है, जब कि तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थकी सिद्धि हो जाय। हम तो कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रका पहिला " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्र ही सिद्ध नहीं है क्योंकि सच्चे वक्ताके न होते भी और किसी विशेष समझनेवालेकी जाननेकी इच्छा न होनेपर ही इस सूत्रको बोलनेकी प्रवृत्ति हो गयी है। कोई अच्छे वक्ताके द्वारा श्रद्धापूर्व सुननेवाले शिष्योंकी प्रगाढ इच्छा होनेपर ही जो वाक्य बोला जाता है, वह प्रमाणसिद्ध माना जाता है। जब कि पहिले सूत्रकी ही असिद्धि है तो फिर पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र वा उसकी टीका श्लोकवार्तिक और उसके आदिवाक्यको प्रामाणिक बताना बिना भित्तिके चित्रलेखनसमान अनुचित है। इस प्रकार आदिसूत्रके विषयमें ही शंकाकारद्वारा असिद्धिकी प्रेरणा होनेपर श्रीविद्यानंद स्वामी उत्तर कहते हैं।

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥ २ ॥
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥ ३ ॥

कल्याणमार्गके अभिलाषी अनेक शिष्योंकी मोक्षमार्ग जाननेकी इच्छा होनेपर ही " मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये " इस अच्छी तरह सिद्ध किये गये मंगलाचरण की भित्तिपर ही उमास्वामी महाराजने पहिला सूत्र लिखा है। केवलज्ञानद्वारा प्रत्यक्षरूपसे अच्छी तरह जान लिये हैं सम्पूर्ण पदार्थ जिन्होंने, और नष्ट कर दिये हैं ज्ञानावरणादि घातिकर्म जिन्होंने, तथा मोक्षमार्गको प्राप्त करने और करानेवाले मुनि श्रेष्ठोंके द्वारा भले प्रकार स्तुति करने योग्य श्रीजिनेन्द्रदेवके सिद्ध होनेपर ही तथा ज्ञानदर्शनोपयोग-स्वरूप और मोक्षसे भविष्यमें युक्त होनेवाले शिष्यकी मोक्षमार्गको जाननेकी तीव्र अभिलाषा होनेपर यह पहिला सूत्र " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " उमास्वामी आचार्यने प्रचलित किया है।

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यं, सिद्धे प्रणेतरि मोक्षमार्गस्य प्रकाशकं वचनं प्रवृत्तं तत्कार्यत्वादन्यथा प्रणेतृव्यापारानेपक्षत्वप्रसंगात् ।

उस कारण यह तात्पर्य निश्चयसे सिद्ध हुआ कि मोक्षमार्गका प्रणयन करनेवाले श्रीसर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवके सिद्ध होनेपर ही मोक्षमार्गका प्रकाश करनेवाला वचन प्रवर्ता है। क्योंकि मोक्षमार्गका प्रतिपादक वचन उस मोक्षमार्गके बनानेवालेका कार्य है। सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ वचन सर्वज्ञका बनाया हुआ कार्य है और परिपाटीके अनुसार उमास्वामी आचार्यका यह " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्र कार्य है, अन्यथा यानी यदि वचनका कारण वक्ताको न मानोगे तो शब्दनिर्माताके–बोलनेवाले पुरुषके कण्ठ, तालु आदि अवयवोंके हलन, चलन–रूप व्यापारकी शब्दकी उत्पत्तिमें अपेक्षा न होगी यह प्रसङ्ग आवेगा किंतु होती है ।

तद्व्यंग्यत्वात्तत्तदपेक्षम् ।

यहां शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोंका कहना है कि कण्ठ, तालु आदिसे शब्द उत्पन्न नहीं किया जाता किंतु पहिलेसे ही विद्यमान शब्द कण्ठ, तालु, मृदंग आदि व्यक्त करनेवाले व्यञ्जकोंसे व्यक्त (प्रकट) किया जाता है, अतः वह वचन उनकी अपेक्षा रखता है ।

इति चेन्न कूटस्थस्य सर्वथाभिव्यंग्यत्वविरोधात्तदभिव्यक्तेरव्यवस्थितेः ।

आचार्य कहते हैं कि मीमांसकोंका उक्त कथन ठीक नहीं है कारण कि, काठमें दृढ अचल गडी हुयी लोहेकी निहाईके समान यदि शब्दको अपरिणामी कूटस्थ माना जावे तो एकांतपनेसे शब्दके आविर्भावपनेका विरोध आवेगा, अर्थात् नित्यपक्षमें भी पूर्वकी तिरोभाव अवस्थासे ही शब्दकी अभिव्यक्ति मानी जावेगी तो कथञ्चित् नित्य अनित्यपना आया, सर्वथा ही नित्यका अभिव्यंग्यपना कैसे भी नहीं बन सकता है। अतः मीमांसकोंके मतमें उस शब्दके प्रगट होनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। यद्यपि जैनसिद्धांतमें लुहारकी निहाईको भी प्रतिक्षण परिणामी माना है, निहाईमें भी अतिशयोंका आना जाना विकार होना सर्वदा चालू है, किंतु दूसरोंके मतसे कूटस्थपनेमें लुहारकी निहाईका दृष्टान्त दिया गया है ।

सा हि यदि वचनस्य संस्काराधानं तदा ततो भिन्नोऽन्यो वा संस्कारः प्रणेतृव्यापारेणाधीयते ? यद्यभिन्नस्तदा वचनमेव तेनाधीयत इति कथं कूटस्थं नाम ? भिन्नश्चेत्पूर्ववत्तस्य सर्वदाप्यश्रवणप्रसंगः, प्राक्पश्चाद्वा श्रवणानुषंगः, स्वस्वभावापरित्यागात् । संस्काराधानकाले प्राच्याश्रावणत्वस्वभावस्य परित्यागे श्रावणस्वभावोपादाने च शब्दस्य परिणामित्वसिद्धिः, पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणत्वात् परिणामित्वस्य । तथा च वचनस्य किमभिव्यक्तिपक्षकक्षीकरणेनोत्पत्तिपक्षस्यैव सुघटत्वात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शब्दकी उत्पत्ति न मानकर अभिव्यक्ति माननेवाले मीमांसकोंके मतमें अभिव्यक्तिका क्या अर्थ है ? बतलाओ, यदि बोलनेकी पहिली अवस्थाके नहीं संस्कार किये गये शब्दोंमें कण्ठ, तालु, आदिके व्यापारद्वारा वर्तमानमें कुछ संस्कार धारण करा देनेकी अभिव्यक्ति मानोगे तो बताओ, बतानेवाले वक्ताके व्यापारोंसे उस समय शब्दोंमें रख दिया गया संस्कार (अतिशय) क्या शब्दसे अभिन्न है अथवा भिन्न है ? यदि अभिन्नरूप पहिला पक्ष मानोगे तो वक्ताके तालु आदिके व्यापारने शब्दसे अभिन्न संस्कारको किया तो शब्दको ही बनाया कहना चाहिये, क्योंकि आपके मतमें शब्द और संस्कार दोनों एक ही हैं। ऐसी अवस्थामें भला शब्दका कूटस्थरूपसे नित्यपना कैसे बन सकता है ? यदि शब्दसे संस्कार भिन्न है ऐसा दूसरा पक्ष ग्रहण करोगे तो हमारे दिये हुए उक्त दोषका तो निवारण हो जावेगा किन्तु अन्य दोष आवेंगे। देखिये वक्ताके व्यापारसे किया गया संस्कार यदि शब्दसे भिन्न पडा रहता है तो सब कालोंमें शब्दका श्रवण नहीं होना चाहिये क्योंकि उच्चारणके पूर्वमें जैसे शब्दका श्रवण नही होता था उसी प्रकार पीछे भिन्नरूप संस्कारके उत्पन्न होनेपर भी शब्दका सुनना न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। क्या भिन्न स्थान पर पडा हुआ घटका संमार्जनरूप संस्कार और सर्वथा भिन्न पटका प्रक्षालनरूप संस्कार कार्यकारी हो सकता है ? नहीं। यदि भिन्न पडे हुए संस्कारसे भी वर्तमान कालमें शब्दका सुनना मानोगे तो भूत और भविष्य-कालमें भी शब्दके सुननेका प्रसंग आवेगा; क्योंकि वर्तमानका शब्द जैसे संस्कारसे भिन्न होकर सुनाई दे रहा है उसी प्रकार नित्यरूपसे विद्यमान वही शब्द उसी संस्कारसे भूत, भविष्यमें भी सुनायी पडना चाहिये, कारण कि संस्कारसे भिन्न पडा हुआ स्वतंत्र शब्द अपनी प्रकृति [आदत] को कभी छोड नहीं सकता है।

यदि आप ऐसा कहोगे कि वक्ताके द्वारा बनाये गये संस्कारोंको धारण करते समय शब्द अपनी पूर्वकालकी नहीं सुनाई पडने की टेव (आदत) को छोडकर वर्तमान कालमें सुने जानेकी प्रकृतिको ग्रहण करता है तो ऐसा माननेपर शब्दको परिणामीपना सिद्ध होता है क्योंकि पूर्वके स्वभावोंको छोडना, उत्तर स्वभावोंको प्राप्त करना, और द्रव्यस्वभावसे स्थित रहना ही परिणामीपनका लक्षण है और तैसा होनेपर फिर आपको शब्दकी अभिव्यक्तिपक्षके स्वीकार करनेसे क्या लाभ हुआ ? आपके उक्त कथनसे तो शब्दकी उत्पत्तिपक्षका ही अच्छी रीतिसे घटन हो जाता है।

शब्दाद्भिन्नोऽभिन्नश्च संस्कारः प्रणेतृव्यापारेणाधीयत इति चेन्न सर्वथा भेदाभेदयोरेकत्वविरोधात्।

यदि शब्दको बनानेवालेके व्यापारद्वारा जो शब्दमें संस्कार किया जाता है, वह शब्दसे भिन्न है और अभिन्न भी है, ऐसा कहोगे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा भेद और अभेद

माननेमें संस्कार और शब्दके एकपनेका विरोध हुआ जाता है। सर्वथा भेद माननेपर अभेद नहीं मान सकते हो और सर्वथा अभेद माननेपर भेद मानना विरुद्ध है। भेद और और अभेद दोनों धर्म एक नहीं होसक्ते हैं। तुल्यबल विरोध है।

यदि पुनः कथञ्चिदभिन्नो भिन्नश्च शब्दात्संस्कारस्तस्य तेनाधीयत इति मतं तदा स्यात्पौरुषेयं तत्त्वार्थशासनमित्यायातमर्हन्मतम्।

विरोध और विप्रतिषेध दोषको दूर करनेके लिये यदि आप मीमांसक लोक शब्दसे कथञ्चित् भिन्न और किसी अपेक्षासे अभिन्न संस्कारका बनानेवालेके व्यापारसे शब्दमें स्थापन करना मानोगे, तब तो तत्त्वार्थोंकी शिक्षा करनेवाले तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थके वर्ण, पद, वाक्यों, का भी कथञ्चित् पुरुषसे बनाया जाना अभेदपक्षमें आपके द्वारा ही सिद्ध होगया यों जैनसिद्धांत आगया। यद्यपि प्रवाह रूपसे ज्ञानरूप ग्रन्थ सर्वदासे चला आया है किंतु इस ज्ञानके अनुसार शब्दयोजना करके ग्रंथ बना देना ग्रंथकारका स्वायत्त कार्य है इस ही कारण वक्ताके शब्दोंको जैनसिद्धांतमें पौरुषेय माना गया है, यह श्रीजिनेन्द्रदेवका कहा हुआ मन्तव्य आपको भी मानना पडा।

ननु च वर्णसंस्कारोऽभिव्यक्तिस्तदावारकवाय्वपनयनम् घटाद्यावारकतमोऽपनयनवत्तिरोभावश्च तदावारकोत्पत्तिर्न चान्योत्पत्तिविनाशौ शब्दस्य तिरोभावाविर्भावौ कौटस्थ्यविरोधिनौ येन परमतप्रसिद्धिरिति चेत्—

यहां फिर मीमांसककी ओरसे यह अपने ऊपर आये हुए दोषोंके निवारण करते हुए अर्हन्तके कहे हुए मतके माननेमें शंका है कि हम वर्णोंके संस्कारको ही शब्दकी अभिव्यक्ति मानते हैं, वक्ताके व्यापारके पूर्वमें उस शब्दकी सुनायी पडनेमें प्रतिबंध करनेवाला कारण विशेषवायु माना गया है, उस वायुका दूर हो जाना ही शब्दका संस्कार है, जैसे कि घरमें रखे हुए घटका आवरण करनेवाले अन्धकारका दूर हो जाना ही घटकी अभिव्यक्ति है। तथा शब्दको न सुनने देनेवाले वायुका उत्पन्न हो जाना ही शब्दका तिरोभाव (वर्तमान होते भी छिप जाना) है, जब कि भिन्न माने गये वायुकी उत्पत्ति और विनाश ही शब्दके आविर्भाव (प्रगट होना) और तिरोभावरूप हैं तो वायुकी उत्पत्ति और नाश होनेसे वायुका ही परिणामपन सिद्ध हुआ। न्यारी वायुके उत्पाद और नाशसे शब्दकी कूटस्थनित्यताका कुछ भी विरोध नहीं हो सकता है, जिससे कि आप जैनोंका मत सिद्ध माना जावे। अर्थात् हम शब्दको पौरुषेय मानते नहीं हैं यदि ऐसा कहोगे !

तर्हि किं कुर्वन्नावारकः शब्दस्य वायुरुपेयते? न तावत्स्वरूपं खण्डयन्नित्यैकान्तत्वविरोधात्। तद्बुद्धिं प्रतिघ्नन्निति चेत्तत्प्रतिघाते शब्दस्योपलभ्यता प्रतिहन्यते वा न वा? प्रतिहन्यते चेत्सा शब्दादभिन्ना प्रतिहन्यते न पुनः शब्द इति प्रलापमात्रम्। ततोऽसौ भिन्नेवेति

चेत्सर्वदानुपलभ्यतास्वभावः शब्दः स्यात्। तत्संबंधादुपलभ्यः स इति चेत् कस्तया तस्य संबंधः? धर्मधर्मिभाव इति चेन्नात्यन्तं भिन्नयोस्तयोस्तद्भावविरोधात्। भेदाभेदोपगमादविरुद्धस्तद्भाव इति चेत् तर्हि तेनाभिन्नोपलभ्यता ततः प्रतिहन्यते तेन शब्दोऽपीति नैकांतनित्योऽसौ।

इस प्रकार कहनेपर मीमांसकोंसे आचार्य पूँछते हैं कि तो बताओ ? वायु क्या करता हुआ शब्द सुननेका आवरण करता माना गया है ? आवरण करनेवाले पदार्थ दो प्रकारके होते हैं। एक तो स्वरूपका ही नाश करदेनेवाले जैसे कि शुक्ल कपडेको नीले रंगसे रंग देनेपर वस्त्रकी शुक्लताका ध्वंस हो जाता है। या ज्ञानावरण कर्मसे ज्ञानका नाश हो जाता है। दूसरे आवरण करनेवाले वे कहे जाते हैं जो पदार्थका तो नाश नहीं करते किन्तु उसके ज्ञान होनेका प्रतिबंध करदेते हैं। जैसे चंद्रमाके नीचे बादलोंका आ जाना, या भित्तिसे व्यवहित हो रहे घटके प्रत्यक्ष करनेमें घटज्ञानको रोकनेवाली भित्ति।

यदि आप पहिला पक्ष लोगे यानी आवरण करनेवाला वायु शब्दके स्वरूपका खण्डन कर-देता है तो शब्दके एकान्तसे नित्यपनेका विरोध हो जावेगा। और यदि दूसरा पक्ष लोगे तो शब्दकी नित्यताके विरोधका प्रसंग तो निवृत्त हो जावेगा किंतु अन्य दोष आ जावेंगे। सुनिये, उस शब्दके जान-नेका प्रतिबन्ध करनेवाले दूसरे पक्षमें वायुके द्वारा शब्दके ज्ञानद्वारा जानने योग्यपने स्वभावका नाश होता है अथवा नहीं ? बताओ, देखिये प्रत्येक पदार्थमें अपने स्वभावोंके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंकी ओरसे आनेवाले भी स्वभाव रहते हैं। जैसे कि अनामिका अंगुली में बीचकी अंगुलीकी अपेक्षा छोटापन और कनिष्ठा अंगुलीकी अपेक्षासे बडापन है। दूसरी दो अंगुलियोंसे आनेवाले छोटापन और बडापन ये दोनोंही स्वभाव अनामिकाके स्वरूप ही हैं। इसी प्रकार घट, पट, शब्द आदि पदार्थोंमें भी ज्ञानके द्वारा जाननेपर जाने गयेपनेकी योग्यतारूप—स्वभाव माना गया है। ऐसेही घटको प्रत्यक्षसे जाननेपर प्रत्यक्षयोग्यता, अनुमानसे जाननेपर अनुमेयता, आगमसे जाननेपर आगमगम्यता ये तीनों स्वभाव भी घटकी धरू सम्पत्ति हैं। अब प्रकृतको विचारिये कि यदि वायुके द्वारा शब्दकी बुद्धि होनेका प्रतिघात हुआ माना जावेगा तो शब्दसे अभिन्न होरही शब्दके जाननेकी योग्यताका भी नाश होजावेगा। जब शब्दके उस उपलभ्यतारूप स्वभावका नाश हुआ तो उससे अभिन्न शब्दका भी नाश मानना पडेगा ऐसी दशामें भी शब्दका किसी भी प्रकारसे नाश न मानना मीमांसकोंका केवल बकवाद है। शब्दसे अभिन्न हो रही उपलभ्यताका ध्वंस हो जानेपर फिर शब्द का नाश नहीं होता है ऐसा मानना यह उन्मत्तरोदन है। यदि वायुके द्वारा उपलभ्यताके नष्ट हो जानेपर भी शब्द अक्षुण्ण नित्य बना रहे इसलिए आप शब्दकी ज्ञानसे ज्ञेयपनेकी उस योग्यताको उस शब्दसे भिन्न ही मानोगे तब तो सदा शब्दका स्वभाव ज्ञानसे नहीं जानने योग्य रूपही होगा। जो जानने

योग्य स्वभावोंको धारण नहीं करते हैं उन पदार्थोंका किसीको ज्ञान भी नहीं हो पाता है। जैसे घोडेके सींग, कछुएके रोम आदिका। इसी प्रकार आपके मतानुसार उपलभ्यता रूप स्वभावके शब्दसे सर्वथा भिन्न पडे रहनेपर शब्दका भी कभी ज्ञान नहीं होना चाहिये।

उक्त दोषके परिहारके लिये उपलभ्यताको भिन्न मानकर भी शब्दके साथ उसका संबंध हो जाने से वह शब्द जानने योग्य हो जाता है, जैसे कि उष्णताके समवायसंबंधसे अग्नि उष्ण है। यदि आप ऐसा मानोगे, तो कहिये कि आपने उपलभ्यताके साथ शब्दका कौनसा संबंध माना है? बताओ, यदि धर्मधर्मिभाव संबंध है अर्थात् शब्द तो धर्मी है और और उपलभ्यता उसका धर्म है, यह संबंध मानना तो ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा ही भिन्न पदार्थोंमें धर्मधर्मिभाव नहीं होता है जैसे कि सह्यपर्वत और विंध्याचलका। तथाच सर्वथा भदपक्षेम पुनः उपलभ्यता और शब्दके धर्मधर्मिभावसंबंध होने का विरोध है। यदि इस दोषके परिहारके लिये आप भेद, अभेद इन दोनों पक्षोंको स्वीकार करेंगे, जिससे कि इस धर्मधर्मिभावपने का विरोध हो सके ऐसा कहने पर भी तो अभेदपक्षेम जिस अंशसे अभिन्न उपलभ्यताका उस वायुके द्वारा नाश होगा, उस स्वभावपनेसे तो शब्दका भी नाश हो ही जावेगा, ऐसी दशा में भला शब्द एकांतरूपसे नित्य कैसे माना जा सकता है? यों वह शब्द एकांतरूपसे नित्य नहीं है।

द्वितीयविकल्पे सत्यप्यावारके शब्दस्योपलब्धिप्रसंगस्तदुपलभ्यतायाः प्रतिघाताभावात्, तथा च न तद्बुद्धिप्रतिघाती कश्चिदावारकः कूटस्थस्य युक्तो यतस्तदपनयनमभिव्यक्तिः सिद्धयेत्।

शब्दसे भिन्न और अभिन्न उपलभ्यताका वायुके द्वारा नाश होता है, इस प्रथम पक्षका खण्डन हो चुका। अब आप मीमांसक दूसरा विकल्प उपलभ्यताके नाश न होनेका मानोगे तो आवरण करनेवाले वायुके होनेपर भी शब्दका ज्ञान सर्वदा होते रहना चाहिये, क्योंकि वायुके द्वारा शब्दकी उपलभ्यताका घात तो हुआ नहीं है, और उस कारण "शब्दकी बुद्धिको नष्ट करने वाला कोई विशेष वायु कूटस्थपनेसे नित्य हो रहे शब्दका आवारक है" यह युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता है जिससे कि मीमांसकोंके मतमें आवारक वायुको दूर करनारूप शब्दकी अभिव्यक्ति सिद्ध होती अर्थात् शब्दकी अभिव्यक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है।

एतेन शब्दस्योपलब्ध्युत्पत्तिरभिव्यक्तिरिति ब्रुवन् प्रतिक्षिप्तः, तस्यां तदुपलभ्यतोत्पत्त्यनुत्पत्त्योः शब्दस्योत्पत्त्यप्रतिपत्तिप्रसंगात्, न हि शब्दस्योपलब्धेरुत्पत्तौ तदभिन्नोपलभ्यतोत्पद्यते, न पुनःशब्द इति ब्रुवाणः स्वस्थः। तस्यास्ततो भेदे सदानुपलभ्यस्वभावतापत्तेर्धर्मधर्मिभावसंबंधायोगात्। तत्संबंधादप्युपलभ्यत्वासम्भवाद्भेदाभेदोपगमे कथं-

चिदुत्पत्तिप्रसिद्धेरेकांतनित्यताविरोधात् । शब्दस्योपलब्ध्युत्पत्तावप्युपलभ्यतानुत्पत्तौ स्यादप्रतिपत्तिरिति व्यर्थाभिव्यक्तिः ।

इस पूर्वोक्त कथनसे शब्दकी ज्ञप्तिकी उत्पत्तिको शब्दकी अभिव्यक्ति कहनेवालेका मंतव्य भी खण्डित हुआ समझना चाहिये। क्योंकि शब्दके उपलब्धिके उत्पन्न होजाने पर यदि शब्दके उपलभ्यतास्वभावका उत्पाद मानोगे तो उससे अभिन्न शब्दका भी उत्पाद मानना पडेगा। यदि शब्दमें उपलभ्यताकी उत्पत्ति न मानोगे तो पूर्वके समान शब्दका कभी ज्ञान ही नहीं होना चाहिये यह प्रसङ्ग आवेगा। जो शब्दकी उपलब्धिके उत्पन्न होनेपर उस शब्दसे अभिन्न होरही उपलभ्यताको पैदा हुआ मानता है किंतु फिर शब्दको पैदा हुआ नहीं मानता है ऐसा कहने वाला मनुष्य आपे (होश) में नहीं है। जो स्वस्थ है वह ऐसी युक्तिरहित बातें नहीं कहता है।

यदि आप वैयाकरण लोग उस उपलभ्यताको उस शब्दसे भिन्न मानोगे तो अपने गांठके स्वभावसे शब्दके सर्वदा अनुपलभ्य ही बने रहने की आपत्ति आवेगी, तथाच शब्दका ज्ञान भी न होगा। भिन्न पडी हुयी उपलभ्यताका शब्दके साथ धर्मधर्मिभाव संबंध हो जानेका भी योग नहीं है, जिससे कि उस उपलभ्यताके संबंधसे भी शब्दके उपलभ्यपनेकी किसी भी प्रकार सम्भावना नहीं होसकती है। भेद और अभेद दोनों पक्ष माननेपर भी उपलभ्यताकी उत्पत्ति होने पर किसी न किसी प्रकारसे शब्दकी उत्पत्ति होना अनिवार्य सिद्ध है, इससे आपका एकांतरूपसे शब्दको नित्य मानना विरुद्ध हुआ। शब्दकी उपलब्धिकी उत्पत्ति होने पर भी शब्दमें उपलभ्यपनारूप स्वभावको पैदा हुआ न मानोगे तो त्रिकालमें भी शब्दका ज्ञान न हो सकेगा। इस प्रकार उपलब्धिकी उत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति मानना भी नितांत व्यर्थ है।

श्रोत्रसंस्कारोऽभिव्यक्तिरित्यन्ये। तेषामपि श्रोत्रस्यावारकापनयनं संस्कारः शब्दग्रहणयोग्यतोत्पत्तिर्वा तदा तद्भावे तस्योपलभ्यतोत्पत्त्यनुत्पत्त्योः स एव दोषः।

शब्द नित्य और सर्वत्र व्यापक है, जिस जीवकी कर्णेन्द्रियमें संस्कार हो गया है, उस व्यक्ति को सुनायी पडता है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्तिको सर्व देशमें सर्वदा सुनायी नहीं पडता है। अतः सुननेवालेके कानोंका संस्कार हो जाना शब्दकी अभिव्यक्ति है! इस प्रकार दूसरे संप्रदाय के मीमांसक मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनके यहां भी कर्णको सुनायी देनेमें आवरण करने वाले आवारकोंका दूर करना ही कर्णोका संस्कार है? या शब्दके ग्रहण करनेकी योग्यताका पैदा हो जाना श्रोत्रका संस्कार है? बताओ, इन इन दोनों भी पक्षोंमें जब कर्णेन्द्रियका संस्कार हो जाता है, उस समय शब्दमें उस उपलभ्यताकी उत्पत्ति माननी पडेगी यदि उपलभ्यताकी उत्पत्ति न मानोगे तो वही पूर्वमें दिया हुआ शब्दका कभी सुनायी न पडनारूप दोष आजावेगा। और जब

आपके यहाँ कर्णेन्द्रिय आकाशरूप मानी गयी है तो आकाशको आवरण करने वाला भी कोई नहीं हो सकता है, अतः श्रोत्रके संस्कारको शब्दकी अभिव्यक्ति मानना भी आपका पोली नींव पर खडा होना है।

तदुभयसंस्कारोऽभिव्यक्तिरित्ययं पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षेप्तव्यः।

जिन प्रभाकरोंने वर्ण और कर्ण दोनों के संस्कारको शब्दकी अभिव्यक्ति माना है, यह भी उनका पक्ष पूर्वोक्त प्रकरणसे ही निराकृत हुआ समझ लेना चाहिये, क्योंकि जो प्रत्येक पक्षमें दोष आता है, वह एकांतदोनों पक्षोंके मानने पर भी अवश्य आवेगा।

प्रवाहनित्यतोपगमादभिधानस्याभिव्यक्तौ नोक्तो दोष इति चेन्न, पुरुषव्यापारात्प्राक् तत्प्रवाहसद्भावे प्रमाणाभावात्।

मीमांसक जन! आप कूटस्थनित्यपनेसे शब्दको नित्य न मानकर बीजाङ्कुरके समान धारा-प्रवाहरूपसे शब्द नित्य है, ऐसे शब्दकी अभिव्यक्ति स्वीकार करनेमें कोई भी दोष नहीं आता है, यदि ऐसा कहोगे, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि बोलनेवाले पुरुषके कण्ठ, तालु आदिके व्यापार से पहिले भी प्रवाहरूपसे शब्द विद्यमान है, इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है, बीज और अंकुरके पूर्वमें दूसरे समान जातिवाले बीज, अंकुर विद्यमान थे। उनसे भी पूर्वकालमें अन्य बीज, अंकुर थे। किंतु शब्द तो कण्ठ, तालु, मृदंग ढोलके द्वारा सर्वथा नया गढा जाता है वह प्रवाहरूपसे पहले था ही नहीं।

प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमिति चेत्।

दर्शन और स्मरणको कारण मानकर उत्पन्न हुए पहिली और वर्तमान पर्यायको जोडरूपसे विषय करनेवाले ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे कि यह वही देवदत्त है। यह गवय (रोझ) गौके सदृश है। इसी प्रकार यहां भी यह वही गकार है। ऐसी प्रमाणात्मक प्रत्यभिज्ञा होती है अतः उच्चारणके पहिले भी शब्द विद्यमान था। यदि आप (मीमांसक) ऐसा कहोगे? तो आचार्य कहते हैं कि देखो—

तत्सादृश्यनिबन्धनमेकत्वनिबन्धनं वा?।

प्रत्यभिज्ञानके कई भेद हैं। उनमें आप सदृशपनेको कारण मानकर उत्पन्न हुए सादृश्यको जाननेवाले उस प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यता सिद्ध करते हैं? या एकपनेको कारण मानकर पैदा हुए "यह वही है" ऐसे एकताको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी प्रवाहनित्यता सिद्ध करते हैं? बताओ—

न तावदाद्यः पक्षः सादृश्यनिबन्धनात्प्रत्यभिज्ञानादेकशब्दप्रवाहासिद्धेः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उन दोनों पक्षोंमें आपका माना हुआ पहिला पक्ष ठीक नहीं है । क्यों कि सदृशताका अवलम्ब करनेवाले प्रत्यभिज्ञानसे यह वही शब्द है, ऐसी एकताको पुष्ट करनेवाली प्रवाहनित्यता की सिद्धि नहीं हो सकती है । सदृशपना तो भिन्न पदार्थोंमें पाया जाता है ।

द्वितीयपक्षे तु कुतस्तदेकत्वनिबन्धनत्वसिद्धिः ।

यदि आप एकत्वप्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यताको मानते हुए दूसरा पक्ष स्वीकार करोगे तो शब्दके पूर्वापर एकपनेको कारण मानकर उत्पन्न हुए यह वही शब्द है ऐसे प्रत्यभिज्ञानको प्रमाणपनेके कारण एकपनेकी सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात्—यह प्रत्यभिज्ञान पहिले पिछले शब्दके एकपनेको ही कारण मानकर प्रमाणस्वरूप उपजा है यह कैसे निर्णय किया जाय ? समझाओ ।

स एवायं शब्द इत्येकशब्दपरामर्शिप्रत्ययस्य बाधकाभावात्तन्निबन्धनत्वसिद्धिस्तत एव नीलज्ञानस्य नीलनिबन्धनत्वसिद्धिवदिति चेत् ।

मीमांसक कहते हैं कि यह वही शब्द है ऐसे पहिले और पीछेके उच्चारित शब्दोंमें एकपने का विचार करनेवाले ज्ञानका कोई बाधक नहीं है । उस कारण प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताका प्रयोजक एकत्वरूप कारणसे ही उत्पन्न होनेपनेकी सिद्धि हो जावेगी जैसे कि पूर्वमें नीले रंगकी चीज है ऐसा ज्ञान होता है । यहां भी बाधारहित प्रत्यभिज्ञानसे नीलके ज्ञानमें उसी पूर्वकी नील वस्तुको कारणपना सिद्ध किया गया है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे ?

स्यादेवं यदि तदेकत्वपरामर्शिनः प्रत्ययस्य बाधकं न स्यात् स एवायं देवदत्त इत्याद्येकत्वपरामर्शिप्रत्ययवत्, अस्ति च बाधकं नानागोशब्दो बाधकाभावे सति युगपद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानत्वाद्वनबृक्षादिवत् इति ।

यों इस प्रकार तब कह सकते है । कि पहिले देखे हुए देवदत्तको पुनःदेखने पर यह वही देवदत्त ऐसा एकत्वको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान जिस प्रकार बाधारहित है, यदि उसीप्रकार पूर्वापर अवस्था में शब्दके एकपनेका निश्चय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानमें कोई बाधक उपस्थित न होता तो अवश्य ही उस प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यता सिद्ध हो जाती, किंतु शब्दमें नित्यताके ज्ञानका बाधक तो यह अनुमान विद्यमान है कि "नाना व्यक्तियोंके द्वारा अनेक देशोंमें बोले हुए गोशब्द अनेक हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि अनेकपनेका बाधक प्रमाण न होते सन्ते एक ही समयमें भिन्न भिन्न देशोंमें स्थित हो रहे सुनायी पड रहे हैं । (हेतु) जो बाधासे रहित होकर एक कालमें अनेक देशोंमें रहते हुए दीखते हैं, वे पदार्थ अनेक हैं, जैसे कि ढाक के पेड, घट, पटादि अनेक वस्तुएँ नाना हैं (अन्वयदृष्टान्त) ।

न तावदिदमेकेन पुरुषेण क्रमशोऽनेकदेशतयोपलभ्यमानेनानैकान्तिकं, युगपद्ग्रहणात्, नाप्येकेनादित्येन, नानापुरुषैः सकृद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानेन, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेकपुरुषेण वा, नानाजलपात्रसंक्रान्तादित्यबिम्बेन प्रत्यक्षतो दृश्यमानेनेति वक्तुं युक्तम्, बाधकाभावे सतीति विशेषणात् । नह्येकस्मिन्नादित्ये सर्वथा भिन्नदेशतयोपलभ्यमाने बाधकाभावः, प्रतिपुरुषमादित्यमालानुपलम्भस्य बाधकस्य सद्भावात् ।

सम्भवतः एक देवदत्तको मंदिरमें देखा, घण्टेभर पश्चात् बाजारमें देखा, पुनः एक घण्टे पीछे घरमें देखा, तो क्रमसे भिन्नदेशोंमें दीख जानेसे वह एक ही देवदत्तपुरुष क्या अनेक माना जावेगा? इस प्रकार हेतुके रहनेपर साध्यका न रहनारूप व्यभिचार तो हम स्याद्वादियोंके इस हेतुमें नहीं है, क्योंकि हमारे हेतुके शरीरमें "युगपद्" विशेषणका ग्रहण है। एक समयमें ही जो नानादेशोंमें दीखेगा, वही अनेकरूप होगा। देवदत्त तो भिन्न भिन्न कालोंमें नानादेशोंमें देखा गया था, अतः हेतु व्यभिचारी नहीं है। तथा और भी हेतुके विशेषणोंकी कीर्ति करनेके लिये पुनः तीन व्यभिचार उठाये जाते हैं, पहिला तो नानादेशोंमें स्थित अनेक पुरुषोंके द्वारा भिन्न भिन्न देशोंमें स्थितस्वरूप देखे गये एक सूर्यसे व्यभिचार है। अर्थात् बम्बईमें बैठा हुआ मनुष्य सूर्यको अपने महलके ठीक ऊपर देखता है और कलकत्तेमें बैठा हुआ अपनी कोठी पर समझता है। तथा उसी समय सहारनपुरमें अपने अपने घरोंके ऊपर सूर्य दीखता है, क्या इस प्रकार भिन्न भिन्नदेशोंमें एकसमयमें दीख जानेसे सूर्यविमान अनेक हो जावेंगे? दूसरा सम्भाव्यमान व्यभिचार यह है कि जिनदत्तने एक पुरुषको प्रत्यक्षसे ठीक स्थानपर देखा और चन्द्रदत्तने अनुमानद्वारा एक गज हटे हुए स्थानपर उस पुरुषको देखा, एतावता क्या वह पुरुष नाना होजावेगा?

तीसरा व्यभिचार इस प्रकार है कि जलके भरे हुए थोडी थोडी दूर पर रखे हुए अनेक बर्तन हैं, उन पात्रोंमें सूर्यके अनेक प्रतिबिम्ब पड रहे हैं, क्या ऐसी दशामें प्रत्यक्षरूपसे अनेक देशोंमें देखे हुए सूर्यके प्रतिबिम्ब अनेक हो जावेंगे?। अथवा इन पंक्तियोंका दूसरा अर्थ तीन दोष न देकर एक सूर्यमें ही व्यभिचार देना है। मीमांसक लोग सूर्यके प्रतिबिंबोंके देखनेमें भी सूर्यको ही देखना मानते हैं। कुमारिल भट्टका मत है कि चमकती हुई वस्तुसे टकराकर आखोंकी किरणें अनेक सोतरूपसे फैल जाती हैं, जलसे भरे हुए पात्रमें नीचेको मुख कर देखनेसे सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं दीखता है किंतु जलसे टकरा कर हमारी आखोंकी किरणें आकाशमें स्थित सूर्यको ही देख रही हैं। इनके यहां प्रतिबिम्बको पुद्गलकी वस्तुभूत पर्याय नहीं माना गया है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारके उक्त व्यभिचार हमारे हेतुमें नहीं आसकते हैं, क्योंकि स्याद्वादियोंने हेतुमें बाधकाभाव विशेषण दे रखा है। भिन्न भिन्न देशस्थ दीखते हुए सूर्यमें सर्वप्रकारसे बाधकाभाव नहीं है, अर्थात् बाधक है। क्या एक सूर्य एकसमयमें भिन्न भिन्न देशोंसे वहीं दीख सकता है? यह हमारी

दृष्टिका दोष है कि हम उस देशके तारतम्यको दूरदेशसे जान नहीं सकते हैं। हर एक पुरुषको अनेक सूर्योंकी पंक्तिका न दीखना ही सूर्योंकी अनेकताका बाधक प्रमाण विद्यमान है, अतः बाधक-प्रमाणसे रहित होकर जो अनेक देशोंमें विद्यमान दीखेगा, वह अनेक अवश्य है, सूर्यका अनेक देशोंमें दीखना बाधित होनेसे मिथ्याज्ञान है, इसी प्रकार उक्त दो स्थलोंका व्यभिचार भी निवृत्त हो जाता है।

पर्वतादिनैकेन व्यभिचारीदमनुमानमिति चेत् न, तस्य नानावयवात्मकस्य सतो बाधकाभावे सति युगपद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानत्वं व्यवतिष्ठते, निरवयवत्वे तथाभावविरोधादेकपरमाणुवत्।

प्रतिवादी कह रहा है कि एक हिमालय पहाडको किसी व्यक्तिने शिमलामें देखा दूसरेने उसी समय मंसूरीमें देखा तो क्या वे पहाड अनेक हैं ? इस प्रकार शब्दको नाना सिद्ध करनेवाला आप जैनोंके अनुमानका हेतु एक माने जा रहे पर्वत, नदी, देश आदिसे व्यभिचारी हो जावेगा, आचार्य कहते हैं कि, मीमांसकोंका यह दोष भी देना ठीक नहीं है, क्योंकि वे पर्वत, नदी, आदि अवयवी अपने अपने अनेक अंशोंसे तदात्मक-युक्त होकर ही एक समयमें भिन्न भिन्न देशोंमें स्थित बाधारहित होते सन्ते दीखते हैं, यह निर्दोष सिद्धान्त व्यवस्थित हो रहा है। अतः अपने अवयवोंकी अपेक्षासे पर्वतादि अनेक ही हैं, हेतु और साध्य इन दोनोके रहनेपर व्यभिचार नहीं हो सकता है। यदि पहाडों नदिओंको एक परमाणुके समान अवयवरहित मानोगे तो जिस प्रकार अनेक देशोंमें दीख रहे हैं उतने लम्बे चौडे एक अवयवीपनाका विरोध हो जावेगा। आप मीमांसक लोग बौद्धोंके समान अवयवीपदार्थका खण्डन नहीं करते हैं किंतु अवयवीको मानते हैं, अतः पर्वतादिकसे व्यभिचार दोष नहीं आता है।

व्योमादिना तदनैकान्तिकत्वमनेन प्रत्युक्तं,तस्याप्यनेकप्रदेशत्वसिद्धेः। खादेरनेकप्रदेशत्वादेकद्रव्यविरोध इति चेत्, न नानादेशस्यापि घटादेरेकद्रव्यत्वप्रतीतेः, न ह्येकप्रदेशत्वेनैवैकद्रव्यत्वं व्याप्तं येन परमाणोरेवैकद्रव्यता, नापि नानाप्रदेशत्वेनैव यतो घटादेरेवेति व्यवतिष्ठते एकद्रव्यत्वपरिणतस्यैकद्रव्यता, नानाद्रव्यत्वपरिणतानामर्थानां नानाद्रव्यतावत्।

पुनः मीमांसकोंका कहना है कि आप जैनोंका अनेकत्वको सिद्ध करनेवाला वह हेतु तो आकाश और दिशा आदिसे व्यभिचारी है, क्योंकि वे एक होकर भी अनेकदेशोंमें नानापुरुषोंके द्वारा जाने जाते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह मीमांसकोंकी ओरसे उठाया हुआ दोष भी पूर्वोक्त प्रकारसे ही निराकृत होजाता है, क्योंकि आकाश आदि द्रव्योंको अनेकप्रदेशीपना सिद्ध है। भरत-क्षेत्र सम्बन्धी आकाशके प्रदेशोंसे विदेहक्षेत्रके आकाशके प्रदेश भिन्न हैं। ऊर्ध्वलोकके प्रदेशोंसे

अधोलोकके प्रदेश न्यारे हैं, तथाच आकाशमें भी प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनेकपना सिद्ध ही है। इस प्रकार हेतु और साध्य दोनोंके विद्यमान होनेपर व्यभिचार दोष नहीं आता है किन्तु हेतु पुष्ट ही होता है।

यदि मीमांसकोंका यह कहना होय कि आकाश आदिके अनेक प्रदेश माननेसे तो आकाश आदिके एकद्रव्यपनेका विरोध हो जायगा, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक हाथ भूमिमें रखे हुए घटपटादिकोंको भी आप मीमांसकोंने एकद्रव्यपना माना है, यही बात प्रामाणिक प्रतीतिओंसे सिद्ध है। जो एक ही प्रदेशमें रहता है, वह ही एक द्रव्य है ऐसी कोई व्याप्ति सिद्ध नहीं है जिससे कि परमाणुकोही एकद्रव्यपना सिद्ध हो सके, और यह भी व्याप्ति नहीं है कि जो जो अनेक प्रदेशोंमें रहते हैं, वे ही एक द्रव्य हैं जिससे कि घट, पट, आदिकको ही एकद्रव्यपना व्यवस्थित होता, दूसरा नियम माननेमें काल परमाणु और पुद्गल परमाणुको द्रव्यपना सिद्ध न होसकेगा, तथा अनेकदेशोंमें रहनेवाले ग्राम, नगर, मेला आदिको भी एक द्रव्यपनेका अतिप्रसंग होजावेगा। मीमांसक लोग घरोंके अत्यंत निकट संयोगको ग्राम कहते हैं और इसी प्रकार नगर, मेला, सेना, आदिको भी संयोगरूप गुणपदार्थ मानते हैं, अतः एक द्रव्यपनेके पूर्वोक्त दोनो लक्षण ठीक नही है, एक द्रव्यपनेका सिद्धान्तलक्षण यह है कि चाहे एक प्रदेशमें रहनेवाला पदार्थ हो और भले ही अनेक देशोंमें स्थित हो, यदि उसका द्रव्यपनेरूप अखण्ड सम्बन्धको लिये हुए परिणाम होगया है, उसको एकद्रव्य कह देते हैं, अनेक गुण या अनेक बन्ध योग पदार्थोंकी कथञ्चित्तादात्म्य संबन्धसे होनेवाली परिणतिसे उस एकद्रव्यपनेकी व्याप्ति देखी जाती है। जैनसिद्धांतमें कर्म नोकर्मसे बंधको प्राप्त संसारी जीवको तथा सजातीय पुद्गलोंसे बंधे हुए अनेकदेशी घटपटादिकोंको भी अशुद्ध द्रव्य माना है। संपूर्ण जनतामें भी यह बात प्रसिद्ध है कि अनेकद्रव्यपनेरूप विष्वग्भावपनेसे परिणत भिन्न भिन्न देवदत्त, जिनदत्त, सूर्य, चन्द्रमा आदिको जैसे नानाद्रव्यपना है, उसी प्रकार खण्डित एकप्रदेशमें रहनेवाले या अखण्डित अनेक देशोंमें रहनेवाले अविष्वग्भाव सम्बन्ध रूप एकत्वपरिणतिसे युक्त परमाणु, कालाणु, आत्मा, आकाश, घट, पर्वत, आदि प्रत्येक द्रव्यको भी एकद्रव्यता प्रसिद्ध हो रही है।

स्यादेतद्बाधकाभावे सतीति हेतुविशेषणमसिद्धं गौरित्यादिशब्दस्य सर्वगतस्य युगपद्व्यञ्जकस्य देशभेदाद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानस्य स्वतो देशविच्छिन्नतयोपलम्भासम्भवादिति, तदयुक्तम्। तस्य सर्वगतत्वासिद्धेः कूटस्थत्वेनाभिव्यंग्यत्वप्रतिषेधाच्च।

मीमांसकोंका इस प्रकरणपर यह कहना सम्भव है कि जैनोंका अनेकत्वको सिद्ध करनेवाला पूर्वोक्त अनुमान घरपट आदि पदार्थोंमें तो ठीक है किन्तु गोशब्दरूप पक्षमें हेतुका बाधकाभावके होते संते यह विशेषण नहीं दीखता है किन्तु गो, घट, आदि शब्द सर्व स्थानोंमें व्यापक हैं। उन शब्दोंको

एक समयमें प्रकट करनेवाले वायुविशेष ही भिन्न भिन्न देशोंमें रहते हैं। अतः व्यापक भी एक शब्दव्यञ्जक वायुओंके अधीन होकर अनेक देशोंमें जाना जाता है। अखण्ड शब्दका अपने स्वरूपसे खण्ड खण्ड होकर नानादेशोंमें सुनायी पडता सम्भव नहीं है। जब बाधारहित होकर भिन्न देशोंमें दीखनारूपहेतु शब्दमें असिद्ध है फिर बलात्कारसे [जबर्दस्ती] जो शब्दमें अनेक पनेका बोझ क्यों लादा जाता है ? बताओ, यहांतक मीमांसकोंके कह जानेपर आचार्य कहते हैं कि वह मीमांसकोंका कथन युक्तिरहित है क्यों कि सींग और साखासे युक्त पशुको कहनेवाले उस गो शब्दका सर्वव्यापकपना असिद्ध है। उत्पन्न और नष्ट होते हुए अनेक गोशब्दही बाल-वृद्धोंको अनेकदेशोंमें सुनायी पड रहे हैं। मीमांसक लोगोंने शब्दके कूटस्थ नित्यपना भी माना है। ऐसी दशामें वायुके द्वारा प्रकट हो जानेपनेका भी निषेध करना पडेगा क्योंकि कूटस्थ पक्षमें नहीं प्रकट अवस्थासे पुनः प्रकट अवस्थामें आना बन नहीं सकता है।

सर्वगतः शब्दो नित्यद्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवदित्येतदपि न शब्दसर्वगतत्वसाधनायालं जीवद्रव्येणानैकान्तिकत्वात्, तस्यापि पक्षीकरणान्न तेनानैकान्त इति चेन्न प्रत्यक्षादि विरोधात्। श्रोत्रं हि प्रत्यक्षं नियतदेशतया शब्दमुपलभते, स्वसंवेदनाध्यक्षं चात्मानं शरीरपरिमाणानुविधायितयेति कालात्ययापदिष्टो हेतुस्तेजोनुष्णत्वे द्रव्यत्ववत्।

मीमांसक लोगोंने शब्दको व्यापक सिद्ध करनेके लिए यह अनुमान किया है कि शब्द (पक्ष) सम्पूर्ण स्थानोंमें व्यापक है (साध्य) क्योंकि वह नित्यद्रव्य होकर अमूर्त है। (हेतु) जो जो नित्यद्रव्य होकर अमूर्त यानी अपकृष्ट परिमाणवाला है वह व्यापक है, जैसे आकाश अन्वय दृष्टान्त है इस हेतुमें नित्यद्रव्य विशेषणसे घट, पट आदि अनित्य द्रव्योंमें और गुणक्रियादिकोंमें व्यापकपनेका व्यभिचार नहीं हो पाता है। तथा अमूर्त कहनेसे परमाणुओंमें हेतुका व्यभिचार नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका मीमांसापूर्वक दिया गया हेतु भी शब्दको सर्वगतपनेके साधन करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि जीवद्रव्यसे व्यभिचार हो जावेगा। देवदत्त, जिनदत्त आदि जीव नित्यद्रव्य हैं और अमूर्त भी हैं किन्तु व्यापक नहीं हैं। यदि जीव द्रव्यसे व्यभिचार न हो इसलिए जीवको भी पक्षकोटीमें लाकर व्यापक सिद्ध करोगे, यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द और आत्मारूप पक्षमें व्यापकपना मानना प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे विरुद्ध है, कर्णेन्द्रियसे होनेवाला प्रत्यक्ष शब्दको नियत देशमें स्थितिको ही सुनता है और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्माको अपने अपने शरीरके लम्बाई, चौडाई और मोटाईके अनुसार परिमाणवाला जानता है। कोई भी प्रत्यक्ष या अनुमान और आगम इन शब्द और आत्माको व्यापक नहीं जानते हैं। अतः अग्निको ठण्डापन सिद्ध करनेमें जैसे द्रव्यत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है। उसी

प्रकार नित्यद्रव्य होकर अमूर्त्तपना हेतु भी शब्दको व्यापक सिद्ध करनेमें दोनों या तीनों प्रमाणोंसे बाधित हो रहा कालात्ययापदिष्ट नामका हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्धश्च सर्वथानित्यद्रव्यत्वामूर्त्तत्वयोर्धर्मिण्यसम्भवात्, तथा हि-परिणामी शब्दो वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः, न वस्तुनः प्रतिक्षणविवर्त्तनैकेन व्यभिचारस्तस्य वस्त्वेकदेशतया वस्तुत्वाव्यवस्थितेः, न च तस्यावस्तुत्वं वस्त्वेकदेशत्वाभावप्रसंगात्, वस्तुत्वस्यान्यथानुपपत्तिरसिद्धेति चेन्नैकान्तनित्यत्वादौ पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्थितिलक्षणपरिणामाभावे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद्वस्तुत्वासम्भवादिति नैकान्तनित्यः शब्दः।

और शब्द को सर्वगत सिद्ध करनेमें दिया गया हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि शब्दरूपी पक्षमें सर्वथा ही नित्यद्रव्यपना और मूर्तिरहितपना धर्म नहीं ठहरता है असम्भव है। वास्तवमें देखा जाय तो शब्द पुद्गलद्रव्यकी थोडी देर ठहरनेवाली पर्याय है और पौद्गलिक होनेसे शब्द परिमितपरिणाम या रूपादिवाला होकर मूर्त्त भी है। इसी बातको आचार्य अनुमान द्वारा स्पष्टरूपसे कहते हैं:—"शब्द परिणामी है क्योंकि परिणामके विना शब्दमें वस्तुपना नहीं बन सकता है"। यहां कोई दोष देता है कि प्रत्येकक्षणमें होनेवाली रूपादिकगुणों की काली, नीली एक एक पर्यायें भी तो वस्तु हैं किन्तु पर्यायोंमें पुनः दूसरे परिणाम तो नहीं माने गये है। अतः एक पर्यायमें हेतुके रहने और साध्यके न रहनेसे व्यभिचार हुआ ? आचार्य कहते हैं कि यह व्यभिचार दोष जैनोंके हेतुमें नहीं है क्योंकि जैन लोग संसारी जीव, जिनदत्त, मृत्तिका, सुवर्ण आदि अशुद्ध द्रव्योंको और परमाणु, कालाणु, आदि द्रव्योंको परिपूर्ण वस्तुपना मानते हैं। उक्त द्रव्यों की एक एक समयमें होनेवाली उस केवल पर्यायको वस्तुका एकदेश मानते हैं, परिपूर्ण वस्तुपना वहाँ व्यवस्थित नहीं है, जैसे कि समुद्रके एकदेशको समुद्र नहीं माना जाता है। और असमुद्र भी नहीं कहा जाता है किंतु वह समुद्रका एकदेश है। अतः केवल एकपर्यायमें हेतु और साध्य दोनोंके न रहनेसे व्यभिचार दोष नहीं है। पुनः यहाँ कोई कहे कि प्रत्येक क्षणकी काली, नीली, पर्यायोंको आप वस्तु नहीं मानते हैं तो घोडेके सींग समान उन पर्यायोंको अवस्तुपना आवेगा, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि पर्याय बंध्यापुत्रके समान अवस्तु होती तो वस्तुका एकदेश भी न हो सकती थी, खरविषाणके समान अवस्तुको वस्तुके एकदेशपनेका भी अभाव माना गया है। क्या समुद्रका टुकडा (बंगाल की खाडी) समुद्रका एकदेश नहीं है ?। भावार्थ पर्यायको यदि सर्वथा अवस्तुपना माना जावेगा तो वस्तुके एकदेशपनेके अभावका भी प्रसंग हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

पश्चात् यहाँ कोई कहै कि वस्तुत्वहेतुकी परिणामसहितपनेके साथ साध्यके विना हेतुका न रहना स्वरूपव्याप्ति असिद्ध है, ऐसा कहना भी तो ठीक नहीं, क्योंकि परिणामके विना वस्तुपना

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आता ही नहीं, पदार्थमें परिणाम (विकास) न मानकर जो एकांतरूपसे पदार्थको नित्य या सर्वथा अनित्य या एक, अनेक, उभय, आदि मानते हैं उनके मतमें पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और कालांतर स्थायी पर्यायोंसे स्थित रहनारूप परिणाम नहीं बनेगा, जब उक्त सिद्धांत लक्षणवाला परिणाम ही न बनेगा, तब एक समयमें साथ होनेवाली या क्रमसे अनेक समयोंमें होनेवाली वस्तुकी अर्थक्रियाओंका भी विरोध होगा और जब एक समयमें या क्रमसे स्नान, पान, अवगाहन अर्थोंकी परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप क्रियाएँ ही न होगीं तो जलादिकों-में वस्तुपना कैसे सम्भव हो सकता है ?। अर्थात् वस्तु उसे ही कहते हैं, जो वर्तमान और भूत, भविष्यत्में अनेक अर्थक्रियाओंको करती हैं। अर्थक्रिया करनेमें वस्तुको पहिले क्षणिक स्वभाव छोडने पडते हैं और नयी सदृश या असदृश लेंते ग्रहण करनी पडती हैं । तथा द्रव्यरूपसे अन्वय भी बना रहता है, ये अवस्थायें सर्वथा नित्य या अनित्यपक्ष में बन नहीं सकती है अतः आप मीमांसक शब्दको एकांतरूपसे नित्य नहीं मान सकते हैं ।

नापि सर्वथा द्रव्यं पर्यायात्मतास्वीकरणात्, स हि पुद्गलस्य पर्यायः क्रमशस्तत्रोद्भवत्वाच्छायातपादिवत्, कथञ्चिद्द्रव्यं शब्दः क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत् धात्वर्थलक्षणया क्रियया क्रियावता गुणादिनानैकान्त इति चेन्न परिस्पन्दरूपया क्रियया क्रियावत्त्वस्य हेतुत्ववचनात् । क्रियावत्त्वमसिद्धमिति चेन्न, देशान्तरप्राप्तया तस्य तत्सिद्धेरन्यथा बाणादेरपि निष्क्रियत्वप्रसंगान्मतान्तरप्रवेशाच्च ततो द्रव्यपर्यायात्मकत्वाच्छब्दस्यैकान्तेन द्रव्यत्वासिद्धिः ।

शब्दको सर्वगत सिद्ध करनेके लिए मीमांसकोंने नित्यद्रव्यपना अमूर्तरूप हेतुका विशेषण दिया था। उसमेंसे शब्दकी नित्यताका तो खण्डन हो चुका। अब द्रव्यपनेका भी खण्डन करते हैं कि शब्द सर्वथारूपसे द्रव्य नहीं है क्योंकि शब्द पुद्गलद्रव्यकी पर्यायस्वरूप है। शब्दमें पुद्ग-लका पर्यायपना भी असिद्ध नहीं है। इसका अनुमान करते हैं कि "शब्द पुद्गलकी पर्याय है क्योंकि क्रम क्रमसे नाना विकासोंको करता हुआ शब्द पुद्गलमें उपादेयरूपसे पैदा होता है, जैसे कि छाया, धूप, द्योत आदिक पुद्गलकी पर्यायें हैं"। साधारण मनुष्य समझता है कि ताली बजाते ही शीघ्र शब्द बन जाता है। नाभिस्थानसे कण्ठ तालु द्वारा वायुके निकालनेपर गकार आदि शब्द बन जाते हैं और सूर्य, चन्द्रमाके निकलतेही धूप और चांदनी बन जाती है। यह उसका समझना ठीक नहीं है क्योंकि अनेक समयोंमें कारण-क्रिया-संतानके द्वारा शब्द, धूपादिकी उत्पत्ति होती है। अतः वे कारणोंसे आत्मलाभ करते हुए पर्यायें हैं। सर्वथा द्रव्य नहीं हैं । जैनसिद्धांत में शब्दको कथञ्चिद् द्रव्य भी स्वीकार किया है क्योंकि पर्यायोंमें तो अन्य पर्यायें होती नहीं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किंतु शब्द देशसे देशांतरको जाता है अतः बाण, लोष्ट आदिके समान क्रियावान् होनेसे शब्द क्रिया रूप पर्यायका धारी होता हुआ कथञ्चिद् द्रव्य भी है।

जो जो क्रियावान् होते हैं, वे वे कथञ्चिद् द्रव्य भी होते हैं। ऐसी व्याप्तिमें कोई व्यभिचार दोष देता है कि पीला रूप उत्पन्न होगया, मीठापन बढ गया, सुगंध स्थित है, भ्रमण करता है। इस प्रकार पद, वृधु, अस्, डुकृञ् आदि धातुओंके अर्थ स्वरूप उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति और करण रूपक्रियाएँ रूपादिगुणोंमें और भ्रमण आदि कर्मोंमें भी विद्यमान हैं। क्रियावाची भू आदि ही धातु संज्ञक माने गये हैं। अतः गुण या कर्म रूपादिकमें क्रिया सहितपना होनेसे द्रव्यपना हो जावेगा। यह हेतुके ठहरने और साध्यके नहीं रहनेके कारण व्यभिचार हुआ। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकरणमें धातुओंके अर्थरूप क्रियाओंको द्रव्य सिद्ध करनेमें क्रिया नहीं माना गया है किंतु देशसे देशान्तर करनेवाली हलन, चलन, कम्पन, भ्रमणरूप क्रियाओंके सहितपनेको हेतु कहा गया है निश्चल भावोंसे सत्पुरुषोंकी गादीके अभिप्राय अनुसार हेतुको समझकर पुनः व्यभिचार उठाना चाहिए।

यहां कोई शब्दमें उक्त क्रियासे सहितपने रूप हेतुकी असिद्धि बतलावें अर्थात् पक्षमें हेतु नहीं रहता है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्दका वक्ताके मुखप्रदेशसे श्रोताके कानोंतक पहुंचना या मेघगर्जनका हमारे कानोंतक आना विना क्रियाके सिद्ध नहीं है। यदि क्रियाके विना भी देशसे देशान्तर हो जाय तो बाण, गोली आदिको भी क्रियारहितपनेका प्रसंग आ जावेगा। ऐसा माननेपर बौद्ध लोगोंके मत-का भी प्रवेश होता है अर्थात् बुद्धमतानुयायी जन क्रियासे सहित एक अन्वेता द्रव्यको तो मानते नहीं है क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाली पर्यायोंको ही स्वीकार करते हैं। एक वही बाण पचास गजतक नहीं जाता किन्तु पचास गज लम्बे प्रत्येक आकाशके प्रदेशपर नया नया बाण पैदा होता जाता है। वह बाणकी सन्तान स्वयं क्रियारहित है। मीमांसक, नैयायिक और जैनलोग तो उक्त बौद्ध प्रक्रियाका खण्डन करते हैं। उस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि कथञ्चिद् द्रव्य और बहुभाग पर्यायस्वरूप ही शब्द है। अतः सर्वथा द्रव्यपना शब्दमें सिद्ध नहीं हो सकता है। भाट्टोंका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

अमूर्त्तत्वं चासिद्धं तस्य मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायत्वात्। मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायोऽसौ सामान्य-विशेषवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियविषयत्वाद्रातपादिवत्। न च घटत्वादिसामान्येन व्यभिचारः, सामान्यविशेषवत्त्वे सतीति विशेषणात्परमतापेक्षं चेदं विशेषणं। स्वमते घटत्वादिसामान्य-स्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वेन स्थितेस्तेन व्यभिचाराभावात्। कर्म्मणानैकान्तिक इति चेन्न तस्यापि द्रव्यपर्यायात्मकत्वेनेष्टेः, स्पर्शादिना गुणेन व्यभि-चारचोदनमनेनापास्तम्।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मीमांसकोंने शब्दका व्यापकपना सिद्ध करनेके लिये नित्यद्रव्य होकर अमूर्त्तपना हेतु दिया था, उसमेंसे शब्दरूपी पक्षमें सर्वथा नित्यत्व और द्रव्यत्वकी असिद्धि बतला दी, अब अमूर्त्तत्वको भी असिद्ध करते हैं। शब्द मूर्तिरहित नहीं है क्योंकि वह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण स्वरूप मूर्तिवाले पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है, अतः मूर्त है। शब्दको पुद्गलकी पर्यायपना कोई असिद्ध न करे, इसलिये अनुमान करते हैं कि "शब्द मूर्तिमान् द्रव्यका ही परिणाम है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सामान्यके विशेषोंसे सहित होता सन्ता बाह्य इन्द्रियोंका विषय हैं, (हेतु) जो जो व्यापक सामान्य मानी गयी सत्ताके व्याप्य (अल्पदेशमें रहने वाले,) द्रव्यत्व, गुणत्व, शब्दत्व आदि विशेषजातियोंसे, सहित होकर बहिरंग इंद्रियोंसे जाने जाते है, वे अवश्य ही मूर्तिमान् पुद्गलद्रव्यकी पर्याय होते हैं, जैसे कि धाम (धूप,) अन्धकार आदि विकार पुद्गल द्रव्यके हैं " (अन्वयदृष्टान्त)

इस हेतुमें कोई नैयायिक व्यभिचार दोष उठाता है कि " येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतसामान्यमपि गृह्यते " जिस इंद्रियसे जो जाना जाता है, उसमें रहनेवाली जाति भी उसी इन्द्रियसे जानी जाती है, जैसे घटको चक्षुः इन्द्रियसे जाना तो घटमें रहनेवाली घटत्वजाति भी आंखोंसे ही जानी जावेगी, इस नियमके अनुसार बाह्य इंद्रियोंसे घटत्व, रूपत्व, रसत्व आदि जातियां भी प्रतीत होती हैं। किंतु उनमें पुद्गलद्रव्यकी पर्यायपनारूप साध्य नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकारका व्यभिचार दोष हमारे हेतुमें नहीं होसकता है क्योंकि हमने हेतुका विशेषण अपरसामान्यसे सहितपना दे रक्खा है, मीमांसकों और नैयायिकोंने घटत्व आदि जातियोंमें रहनेवाली पुनः दूसरी कोई जाति नहीं मानी हैं " जातौ जात्यन्तरानङ्गीकारात् " अतः पूर्ण हेतुके न घटनेसे साध्यके न रहनेपर व्यभिचार दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि हेतुमें अपरसामान्योंसे सहितपना रूप विशेषण तो दूसरे मीमांसक और नैयायिकके मतोंकी अपेक्षासे दिया है, क्योंकि ये लोग जातिमें पुनः जात्यन्तर नहीं मानते हैं, और जातिरूप सामान्यको पुद्गलका विकार भी नहीं मानते हैं किंतु हमारे मत अनुसार जैनसिद्धांतमें घटोंमें रहनेवाले सदृशपरिणामोंको ही घटत्व आदि सामान्य माना है। अनेक समान व्यक्तियोंमें रहने वाले सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्यको और अनेक कालमें एक व्यक्तिमें रहनेवाले घट आदिकी पूर्वापर काल व्यापक सदृशतारूप उर्ध्वतासामान्यको भी पुद्गलकी ही पर्याय माना है, हम लोग नित्य और एक होकर अनेक व्यक्तियोंमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले सामान्यको नहीं मानते हैं, अतः स्याद्वादियोंके मतसे घटत्वसामान्यमें भी हेतु रह गया और साध्य भी रह गया, इस कारण व्यभिचार दोषकी सम्भावना नहीं है। सामान्य भी द्रव्यका पर्याय स्वरूप व्यवस्थित है।

अब यहां कोई शब्दको पौद्गलिक सिद्ध करनेवाले हेतुमें पुनः व्यभिचार देता है कि गमन, भ्रमण, आकुञ्चन आदि कर्म भी सत्तासमान्यकी व्याप्य हो रही कर्मत्वजातिसे सहित है, और

बहिरङ्ग चक्षुः स्पर्शन इन्द्रियोंसे भी जाने जाते हैं किन्तु कर्म (परिस्पंदक्रिया) पुद्गलकी पर्याय नहीं है, वैशेषिकोंके मतमें कर्म स्वतन्त्र पदार्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्मको भी जीव और पुद्गल द्रव्यकी पर्यायरूपता इष्ट की गयी है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं किंतु जैनसिद्धान्तमें ये सब जीव आदि द्रव्योंके पर्यायरूप अंश हैं। हेतु रहगया तो साध्य भी ठहर गया।

उक्त कथनके द्वारा स्पर्श, रस, आदि गुणोंकरके भी साभिमान दिया गया व्यभिचार हटा दिया जाता है कारण कि स्पर्श आदि गुण भी स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं किंतु पुद्गलद्रव्यके ही विकार हैं। द्रव्यकी सहभावी पर्यायोंको गुण कहते हैं।

ततो हेतोरसिद्धिरेवेति नातोऽभिलापस्य सर्वगतत्वसाधनं यतो युगपद्भिन्नदेशतयोपलभ्यमानता अस्याबाधिता न भवेत्, प्रत्यभिज्ञानस्य वा तदेकत्वपरामर्शिनोऽनुमानबाधितत्वेन पुरुषव्यापारात्प्राक् सद्भावावेदकत्वाभावात्तदभिव्यंग्यत्वाभाव इति तज्जन्यमेव वचनं सिद्धं पर्यायार्थतः पौरुषेयम्।

नैयायिकों या वैशेषिकोंने शब्दको गुण पदार्थ माना है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंको वे मूर्त्त मानते हैं। शब्दको अमूर्त्त मानते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिकूल वायुसे शब्दका अवरोध हो जाता है। अनुकूल वायुसे शब्दके आनेमें प्रेरणा होती हैं। ढोलकी आवाजमें तूतीकी आवाज छिप जाती है। गुफा आदिमें शब्दका आघात होकर प्रतिध्वनि सुनायी पडती है। महान् शब्दोंसे गर्भ गिर जाते हैं। कान फट जाते हैं। उस कारणसे सिद्ध हुआ कि मूर्त्त शब्द मूर्त्तिमान् पुद्गलद्रव्यकी अनित्य पर्याय है। मीमांसकोंने शब्दको सर्वत्र व्यापक सिद्ध करनेके लिये नित्यद्रव्य होकर अमूर्त्तपना जो हेतु दिया था, वह शब्दरूप पक्षमें न रहनेसे असिद्ध हेत्वाभास ही है। इस हेतुसे शब्दका व्यापकपना जब सिद्ध न हुआ तो जैनोंकी ओरसे शब्दके नानात्वको सिद्ध करनेके लिये दिये गये एक समयमें भिन्न भिन्न देशोंमें सुनायी देनेरूप इस हेतुका बाधारहितपना विशेषण क्यों नहीं सिद्ध होगा ? और जब बाधारहित भिन्नदेशोंमें भी उसी समय नाना व्यक्तियोंको सुनायी देनेसे शब्दमें अनेकपना सिद्ध हो गया तो मीमांसकोंका पुरुषव्यापारसे पहिले भी उसी शब्दके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाला प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हमारे अनुमानसे बाधित अवश्य हुआ और जब एकत्वको विषय करनेवाला मीमांसकोंका प्रत्यभिज्ञान अनेकत्वको जाननेवाले समीचीन अनुमानसे बाधित हो गया तो पुरुषके शब्दोच्चारणसे पहिले भी शब्दकी विद्यमानताका कोई प्रमाण न होनेसे उस शब्दके व्यञ्जकोंके द्वारा व्यंग्यपनेका भी अभाव हो गया। इस कारण अभिव्यक्तिवादको छोडकर शब्दको उन भाषावर्गणा, कण्ठ, तालु, मृदङ्ग आदिकसे पैदा हुआ ही मानना चाहिए। उक्त युक्तियोंसे शब्द पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पौरुषेयही सिद्ध हुआ।

वचनसामान्यस्य पौरुषेयत्वसिद्धौ विशिष्टं सूत्रवचनं सत्प्रणेतृकं प्रसिध्यत्येवेति सूक्तं " सिद्धे मोक्षमार्गस्य नेतरि प्रबन्धेन वृत्तं सूत्रमादिमं शास्त्रस्येति "।

जब अक्षरात्मक सभी सामान्य वचनोंको पुरुषोंके प्रयत्नसे जन्यपना सिद्ध होगया तो सूत्रकारके " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " आदि विशेषवचनोंको तो सज्जन आप्तपुरुषोंके द्वारा बनाया जानापन प्रसिद्ध हो ही जाता है। इस प्रकार हमने जो पहिले वार्त्तिकमें कहा था कि मोक्षमार्गके प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञके सिद्ध हो जानेपर तत्त्वार्थशास्त्रके आदिका सूत्र प्रवृत्त हुआ अर्थात् समीचीन रचनासे उमास्वामी आचार्य महोदयने बनाया है। यह हमारा कहना बहुत ठीक था।

तथाप्यनाप्तमूलमिदं वक्तृसामान्ये प्रवृत्तत्वाद्दुष्टपुरुषवचनवदिति न मन्तव्यम्, साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे प्रक्षीणकल्मषे चेति विशेषणात्, सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते 'हेतुमत्तथ्यं' इति सूत्रलक्षणवचनात्, तच्च कथमसर्वज्ञे दोषवति च वक्तरि प्रवर्त्तते ? सूत्राभासत्व प्रसंगाद्बृहस्पत्यादिसूत्रवत्ततोऽर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकमिदं सूत्रं सूत्रत्वान्यथानुपपत्तेः।

उक्त कथनसे शब्द अनित्य सिद्ध होगया, विशेष कर तत्त्वार्थसूत्र को भी पौरुषेयपना सिद्ध हो चुका। ऐसी दशामें फिर भी कोई पूर्वपक्ष करता है कि जैनों का अनित्य सिद्ध करना तो ठीक है किंतु यह तत्त्वार्थसूत्र सत्यवक्ता पुरुषोंको मूल कारण मानकर पैदा नहीं हुआ। साधारण बोलनेवाले मनुष्येन ही सूत्र को बनाकर प्रवृत्ति में लादिया है, जैसे कि झूंठ बोलनेवाले, चोरी करनेवाले दोषी पुरुष अण्टसण्ट बातें गढ दिया करते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार पूर्वपक्षीको नहीं मानना चाहिये क्योंकि हमने मोक्षमार्गके प्राप्त करानेवाले आदिसूत्रके वक्तामें दो विशेषण माने हैं। प्रथम तो आदिवक्ताका गुण केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष कर चुकना है। तथा दूसरा विशेषण ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र और सुख को घातनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय कर देना है। जब कि यह ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र है और सूत्र नियमसे वह कहा जाता है जो अर्थोंका युक्तिसहित सत्यरूपसे निरूपण करै। अन्य ग्रंथोंमें भी सूत्रका यही अर्थ कहा है कि 'तर्क और हेतुवाला होकर जो यथार्थमें सत्य हो'। उक्त लक्षण से सहित तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ किस प्रकार अल्पज्ञ और दोषयुक्त वक्ताके होने पर प्रवृत्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं। असर्वज्ञ, दोषी, उत्सूत्रभाषी वक्ताके द्वारा कहा हुआ वचन सूत्र न होकर सूत्राभास (कुसूत्र) ही होगा। बृहस्पति, खरपट, आदिके सूत्रसमान तत्त्वार्थसूत्रको भी सूत्राभासपनेका प्रसङ्ग आजावेगा अर्थात्—जैसे कि चार्वाकदर्शन बृहस्पति ऋषिने बनाया है उन्होंने स्वतंत्र आत्मा तत्त्व नहीं माना है। स्वर्ग, नरक, परलोक, पुण्य, पाप, नहीं माने हैं। संसारपरिपाटीको पुष्ट किया है। मोक्षमार्गका ज्ञान नही कराया और काम-पुरुषार्थको पोषनेवाले वात्स्यायन ऋषिने कामसूत्र बनाया है। उसमें उद्यानगमन, जल-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्रीडा और कामकी नाना कुचेष्टाओंका राग बढानेवाला वर्णन किया है जो कि इहलोक और परलोकका धर्मनाशक होते हुए व्यवहारमें भी अतीव निंद्य है। खरपटने हिंसा करनेका उपदेश दिया है। तभी तो ऐसी पुस्तकोंका प्रचार न्यायी राजाने रोक दिया है। उस कारणसे सूत्रका सूत्रपना तत्त्वार्थसूत्रमें ही घटता है।

यह तत्त्वार्थसूत्र अपने पद, वाक्यों, की रचनासे यद्यपि उमास्वामी महाराजने बनाया है किंतु इसके वाच्य-प्रमेयका अर्थ सर्वज्ञ गुरुकी ज्ञानधारासे ही चला आरहा है, अतः इस सूत्र का वाच्यार्थ सर्वज्ञ और वीतराग वक्ताके द्वारा ही बनाया गया है कारण कि अन्यथा इसमें सूत्रपनाही नहीं बन सकता है। अतः यह ग्रंथ सूत्र अवश्य है।

गणाधिपप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवल्यभिन्नदशपूर्वधरसूत्रेण स्वयं सम्मतेन व्यभिचार इति चेन्न तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वसिद्धेरर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैर्ग्रथितमिति वचनात्। एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता।

यहां पुनः शंका है कि चार ज्ञानके धारी तथा तीर्थंकर भगवान्के प्रधान शिष्य गणधरदेव और इस जन्ममें तत्त्वार्थदेशनाके विना जो स्वयं ही तत्त्वज्ञानी होकर अनेक सिद्धांत शास्त्रोंके रहस्यको जाननेवाले प्रत्येकबुद्ध मुनि तथा संपूर्ण द्वादशाङ्गके जाननेवाले श्रुतकेवली महाराज एवं ग्यारह अंग और विघ्नबाधाओंको सहकर पारंगत हुये पूर्ण दशपूर्वके धारी सम्यग्ज्ञानी ऋषि भी सूत्रोंको बनाते हैं, आप जैनोंने उन सूत्रोंको सच्चा सूत्रपना भी समीचीन माना है किंतु वे सूत्र सर्वज्ञ तीर्थंकरके तो बनाये हुये नहीं हैं, अतः जो जो सूत्र होते हैं, वे वे सर्वज्ञ वीतरागके बनाये हुए होते हैं, इस व्याप्तिमें व्यभिचार हुआ। आचार्य कहते हैं, कि ऐसी शंका तो ठीक नहीं है, कारण कि गणधरदेव आदिके द्वारा बनाये हुए उन ग्रंथोंका अर्थ भी सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा ही बनाया गया प्रतिपादन किया जाचुका सिद्ध है, पूर्वाचार्योंने ऐसा ही कहा है कि 'अर्हन्त देवके द्वारा भाषित-अर्थोंको ही गणधरदेवोंने द्वादशाङ्ग ग्रंथरूपसे गूंथा है'। जैसा कि कोई मालाकार पुष्पोंकी माला बनाता है। उसमें पुष्पोंकी इधर उधर योजना करना ही मालाकारका प्रयत्नसाध्य कार्य है, पुष्पोंका निर्माण करना मालाकारके हाथका कार्य नहीं है। अतः अर्थकी अपेक्षासे भावसूत्रोंका बनाना सर्वज्ञ अर्हन्तका ही कार्य है। भले ही शब्दयोजना गणधर आदिकोंने की हो। इस पूर्वोक्त कथनसे दूसरे गृध्रपिच्छ नामको धारण करनेवाले मुनि उमास्वामी आचार्यपर्यंत मुनियोंके सूत्रोंसे भी व्यभिचार दोष दूर होगया अर्थात् अर्थरूपसे तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ गुरुपरिपाटीसे चला आरहा है किंतु ग्रंथरूपसे उमास्वामी महाराजने रच दिया है। और इसके पूर्वके ग्रंथ भी सर्वज्ञधारासे बनाये गये समझने चाहिये।

प्रकृतसूत्रे सूत्रत्वमसिद्धमिति चेन्न सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेन तथास्य सूत्रत्वप्रसिद्धेः

सकलशास्त्रार्थाधिकरणाच्च । न हि मोक्षमार्गविशेषप्रतिपादकं सूत्रमस्मदादिप्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वात्, यद्धि यदविषयं न तत्तद्वचसो बाधकं, यथा रूपाविषयं रसनज्ञानं रूपवचसः, श्रेयोमार्गविशेषाविषयं चास्मदादिप्रत्यक्षमिति ।

कोई कहता है कि इस प्रकरणप्राप्त तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें युक्तिसहित सत्य अर्थको प्रतिपादन करना रूप सूत्रका लक्षण घटता नहीं है यों सूत्रपना असिद्ध हुआ। आचार्य कहते हैं कि यह उसका कहना तो ठीक नहीं है, जब कि इस सूत्रके वाच्य प्रमेयोंमें बाधकप्रमाणोंके न होनेका भले प्रकार निश्चय है उस कारण इस ग्रंथको वैसा सूत्रपना प्रमाणसिद्ध ही हुआ। सूत्रपनेमें दूसरा हेतु यह है कि यह तत्त्वार्थसूत्र सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रतिपाद्य अर्थोंका मूल आधार है । अथवा तत्त्वार्थसूत्रका पहिला " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " यह सूत्र भविष्यके दश अध्याय रूप पूर्ण ग्रंथका मूल आधार है, यानी पहिले सूत्रकी भित्तिपर ही दश अध्याय रचे गये हैं ।

अब इस सूत्रका अबाधितपना सिद्ध करते हैं कि अनेक मतावलम्बियोंके अकेले ज्ञान आदिको मोक्षका मार्ग बतानेवाले अयुक्तिकवाक्योंसे असंतुष्ट हुए अनेक शिष्योंके मोक्षमार्गविषयक प्रश्नोंके उत्तरमें उमास्वामी महाराजके द्वारा सयुक्तिक सत्य कहा गया मोक्षमार्गका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र हम लोगोंके प्रत्यक्षसे तो बाधित होता नहीं है क्योंकि इस सूत्रका प्रतिपाद्य अर्थ उस मतिज्ञानरूप हमारे प्रत्यक्षका विषय ही नहीं है। यह व्याप्ति बनी हुई है कि जो ज्ञान जिस प्रमेयको विषय ही नहीं करता वह ज्ञान उस प्रमेयके प्रतिपादन करनेवाले वचनका बाधक नहीं होता है, जैसे कि रूपको न जानता हुआ रसनेन्द्रिय जन्य मतिज्ञान काले, नीले, रूपको कहनेवाले वचनका बाधक नहीं होता है। इसी प्रकार विशेष मोक्षमार्गको नहीं विषय करनेवाला हम लोगोंका प्रत्यक्ष भी उस सूत्रके वाच्यार्थका बाधक नहीं हो सकता है ।

एतेनानुमानं तद्बाधकमिति प्रत्युक्तं तस्याननुमानविषयत्वात्, श्रेयोमार्गसामान्यं हि तद्विषयो न पुनस्तद्विशेषः प्रवचनविशेषसमधिगम्यः। प्रवचनैकदेशस्तद्बाधक इति चेन्न तस्यातिसंक्षेपविस्ताराभ्यां प्रवृत्तस्याप्येतदर्थाऽनतिक्रमस्तद्बाधकत्वायोगात् पूर्वापरप्रवचनैकदेशयोरन्योन्यमनुग्राहकत्वसिद्धेश्च ।

इस पूर्वोक्त कथनसे अनुमानको भी मोक्षमार्गके प्रतिपादक सूत्रके बाधकपनेका खण्डन कर दिया गया है क्योंकि उपलम्भ और अनुपलम्भरूप मतिज्ञानसे उत्पन्न हुये व्याप्तिज्ञानके बलपर पैदा हुआ अनुमान विचारा उस अतीन्द्रिय मोक्षमार्गको विषय नहीं कर सकता है। यद्यपि अनेक हेतु ऐसे भी हैं जिनसे कि अतीन्द्रिय साध्य भी जान लिये जाते हैं, जैसे कि श्वास आदिके चलनेसे आत्माका ज्ञान, या लोक, अलोकके विभागसे धर्म, अधर्म द्रव्यका ज्ञान हो जाता है, तो भी उक्त

अनुमानोंके द्वारा सामान्यरूपसे ही साध्योंका ज्ञान होता है। यहां भी किसी अविनाभावी हेतुसे मोक्षमार्गका सामान्यरूपसे ही ज्ञान तो हो सकता है, विशेषरूपसे ज्ञान नहीं हो सकता है अतः सामान्यरूपसे मोक्षमार्गको जाननेवाला अनुमान प्रकृतका बाधक नहीं है प्रत्युत साधक ही है। जो कि विशेष मोक्षमार्ग, सर्वज्ञाम्नात विशेष आगमसे ही अच्छा जानने योग्य है। पुनः किसीका आक्षेप है कि कितने ही शास्त्र ऐसे हैं, जो सम्यग्ज्ञानका ही प्रधानरूपसे निरूपण करते हैं, जैसे कि न्यायशास्त्र। और कोई कोई शास्त्र चारित्रको ही प्रधान मानकर प्ररूपण करते हैं, जैसे कि श्रावकाचार यत्याचार। तथा कोई सम्यग्दर्शनकी मुख्यतासे ही प्रमेयका प्रतिपादन करते हैं, जैसे कि निश्चय सम्यग्दर्शनका समयसार, पंचाध्यायी आदि। व्यवहारसम्यग्दर्शनका कतिपय प्रथमानुयोगके ग्रन्थ और भक्तिप्रधान स्तोत्र। ऐसी दशामें किसी किसी शास्त्रके द्वारा जाने गये और शास्त्रके एक देश अर्थात् कतिपय श्लोकोंमें प्रतिपादन किये गये केवल सम्यग्दर्शनको या उत्तम क्षमा, ब्रह्मचर्य, अनेकान्त ज्ञानको ही मोक्षका मार्ग बतानेवाला आगम " चारित्तं खलु धम्मो " दंसणभट्टा ण सिज्झंति " आदि तो उन तीनोंको मोक्षमार्ग बतानेवाले वचनका बाधक हो जावेगा? ग्रंथकार कहते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं हैं, सुनिये, समझिये।

जैनसिद्धांत अनेकान्तात्मक हैं, तीनोंको मोक्षमार्ग प्रतिपादन करनेसे सात भंग हो जाते हैं। केवलसम्यग्दर्शन १, सम्यग्ज्ञान २, सम्यक्चारित्र ३, सम्यग्दर्शन ज्ञान ४, सम्यग्दर्शन चारित्र ५, सम्यग्ज्ञान चारित्र ६, और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ७। अभेदसंबन्धसे इन सातोंको मोक्षमार्गपना है। जिस समय सम्यग्दर्शन है उस समय आत्मोपलब्धि या भेदविज्ञान अवश्य है। साथमें स्वरूपाचरण चारित्र भी हैं। जब देखोगे तीनोंका जुद ही मिलेगा। दर्शनप्राभृत आदि ग्रन्थोंके " सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं। ण लहंति वोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं, दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं " " न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् " इत्यादि सम्यग्दर्शनको प्रधानतासे कहनेवाले वाक्य, तथा "बोधिलाभ एव शरणम्" "चारित्रमेव पूज्यम्" "केवलज्ञानिनोऽपि पूर्णचारित्रमन्तरा न परममुक्तिः " इत्यादि ज्ञान या चारित्रको मुख्यता देनेवाले भी वाक्य तीनोंके अविनाभावको ही पुष्ट करते हैं। क्वचित् अत्यंत संक्षेपसे भले ही उस एक गुणका वर्णन किया है किंतु शेष गुण भी गतार्थ हो जाते हैं। कर (सूँड) युक्तको करी (हाथी) कहते हैं। इस कथनमें हाथीके पैर, पेट, पूंछ आदि अंगोपांग भी गम्यमान हैं और कहीं अधिक विस्तारसे एक गुणकी ही व्याख्या करनेके लिए शास्त्रोंके प्रकरण रचे गये प्रवृत्तिमें आ रहे हैं। वे सभी इस मोक्षमार्गके तित्वरूप अर्थका उलंघन नहीं करते हैं। अतः सच्चे आगमके कोई भी वाक्य यहां बाधक नहीं है। शास्त्रके आगे पीछेके एक एक देशविषयको निरूपण करनेपर वे परस्परमें अनुग्रह करनेवाले ही सिद्ध होंगे। एक दूसरेके बाधक नहीं हो सकते हैं, इस कारण सम्यग्दर्शन आदि

तीनोंको मोक्षमार्ग बतानेवाला पहिला सूत्र प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमबाधित नहीं है।

यथा बाधुनात्र चास्मदादीनां प्रत्यक्षादि न तद्बाधकं तथान्यत्रान्यदान्येषां च विशेषाभावादिति सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वमस्य तथ्यतां साधयति, सा च सूत्रत्वं, तत्सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वमिति निरवद्यम् प्रणेतुः साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थतया प्रक्षीणकल्मषतया च विशेषणम् ।

ऐसी व्यवस्था होनेपर कोई कहै कि आज कल यहाँके मनुष्योंके प्रत्यक्ष आदिक भले ही त्रित्वमें बाधक न हों किंतु देशांतर कालांतरके विशिष्ट पुरुषोंके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो मोक्षमार्गके बाधक होजावेंगे ? श्रीविद्यानंद स्वामी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार इस देशमें तथा इस कालमें हम लोगों के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण उस सम्यग्दर्शन आदि त्रिकके मोक्षमार्गपनेमें बाधक नहीं है उसी प्रकार भिन्नदेश, भिन्नकालके अन्यजनोंके भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उस त्रित्वके बाधक नहीं हैं । क्योंकि इस काल, इस देश के, हम लोगोंसे, उस काल, उस देशके जानने वाले मनुष्यों का मोक्षमार्ग जानने में कोई अंतर नहीं है। देश, कालके बदल जाने से प्रत्यक्ष आदिक ज्ञानकी जातियोंमें फेर फार नहीं होता है । इस प्रकार सूत्रमें बाधकप्रमाणों के असम्भव हो जानेका निश्चय सिद्ध होता हुआ इस सूत्रको सत्यपनेकी सिद्धि करा देता है। और जब सूत्र सत्य सिद्ध हो चुका तो सत्यतासे वह सूत्र सर्वज्ञ, वीतराग का बनाया हुआ है यह भी ज्ञात हो जाता है । इस प्रकार आदिसूत्रको बनानेवाले मोक्षमार्गके नेताका केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रत्यक्ष जान चुकना और घाति कर्मोंका नाश कर चुकना ये दोनों विशेषण पूर्व वार्तिकमें दिये हुए दोषरहित सिद्ध हैं क्योंकि कर्मोंका क्षय करनेवाले सर्वज्ञ वीतराग ही अर्थरूपसे सत्यसूत्रों को बना सकता है।

मुनीन्द्रसंस्तुत्यत्वविशेषणं च विनेयमुख्यसेव्यतामंतरेण सतोऽपि सर्वज्ञवीतरागस्य मोक्षमार्गप्रणेतृत्वानुपपत्तेः । प्रतिग्राहकाभावेऽपि तस्य तत्प्रणयने अधुनायावत्तत्प्रवर्त्तनानुपपत्तेः ।

तथा गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक सूत्रको बनानेवाले सर्वज्ञका मुनीन्द्रोंसे भली प्रकार स्तवन किये जानारूप विशेषण भी निर्दोष सिद्ध है। क्योंकि प्रधान शिष्योंसे सेवा किये गये बिना वीतराग भी होकर परमगुरु सर्वज्ञदेव मोक्षमार्गका प्रणयन नहीं कर सकते हैं । भगवान्के उपदेश को झेलनेवाले विनीत बुद्धिमान् शिष्योंके न होते हुए भी यदि भगवान् उस मोक्षमार्गके प्रणयन करनेवाले सूत्रका उपदेश दे देते तो धाराप्रवाहसे उपदेशका आज तक प्रवर्त्तन हो नहीं सकता था, अर्थात् विना ठीक ग्रहण करने वाले शिष्योंके उस उपदेशको आज तक कोई

भी नहीं ला सकता है। बडे बडे मुनींद्र जब सर्वज्ञकी स्तुति करते थे तभी भगवान् मोक्षमार्गका उपदेश निर्माण करते थे।

तत एवोपयोगात्मकस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य विनेयमुख्यस्य प्रतिपित्सायां सूत्रं प्रवृत्तमित्युच्यते।

उसही कारणसे हमने पूर्ववार्तिकमें कहा है कि ज्ञानदर्शनोपयोगी आत्माको कैवल्यप्राप्ति-रूप मोक्षसे भविष्यमें संयुक्त होनेवाले शिष्यजनोंमें प्रधान गणधरदेवकी तत्त्वोंके जाननेकी बलवती इच्छा होनेपर यह सूत्र प्रवृत्त होता है। अर्थात् शिष्योंकी जानने, सुननेकी विशेष इच्छा होनेपर ही तीर्थंकर सर्वज्ञने यथार्थ सत्य सूत्रका अर्थरूपसे प्रतिपादन किया है।

सतोऽपि विनेयमुख्यस्य यथोक्तस्य प्रतिपित्साभावे श्रेयोधर्मप्रतिपत्तेरयोगात् प्रति-ग्राहकत्वासिद्धेरिदानीं यावत्सूत्रप्रवर्त्तनाघटनात्। प्रवृत्तं चेदं प्रमाणभूतं सूत्रं तस्मात्सिद्धे यथोक्ते प्रणेतरि यथोदितप्रतिपित्सायाञ्च सत्यामिति प्रत्येयम्।

भविष्यमें कल्याणसे युक्त होनेवाले ज्ञानोपयोगात्मक प्रधान शिष्योंके विद्यमान होनेपर भी यदि उनकी समझनेकी इच्छा नहीं है तो उनको कल्याणकारी मोक्षसाधक धर्मका श्रद्धान नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें वे उपदेशको ग्रहण करनेवाले भी सिद्ध नहीं होते जाते हैं और विना इच्छाके जब उन्होंने भगवान् का उपदेशही ग्रहण नहीं किया तो आज इस समय तक इस सूत्र-रूप उपदेशका प्रवर्तन भी नहीं बन सकेगा, किन्तु सूत्रका उपदेश बराबर आ रहा है। अतः उक्त व्यतिरेकव्याप्तिसे यह सिद्ध हुआ कि आज तक यह प्रमाणभूत सत्यसूत्र धाराप्रवाहसे चला आ रहा है। उस कारण वार्तिक उक्ति अनुसार पहिले कहीं गयी। यह सूत्र मुनींद्रोंसे स्तवनीय हो रहे सर्वज्ञ, वीतराग तीर्थंकरका ही बनाया हुवा है। और तीर्थंकरने भी पहिले कही गयी मोक्षमार्गके चाहनेवाले विनीत शिष्यजनोंकी जाननेकी प्रबल इच्छा होनेपर ही अपनी दिव्यभाषासे उस सूत्र-का प्रणयन किया है। यह दृढरूपसे निश्चय रखना चाहिये।

नन्वपौरुषेयाम्नायमूलत्वेऽपि जैमिन्यादिसूत्रस्य प्रमाणभूतत्वासिद्धेर्नेदं सर्वज्ञवीतदोष-पुरुषप्रणेतृकं सिद्ध्यतीत्यारेकायामाह।

यहां मीमांसकोंका आक्षेपसहित कहना है कि मोक्षमार्गके निरूपण करनेवाले "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इत्यादि जैमिनि आदि ऋषियोंके सूत्र भी अनादि आम्नायसे चले आ रहे अपौरुषेयवेदको आधार मानकर ही बनाये गये हैं। तभी उनमें प्रमाणिकपना सिद्ध है। अतः आप जैनोंके इस सूत्रका सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर पुरुषसे बनाया जानापन सिद्ध नहीं हो पाता है। यदि आप अपने सूत्रको प्रमाणभूत सत्य सिद्ध करना चाहते हैं तो

इसका भी मूलकारण वेदही मानना चाहिये । ऐसी आशंका होनेपर विद्यानन्द आचार्य उत्तर देते हैं:—

नैकान्ताकृत्रिमाम्नायमूलत्वेऽस्य प्रमाणता, तद्व्याख्यातुरसार्वज्ञ्ये रागित्वे विप्रलम्भनात् ॥४॥

आपके द्वारा एकान्तरूपसे अनादिनिधन माने गये ऋग्वेद आदिको मूल मानकर बताये गये " अथातो " आदि इस सूत्रको प्रमाणता नहीं है, क्योंकि उस वेदका व्याख्यान करनेवाला असर्वज्ञ और रागी ही माना जावेगा । मीमांसक लोग सर्वज्ञको तो मानते नहीं हैं, अतः रागी द्वेषी अज्ञानी वक्ताओंके द्वारा वेदके अर्थका भिन्न भिन्न विपरीतप्रकारसे भी प्रतिपादन और प्रवर्त्तन कराया जावेगा, तथा च अप्रमाणपना आवेगा, श्रोताजनोंको धोका होजायगा ।

सम्भवन्नपि ह्यकृत्रिमाम्नायो न स्वयं स्वार्थं प्रकाशयितुमीशस्तदर्थे विप्रतिपत्त्यभावानुषंगादिति तद्व्याख्यातानुमन्तव्यः । स च यदि सर्वज्ञो वीतरागश्च स्यात्तदाम्नायस्य तत्परतन्त्रतया प्रवृत्तेः किमकृत्रिमत्वमकारणं पोष्यते, तद्व्याख्यातुरसर्वज्ञत्वे रागित्वे वाश्रीयमाणे तन्मूलस्य सूत्रस्य नैव प्रमाणता युक्ता, तस्य विप्रलम्भनात् ।

यद्यपि वर्णपदवाक्यात्मक वेद कैसे भी नित्य सिद्ध नहीं है, फिर भी अस्तुतोषन्यायसे वेदको सम्भवतः अकृत्रिम भी मान लिया जाय तो भी वह वेद अपने आप तो अपने अर्थका प्रकाशन करनेमें समर्थ नही है । यदि उच्चारण मात्रसे ही वेद अपने निर्णीत अर्थको प्रतिपादन करा देता तो श्रोताओंको उसके भावना, विधि, नियोग आदि नाना अर्थोंमें विवाद पैदा न होता किंतु अनेक मतावलम्बी वेदसे खैंच तानकर अपने मन चाहे अर्थोंको निकाल रहे हैं । अद्वैतवादी वेदके लिङ् लकारका अर्थ विधिरूप सत्ता करते हैं, तथा मीमांसकोंमें भट्ट उसका भावना अर्थ मानते हैं, प्रभाकर नियोग अर्थ मानते हैं । इसी प्रकार सर्वज्ञको कहनेवाली " यः सर्वज्ञः स सर्ववित् " आदि श्रुतियोंसे नैयायिक लोग ईश्वरको सर्वज्ञताका अर्थ निकालते हैं और मीमांसकलोग उसको कर्मकाण्डकी स्तुति करनेवाला अर्थवाद वाक्य मानते हैं। यदि वैदिक शब्द स्वयंही अपने अर्थको कह दिया करते तो यह विवाद क्यों पडता ? । अतः आपको वेदके शब्दोंका व्याख्यान करनेवाला कोई पुरुष अवश्य मानना पडेगा, यदि वह व्याख्याता सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाला और रागद्वेषरहित है, तब तो वेद उसके अधीन होकर ही प्रवृत्त होगा, ऐसी दशामें विनाकारण वेदका किसीसे न बनाया जानापन क्यों पुष्ट किया जाता है ? उसे सर्वज्ञसे बताया हुआ मानना ही अच्छा है । मीमांसकोंका विचार है कि प्रायः वक्ता रागी, द्वेषी, अज्ञानी, होते हैं । सराग वीतरागके निर्णयके लिये हमारे पास कोई कसौटी नहीं है, अतः सब ज्ञानोंके आदि कारण वेदको अनादि, अकृत्रिम माना गया है, यह मीमांसकोंका विचार ठीक नहीं है क्योंकि उनको वेदका व्याख्यान करनेवाला तो सर्वज्ञ माननाही पडेगा उसकी अपेक्षा तो सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित वेदको कृत्रिम माननाही अच्छा है ।

यदि वेदका व्याख्यान करनेवाला असर्वज्ञ और रागी है ऐसा पक्ष ग्रहण करोगे तो उस वेदको मूल मानकर बनाये गये मीमांसकोंके दर्शनसूत्रोंको उचित प्रमाणता नहीं आसकती है, कारण कि दोषी, रागी, अज्ञानी के वेदव्याख्यानसे श्रोताओंको धोखा होजाता है। जिसका व्याख्याता असर्वज्ञ रागी है, उसके द्वारा व्याख्यान किये गये वेदको भित्ति मानकर बनाया गया सूत्र भी विपरीतप्रवृत्ति करानेवाला होगा।

दोषवद्व्याख्यातृकस्यापि प्रमाणत्वे किमर्थमदुष्टकारणजन्यत्वं प्रमाणस्य विशेषणम्। यथैव हि खारपटिकशास्त्रं दुष्टकारणजन्यं तथाम्नायव्याख्यानमपीति तद्विसंवादकत्वसिद्धेर्न तन्मूलं वचः प्रमाणभूतं सत्यम्।

यदि दोषवाले अल्पज्ञ पुरुषोंसे व्याख्यान किये गये वेदको भी प्रमाण मान लोगे तो आपने "तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्" यहां प्रमाणका निर्दोष कारणोंसे पैदा होना रूप विशेषण किसलिये दिया है? बताओ, जैसे कि खरपटमतके शास्त्रोंमें लिखा हुआ है कि स्वर्गका प्रलोभन देकर जीवितही धनवान्को मार डालना चाहिये, एतदर्थ काशीकरवत, गङ्गाप्रवाह, सतीदाह आदि कुत्सित क्रियाएं उनके मतमें प्रकृष्ट मानी गयी हैं। किंतु हम और आप मीमांसकलोग उक्त खरपटके शास्त्रको रागी, द्वेषी, अज्ञानी वक्ता रूप दुष्ट कारणसे जन्य मानते हैं अतः अप्रमाण है, वैसेही आपके वेदका द्वेषी, अज्ञानीसे किया गया व्याख्यान भी सफल प्रवृत्तिका कारण होकर विपरीत मार्गमें प्रवृत्त करादेने वाला सिद्ध हुआ अतः ऐसे वेदको मूल मानकर बनाया गया कोई भी वचन प्रमाण होकर सत्य नहीं हो सकता है।

अब अगली वार्त्तिकका अवतरण करते हैं। कोई शङ्का करता है कि—

सर्वज्ञवीतरागे च वक्तरि सिद्धे श्रेयोमार्गस्याभिधायकं वचनं प्रवृत्तं न तु कस्यचित्प्रतिपित्सायां सत्याम्। चेतनारहितस्यात्मनः प्रधानस्य वा बुभुत्सायां तत्प्रवृत्तमिति कश्चित्तं प्रत्याहः—

अबतक यह बात तो सिद्ध हुयी कि सर्वज्ञ वीतराग वक्ताके सिद्ध होने पर ही मोक्षमार्गका कथन करनेवाला सूत्र प्रचलित हुआ है, अतः यह सूत्र सर्वज्ञप्रतिपादित होनेसे सादि है किंतु जैनोंने पूर्वमें कहा था कि प्रधान शिष्योंकी जाननेकी तीव्र अभिलाषा होनेपर ही सर्वज्ञने उक्त सूत्र कहा है, ठीक नहीं प्रतीत होता है। अतः बौद्ध कहते हैं कि किसीकी भी समझनेकी इच्छा न होते हुए अकस्मात् यह सूत्र बोल दिया गया है। और नैयायिक कहते हैं कि इच्छा होनेपर तो सूत्र कहा गया है किंतु भिन्न चेतनागुणको समवाय सम्बन्धसे रखनेवाले वस्तुतः चेतनारहित आत्माकी जाननेकी इच्छा होनेपर सूत्र बोल दिया गया है। तीसरे कपिलमतानुयायी कहते हैं कि सत्त्वगुण,

रजोगुण और तमोगुणकी साम्य अवस्थारूप प्रकृतिकी जिज्ञासा होनेपर सूत्र बनाया गया है। इन तीनोंके मंतव्योंको हृदयमें रखकर आशंका करनेवाले शंकाकारके प्रति आचार्य उत्तर देते हैं।

नाप्यसत्यां बुभुत्सायामात्मनोऽचेतनात्मनः।
खस्येव मुक्तिमार्गोपदेशायोग्यत्वनिश्चयात् ॥ ५ ॥

किसीकी नहीं जाननेकी इच्छा होनेपर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं हुआ है और न चेतनारहित जडस्वरूप आत्माकी इच्छा होनेपर यह सूत्र प्रवर्तित हुआ है, तथा प्रधानकी भी इच्छासे सूत्रका बनाना नहीं हो सकता है क्योंकि जैसे सर्वज्ञदेव इच्छारहित अचेतन आकाशको उपदेश नहीं देते हैं, उसी प्रकार उक्त तीनों प्रकारोंमें भी मोक्षमार्गके उपदेश प्राप्त करनेकी आयोग्यताका निश्चय है।

नैव विनेयजनस्य संसारदुःखाभिभूतस्य बुभुत्सायामप्यसत्यां श्रेयोमार्गे परमकारुणिकस्य करुणामात्रात्तत्प्रकाशकं वचनं प्रवृत्तिमदिति युक्तं, तस्योपदेशायोग्यत्वनिर्णीतेः।

संसारके दुःखोंसे सताये गये शिष्यजनोंकी मोक्षमार्गविषयमें जाननेकी इच्छा न होनेपर उत्कृष्ट करुणाके धारी भी भगवान्का केवल करुणासे ही मोक्षमार्गके प्रकाश करनेवाला वचन प्रवर्त्तित हो गया है, यह उचित नहीं है, क्योंकि " महिष्यग्रे वीणावादनवत् " जाननेकी इच्छाके विना कोई भी पुरुष सद्वक्ताके उपदेशग्रहणके योग्य नहीं है, ऐसा निर्णय हो रहा है।

नहि तत्प्रतिपित्सारहितस्तदुपदेशाय योग्यो नामातिप्रसंगात्, तदुपदेशकस्य च कारुणिकत्वायोगात्। ज्ञात्वा हि बुभुत्सां परेषामनुग्रहे प्रवर्त्तमानः कारुणिकः स्यात्। क्वचिदप्रतिपित्सावति परप्रतिपित्सावति वा तत्प्रतिपादनाय प्रयतमानस्तु न स्वस्थः।

जो श्रोता तत्त्वज्ञानको समझनेकी अभिलाषा नहीं रखता है, वह उपदेशके लिये सर्वथा योग्य नहीं है। यदि विना इच्छाके ही आचार्य उपदेश देते फिरें तो उनको कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, सुप्त, उन्मत्त पुरुषोंके लिये भी उच्च सिद्धान्तका उपदेश दे देना चाहिये, यह अति प्रसङ्ग हो जायगा।

जो पात्रका विचार न करके कोरी दयासे उपदेश दे देते हैं, उन उपदेशकोंको करुणायुक्त नहीं कहना चाहिये, अर्थात् अविचारितपनेसे की गयी दया कहीं कहीं हिंसासे बढकर है, वस्तुतः वह दया ही नहीं है दयाभास हैं। जैसे कि अग्निसे भुरसे हुए के ऊपर ठण्डा पानी डाल देना या आतुर रोगीको अपथ्य दही, ककडी, आदि दे देना, उसही प्रकार अनाकांक्षा होनेपर भी उपदेश देनेवाला भी दयावान् नहीं है। अन्धे कुएमें आहार या रुपया डालनेसे कोई दानी नहीं हो सकता है। दूसरोंकी तत्त्वग्रहण करनेकी इच्छाको समझकर ही परोपकारमें प्रवृत्ति करनेवालेको दयावान्

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कहा है। जो उपदेशक विना इच्छा रखते हुए पुरुषोंके निमित्त प्रतिपादन कर रहा है वह आपेमें नहीं है, तथा देवदत्तकी इच्छा होनेपर जिनदत्तको उपदेश देनेके समान कपिलमतानुयायिओंके मतमें प्रकृतिकी इच्छा होनेपर आत्माके लिये उपदेश देनेका प्रयत्न करना भी आपे (होश) में रहनेवाले विचारक मनुष्यका कार्य नहीं है।

परस्य प्रतिपित्सामन्तरेणोपदेशप्रवृत्तौ तत्प्रश्नानुरूपप्रतिवचनविरोधश्च ।

जो वक्ता दूसरे सुननेवालेकी इच्छाके विना उपदेश देवेगा। वह श्रोताके प्रश्नोंके अनुकूल वचन बोलेगा यह बात विरुद्ध है। अर्थात् वक्ताका बोलना तभी सफल है जबकि वह श्रोताके प्रश्नोंके अनुसार भाषण करै। यदि श्रोता विना इच्छाके ठूँठ सा बैठा हुआ है तो ऐसी दशामें उपदेश देनेका ही विरोध है। अथवा वया पक्षीका बन्दरके प्रति उपदेश देनेके समान वह दुष्फलका बीज होगा यह अर्थ भी चन्दकरके समुचित कर लिया जाता है।

योऽपि चाज्ञत्वान्न स्वहितं प्रतिपित्सते तस्य हि तत्प्रतिपित्सा करणीया ।

यहाँ कोई कहे कि तत्त्वज्ञानके जाननेकी इच्छा या मोक्षमार्गके समझनेकी अभिलाषा जीवको तभी हो सकती है जबकि उसको हेयोपादेय समझनेकी कुछ योग्यता होवे। जब कि वह निपट गँवार मूर्ख पशुके समान है जो अज्ञान होनेसे अपना हित ही नहीं समझना चाहता है ऐसे पुरुषको उसकी इच्छाके विना भी उपदेश देदेना दयावानोंका कार्य है। इस पर आचार्योंका कहना है कि जो पुरुष मूर्खतावश अपने हितको नहीं समझता है या समझना नहीं चाहता है उसको प्रथम तत्त्वज्ञान जाननेकी इच्छा पैदा करानी चाहिये। हितमार्गका उपदेश पीछे दिया जावेगा।

न च कश्चिदात्मनः प्रतिकूलं बुभुत्सते मिथ्याज्ञानादि, स्वप्रतिकूले अनुकूलाभिमानादनुकूलमहं प्रतिपित्से सर्वदेति प्रत्ययात्। तत्र नेदं भवतोऽनुकूलं किंत्विदमित्यनुकूलं प्रतिपित्सोत्पाद्यते । समुत्पन्नानुकूलप्रतिपित्सस्तदुपदेशयोग्यतामात्मसात् कुरुते । ततः श्रेयोमार्गप्रतिपित्सावानेवाधिकृतस्तत्प्रतिपादने नान्य इति सूक्तम् ।

कोई भी जीव अपने लिये अनिष्ट पडनेवाले पदार्थको जानना नहीं चाहता है। यद्यपि कभी कभी तीव्र क्रोधके वश होकर जीव अपना घात कर लेता है, विषको खा लेता है, कुएँ में गिर पडता है इत्यादि किंतु इन कार्योंको भी अपने लिये इष्ट समझता हुआ उत्साहसहित अनुकूल ही मान रहा है। मिथ्याज्ञानके वश उसको सदा यही विश्वास रहता है कि यह विषभक्षण ही मेरा इष्टसाधन करनेवाला है। मैं अपने लिये ठीक ही कार्य कर रहा हूँ। यों मिथ्याज्ञानसे भी अपने प्रतिकूल कर्तव्य में अनुकूल पडनेका अभिमान हो जानेसे मैं सदा अपने अनुकूलको समझ रहा हूँ।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ऐसी दशामें उस मूर्खको यह इच्छा पैदा करा देनी चाहिये कि यह विषभक्षण आदि तुमको अनुकूल नहीं है किन्तु यह जीवित रहना और पुरुषार्थ करना ही तुम्हारे लिये योग्य है। इस प्रकार इष्टसाधन करनेवाली क्रियाओंको समझा कर जब उसको अपने समीचीन इष्टके जाननेकी अभिलाषाएँ अच्छी पैदा हो जावेंगी। तब वह उपदेशकी योग्यताको भी अपने अधीन कर लेगा। बादमें तत्त्वज्ञान और मोक्षमार्गके जाननेकी भी तीव्र इच्छाएँ उसके हृदयमें पैदा हो जावेंगी उस कारणसे हमने पहले यह बहुत ठीक कहा था कि मोक्षमार्गके जाननेकी अभिलाषा रखता हुआ विनीत शिष्यही तत्त्वार्थसूत्रके प्रतिपादन करते समय सुननेका अधिकारी है। दूसरा कोई नहीं।

प्रधानस्यात्मनो वा चेतनारहितस्य बुभुत्सायां न प्रथमं सूत्रं प्रवृत्तं तस्याप्युपदेशायोग्यत्वनिश्चयात् खादिवत्।

कारिका बोलनेके पूर्व दूसरा, तीसरा आक्षेप यह भी था कि सांख्य आत्माको चेतन मानते हैं और अचेतन प्रकृतिमें इच्छा होना मानते हैं। नैयायिक चेतनाको चौवीस गुणोंमेंसे एक बुद्धिरूप गुण मानते हैं। और गुणगुणीका सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं तथा आत्मामें चेतनाका समवाय संबंध मानते हैं। ऐसी दशामें प्रकृतिको इच्छा होनेपर अथवा चेतनारहित आत्माकी जाननेकी इच्छा होनेपर पहिले सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है। यह उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकाश, घट, आदिके समान उस स्वयं जडरूप प्रकृति और नैयायिककी स्वतः अचेतन आत्माको भी उपदेश प्राप्त करनेकी अयोग्यताका निश्चय है।

चैतन्यसम्बन्धात्तस्य चेतनतोपगमादुपदेशयोग्यत्वनिश्चय इति चेन्न, तस्य चेतनासम्बन्धेऽपि परमार्थतश्चेतनतानुपपत्तेः शरीरादिवत्। उपचारात्तु चेतनस्योपदेशयोग्यतायामतिप्रसङ्गः शरीरादिषु तन्निवारणाघटनात्।

यदि नैयायिक यों कहेंगे कि चेतना (बुद्धि) गुणके सम्बन्धसे आत्माको भी हम चेतनपना स्वीकार करते हैं और कापिल कहेंगे कि चेतन आत्माके सम्बन्धविशेषसे जड प्रकृति भी चेतन बन जाती है। अतः दोनोंको उपदेश प्राप्त करनेकी योग्यताका निश्चय है। ग्रन्थाकर कहते हैं कि यह उनका विचार तो ठीक नहीं है कारण कि स्वयं जडस्वरूप प्रकृति और आत्माको भिन्न चैतन्यका सम्बन्ध होते हुए भी वास्तवमें चेतनापना सिद्ध नहीं हो सकता है। यों तो कापिलोंने चेतन आत्माका संबंध शरीर इंद्रिय आदिमें भी माना है और नैयायिकोंने भी स्वाश्रयसंयोग संबंधसे चेतनाका सम्बन्धीपन शरीर, मन और चक्षु आदि इंद्रियोंमें स्वीकार किया है, क्या एतावता जडशरीर, मन, पुण्य, पाप, आदि भी उपदेशके योग्य हो जावेंगे ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जपापुष्पके सम्बन्धसे स्फटिकमें वस्तुतः ललाई नहीं आती है, केवल उपाधिजन्य क्रियाका व्यवहार होजाता है, इसी तरहसे नैयायिककी आत्मा और सांख्योंके प्रधानमें चेतनपनेका व्यवहार-मात्र हो सकता है। यदि व्यवहारसे नाममात्रके चेतनको उपदेशकी योग्यता मानोगे तब तो अनेक जड पदार्थोंमें भी उपदेशकी योग्यताका अतिक्रमण करनेवाला प्रसंग आवेगा, अर्थात् शरीर, प्रतिबिम्ब (तसवीर) आदिकोंमें भी उस योग्यताका निषेध नहीं कर सकोगे।

तत्संबन्धविशेषात्परमार्थतः कस्यचिच्चेतनत्वमिति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथञ्चिच्चेतनातादात्म्यात्।

यदि आप नैयायिक या कापिल लोग इन शरीर, इन्द्रिय आदिकमें न रहनेवाले ऐसे किसी विशेषसंबंधसे योग करके किसी आत्मा और प्रधानको वस्तुतः चेतनपना मानोगे तो वह चेतनाका संबंध कथञ्चित्तादात्म्यसंबंधके सिवाय दूसरा क्या होसकता है ? अर्थात् वस्तुतः इच्छा और चेतनाका तादात्म्य रखनेवाला जैनोंसे माना गया आत्मा ही उपदेशके योग्य सिद्ध हुआ।

ततो ज्ञानाद्युपयोगस्वभावस्यैव श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य श्रेयोमार्गप्रतिपित्सायां सत्यामिदं प्रकृतं सूत्रं प्रवृत्तमिति निश्चयः।

उस कारणसे अब तक यह निर्णीत हुआ कि ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभाववाले और कल्याण-मार्गसे निकट भविष्यमें मुक्त होनेवाले ही आत्माकी मोक्षमार्गके जाननेकी अभिलाषा होनेपर प्रकरण-प्राप्त यह पहिला सूत्र प्रवृत्त हुआ है।

प्रमाणभूतस्य प्रबंधेन वृत्तेः श्रोतृविशेषाभावे वक्तृविशेषासिद्धौ विधानानुपपद्यमानत्वात्।

वार्त्तिक में पडे हुए प्रवृत्त शब्दका यह अर्थ है कि प्रमाण होकर सत्यस्वरूप यह सूत्र (वृत्त) सर्वज्ञने अपनी रचनासे प्रवर्ताया है कारण कि विशिष्ट (बढिया) श्रोताओंके न होनेपर विशिष्ट वक्ताकी भी असिद्धि है। और जब प्रकाण्ड वक्ता ही न होगा तो सत्य सूत्रोंका बनाना भी सिद्ध नहीं होसकता है अतः यह प्रमाणात्मक सूत्र उत्तम शिष्योंकी गाढी इच्छाके होनेपर ही अर्थरूपसे वीतराग सर्वज्ञदेवने बनाया है।

किं पुनः प्रमाणमिदमित्याह—

अब आगेकी वार्त्तिकोंका अवतरण देते हैं कि जैनोंने सूत्रको प्रमाणरूप माना है तो क्या वह सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है या अनुमान प्रमाण अथवा आगम प्रमाणरूप है ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं।

सम्प्रदायाव्यवच्छेदाविरोधादधुना नृणाम् ।
सद्वृत्ताद्युपदेशोऽत्र यद्वत्तद्वद्विचारतः ॥ ६ ॥
प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः ।
लैङ्गिकं चाविनाभाविलिंगात्साध्यस्य निर्णयात् ॥ ७ ॥

आज तकके मनुष्योंको गुरुपरिपाटीके अनुसार विरोधरहित चले आये हुए उस सूत्रके अर्थका विच्छेद नहीं हुआ है, जिस प्रकार कि वृद्धपरम्परापूर्वक पंच लोगोंके विचारसे निश्चित होकर चली आयी हुई समीचीन अग्रवाल, खण्डेलवाल, पद्मावतीपुरवाल आदि जातियोंके या पाटणी, सिंह, कासालीवाल आदि गोत्रोंके उपदेश माननेमें यहां कोई बाधा नहीं है, उसी प्रकार प्रकृत सूत्रके भी नहीं टूटी हुई समीचीन प्राचीनधारासे चले आनेमें कोई विरोध नहीं है। यह सूत्र प्रामाणिक सत्यवक्ता पुरुषोंको आधार मानकर प्रसिद्ध हुआ है, उस कारण आगम प्रमाणरूप है, और यह सूत्र हेतुसे उत्पन्न हुआ अनुमान प्रमाणरूप भी है, क्योंकि समीचीन व्याप्तिको रखने-वाले मोक्षमार्गत्व-हेतुसे सम्यग्दर्शन आदि तीनोंकी एकतारूप साध्यका निश्चय किया गया है। वैसे तो शब्दरूप सूत्र पौद्गलिक है किंतु उस शब्दसे अनादि-संकेतद्वारा पैदा हुआ वक्ता और श्रोताका ज्ञान चैतन्यपदार्थ है। यद्यपि शब्द और ज्ञानमें जड तथा चेतनपनेसे महान् अंतर है, फिर भी ज्ञानके पैदा करनेमें शब्दही प्रधान कारण है, अतः शब्द और ज्ञानका घनिष्ट संबंध है। प्रकृतमें सूत्रके ज्ञानरूप भावसूत्रको अनुमान, आगम, प्रमाणरूप माना है।

प्रत्यक्ष प्रमाण यद्यपि शब्दयोजनासे रहित है, फिर भी दूसरोंको समझानेके लिए उस ज्ञानका स्वरूप शब्दके द्वारा कह दिया जाता है, जैसे 'यह घट है' यह प्रत्यक्षज्ञानका उल्लेख है। इसी प्रकार ज्ञानरूप पदार्थानुमानको भी शब्दके द्वारा कहना पडता है। आगममें तो अनेक अंशोंमें शब्दयोजना लगती ही है। भावार्थ—सूत्र तो ज्ञानरूप ही है, चाहे केवलज्ञानियोंके प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप हो या गणधर आदि ऋषियोंके अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणरूप होवे, किन्तु ज्ञानको ज्ञानसे साक्षात् जानना सर्वज्ञका ही कार्य है, संसारी जीवोंको शब्दकी सहायता लिये विना कठिन प्रमेयका समझना और समझाना अशक्यानुष्ठान माना गया है। उक्त वार्त्तिकोंका विद्यानन्द स्वामी अब भाष्य करते हैं।

प्रमाणमिदं सूत्रमागमस्तावदाप्तमूलत्वसिद्धेः सद्वृत्ताद्युपदेशवत् ।

प्रथमही पक्ष, हेतु, दृष्टान्तरूप अवयवोंसे अनुमान बताकर सूत्रको आगमप्रमाणपना सिद्ध करते हैं, यह सूत्र आगमप्रमाण है (प्रतिज्ञा) क्योंकि आप्तपुरुषोंको मूलकारण मानकर आजतक

सिद्ध होरहा है, (हेतु) जैसे कि सच्चे गोत्र, वर्ण, जाति, वंशके वृद्ध परिपाटीसे चले आये हुए उपदेश आगम प्रमाणरूप हैं (अन्वयदृष्टान्त) ।

कुतस्तदाप्तमूलत्वसिद्धिरिति चेत् सम्प्रदायाव्यवच्छेदस्याविरोधात् तद्वदेवेति ब्रूमः ।

सूत्रको आगमप्रमाण माननेमें आप्तको मूल कारण मानकर प्रवृत्त होना हेतु दिया है, वह हेतु सूत्रनामक पक्षमें कैसे सिद्ध है ? अर्थात् वह हेतु असिद्धहेत्वाभास है, ऐसी शंका करोगे तो उसका उत्तर हम ग्रंथकार इस प्रकार स्पष्टरूपसे देते हैं, कि गुरुपरिपाटीके न टूटनेका कोई विरोध नहीं है, कारण कि सर्वज्ञसे लेकर आजतक अव्यवधानरूपसे चली आयी हुयी गुरुपरिपाटीका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे कोई विरोध उपस्थित नहीं हुआ है। जैसे कि वेही जाति, गोत्र, वंश, आदिके कथनव्यवहार आजतक विना किसी रोक टोकके प्रामाणिक पद्धतिसे चले आरहे हैं ।

कथमधुनातनानां नृणां तत्सम्प्रदायाव्यवच्छेदाविरोधः सिद्ध इति चेत् ? सद्गोत्राद्युपदेशस्य कथम् ?। विचारादिति चेत्। मोक्षमार्गोपदेशस्यापि तत एव। कः पुनरत्र विचारः ? सद्गोत्राद्युपदेशे कः ? प्रत्यक्षानुमानागमैः परीक्षणमत्र विचारोऽभिधीयते सोमवंशः क्षत्रियोऽयमिति हि कश्चित्प्रत्यक्षतोऽतीन्द्रियादध्यवस्यति तदुचैर्गोत्रोदयस्य सद्गोत्रव्यवहारनिमित्तस्य साक्षात्करणात्, कश्चित्तु कार्यविशेषदर्शनादनुमिनोति । तथाऽऽगमादपरः प्रतिपद्यते ततोऽप्यपरस्तदुपदेशादिति संप्रदायस्याव्यवच्छेदः सर्वदा तदन्यथोपदेशाभावात् । तस्याविरोधः पुनः प्रत्यक्षादिविरोधस्यासम्भवादिति, तदेतन्मोक्षमार्गोपदेशेऽपि समानम् ।

यहाँ मीमांसक कहते हैं कि अभी आजकल पर्यन्तके मनुष्योंतक उस आचार्यपरम्पराका विरोधरहित न टूटना कैसे सिद्ध मानोगे ? इस पर जैन कटाक्ष करते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तो आप ही बतलाइये कि श्रेष्ठ माने गये गर्ग, काश्यप, रघुवंश आदि गोत्रों या जाति आदिके कथनमें भी आपने सम्प्रदायका न टूटना कैसे माना है ? बताओ, यदि आप मीमांसक इसका उत्तर यह देंगे कि श्रेष्ठ गोत्रोंके उपदेशका प्राचीनपुरुषोंकी सम्मतिसे निर्णयात्मक विचार होता हुआ चला आरहा है, तो हम जैन भी कहते हैं कि मोक्षमार्गका उपदेश भी प्राचीन आचार्योंके विचारते रहनेके कारण न टूटता हुआ चला आरहा है । यदि मीमांसक अब यह कहेंगे कि मोक्षमार्गके उपदेशमें प्राचीन पुरुषोंने क्या विचार किया है ? बतलाइये, तो हम जैन भी आप मीमांसकोंके प्रति कहेंगे कि आपके पुरिखाओंने सनाढ्य, गौड, माहेश्वर आदि सच्चे गोत्र, जातियोंके उपदेशमें क्या विचार किया है ? । इसपर आप यही कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों

करके समीचीन परीक्षा करना ही गोत्र आदिके उपदेश में पूर्वपुरुषोंका विचार कहा जाता है वही हम कहते हैं कि कोई मुनिमहाराज अपने अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही इस प्रकार निर्णय कर लेते हैं कि यह सोमवंश है। यह नाथवंश है। यह काश्यप गोत्र है। अमुक पुरुष क्षत्रिय वर्णका है। यह वैश्य वर्णका है इत्यादि। जाति और वंश बहिरिन्द्रियोंके विषय नहीं हैं क्योंकि उत्तमवंशोंके व्यवहारका निमित्त कारण उच्चैर्गोत्रकर्मका उदय है और आत्मामें फल देनेवाले उस उच्च गोत्रकर्म का प्रत्यक्ष करना अतींद्रिय प्रत्यक्षसे ही हो सकता है, अतः प्रत्यक्षदर्शी तो गोत्र, जाति, वर्णका साक्षात्प्रत्यक्ष कर लेते हैं। और कोई कोई तो जो प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं, वे उन गोत्र, जाति, वर्णोंके अविनाभावी विशेष विशेष (खास खास) कार्योंके देखनेसे गोत्र आदिका अनुमान कर लेते हैं। कारण कि भिन्न भिन्न जाति, या काश्यप, खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि वंशोंमें कोई कोई ऐसा वैयक्तिक कार्य होता है कि विचारवाले पुरुष उन कृत्योंसे उनकी जाति, वर्णोंका शीघ्र बोध कर लेते हैं। भावार्थ—भिन्न भिन्न कुलोंमें कुछ न कुछ विलक्षणपना देखनेमें आता है। गहरा विचार करनेवालोंसे यह बात छिपी हुई नहीं है। कोई तुच्छ पुरुष अच्छा पदस्थ या विशिष्ट धन मिल जानेपर भी अपनी तुच्छता नहीं छोडता है। और उदात्त प्रकृतिका पुरुष दैवयोगसे निर्धन और छोटी वृत्तिमें भी आजाय तो भी अपने बडप्पनको स्थित, कायम, रखता है। ऐसे ही अग्रवाल या पद्मावतीपुरवाल आदि उत्तम जातिओंके समुदित मनुष्योंमें भी कुछ कुछ सूक्ष्म कार्योंमें विशेषता है। जिससे कि आत्मामें सन्तान-क्रमसे आचरणरूप रहनेवाले गोत्र, जाति, वर्णोंका अनुमान हो सकता है। घोडे और कुत्तोंमें इस सजाति सम्बन्ध और जातिसंस्कारसे अनेक गुणदोष देखे गये हैं। अतः निर्णीत हुआ कि बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानवालोंको विशिष्ट कार्योंसे जाति गोत्र और वर्णोंका अनुमान हो जाता है। तथा अनेक कार्योंमें हमें आगमकी शरण लेनी पडती है। यह ही तेरा पिता है। इसमें सिवाय मातृवाक्यके और क्या प्रमाण हो सकता है। उस मातृवाक्यको भित्ति मानकर आगे भी पिता पुत्र व्यवहारका सम्प्रदाय-सिलसिला चलता है, ऐसे ही अन्य कोई कोई जीव सच्चे शास्त्रोंसे जाति, गोत्र आदिको जान लेते और योंही उनके उपदेशसे दूसरे लोगोंके ज्ञान करनेकी धारा चलती है। इस प्रकार सच्चे वक्ताओंका आम्नाय कभी टूटती नहीं है। अन्यथा यानी यदि गोत्र आदिके उपदेशकी धारा टूट गयी होती तो आजतक सर्वदा उनका उपदेश नहीं बन सकता था। जब कि उक्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण उस उपदेशके साधक हैं। बाधक नहीं हैं तो फिर सम्प्रदायके न टूटनेमें प्रत्यक्ष आदिकसे कोई विरोध नहीं है। उसी प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशमें भी यह पूर्वोक्त संपूर्ण कथन समानरूपसे घट जाता है। अर्थात् भिन्न भिन्न जीव मोक्षमार्गको भी तीनों प्रमाणोंसे जान सकते हैं।

तथाप्येवंविधविशेषाक्रान्तानि सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्ग इत्यशेषतोऽतीन्द्रियप्रत्यक्षतो भगवान् परममुनिः साक्षात्करुते, तदुपदेशाद्गणाधिपः प्रत्येति, तदुपदेशादप्यन्यस्तदुपदेशाच्चापर इति सम्प्रदायस्याव्यवच्छेदः सदा तदन्यथोपदेशाभावात्, तस्याविरोधश्च प्रत्यक्षादिविरोधस्याभावात् ।

जिस प्रकार जाति, वर्ण, गोत्र आदिके जाननेके लिये जो कुछ विशेषताएं हम लोग देखते हैं और उन विशिष्ट कार्योंसे भिन्न भिन्न कुलोंका अनुमान भी कर लेते हैं, उसी प्रकार मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शन आदिसे जीवोंके कार्योंमें भी शांति संवेग, आस्तिक्य भेदविज्ञान और स्वरूपाचरणकी विशेषतायें आजाती हैं। उन विशेषताओंसे सम्यग्दर्शन आदिको मोक्षमार्गपनेका अनुमान करलेते हैं। तथा साधुओंमें सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञ जिनेंद्र भगवान् अपने केवलज्ञान द्वारा पूर्ण रूपसे सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके मार्ग हैं, ऐसा प्रत्यक्ष करलेते हैं । और तीर्थंकर जिनेंद्रके उपदेशसे गणधर देव आगमप्रमाण द्वारा निश्चय करलेते हैं । तथा गणधर देवके उपदेशसे अन्य आचार्य आगमज्ञान करलेते हैं और अन्य आचार्योंके प्रवचन शिष्यपरिपाटीसे अद्यावधि चले आरहे हैं । इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशका सम्प्रदाय न टूटना सिद्ध है । इसके विना माने दूसरे प्रकारसे आजतक सच्चे वक्ताओंका उपदेश हो ही नहीं सकता था । किंतु मोक्षमार्गका सच्चा उपदेश प्रवर्तित होरहा है । तथा प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे इसमें कोई विरोध आता नहीं है। अतः गोत्र आदिके उपदेशके समान मोक्षमार्गके उपदेशकी सम्प्रदाय न टूटनेमें भी कोई विरोध नहीं है। यहांतक मोक्षमार्गके उपदेशकी आम्नायका न टूटना सिद्ध हुआ ।

सद्गोत्राद्युपदेशस्य यत्र यदा यथा यस्याव्यवच्छेदस्तत्र तदा तथा तस्य प्रमाणत्वमपीष्टमिति चेत् मोक्षमार्गोपदेशस्य किमनिष्टम् ? केवलमत्रेदानीमेवमसादादेस्तद्व्यवच्छेदाभावात्प्रमाणता साध्यते ।

यदि यहां मीमांसक ऐसा कहेंगे कि सच्चे खण्डेलवाल, अग्रवाल, पद्मावती पुरवाल, सेठी, पाटनी, शिरोमणि, आदि गोत्रोंकी जिस स्थानपर जिस कालमें और जिस प्रकारसे जिसकी सम्प्रदायका व्यवधान नहीं हुआ है उस जगह उस कालमें उस प्रकारसे उस गोत्र आदिकी प्रमाणता भी हम इष्ट करते हैं, यदि ऐसा कहोगे तो मोक्षमार्गके उपदेशकी क्या प्रमाणता अनिष्ट है ? अर्थात् मोक्षमार्गके उपदेशका भी विदेहक्षेत्रमें सर्वदा विद्यमान होरहे चतुर्थकालमें श्री १००८ तीर्थंकरोंके निरंतर उपदेशसे मोक्षमार्गका व्यवधान नहीं हुआ है और इस भरतक्षेत्रमें भी अवसर्पिणीके चतुर्थ दुःषम सुषमा कालमें तथा उत्सर्पिणीके तृतीय दुष्षम सुषमा कालमें होनेवाले चौवीस

१. तत्रापि—इति मुद्रित पुस्तके.

चौवीस तीर्थंकरोंकी आम्नायसे मोक्षमार्गका उपदेश अटूट सिद्ध है। हां, आप्तमूलत्व हेतुसे सूत्रको आगमप्रमाणरूप सिद्ध करनेवाले पूर्वोक्त अनुमानसे हम केवल इतना ही सिद्ध करते हैं कि इस भरत क्षेत्रमें आज कल पंचमकाल दुःषमामें हम लोगोंको भी वह गुरुपर्वक्रमसे चला आया हुआ मोक्षमार्गका उपदेश आगम प्रमाण रूप है। अन्य क्षेत्रोंमें अब भी और यहां भी अन्य कालोंमें मोक्षके उपदेशका व्यापक रहना सिद्ध है, किंतु प्रकृत अनुमानसे यहां आज कल हम लोगोंके लिये ही सूत्रका आगमप्रमाणरूप सिद्ध करना उपयोगी है।

कपिलाद्युपदेशस्यैवं प्रमाणता स्यादिति चेत् न, तस्य प्रत्यक्षादिविरोधसद्भावात्।

यहां मीमांसक कहते हैं कि इस प्रकार गुरुओंकी धारासे ही यदि मोक्षमार्गके उपदेशको प्रमाणपना मानोगे तो कपिल, जैमिनि, कणादके उपदेश भी इसी प्रकार प्रमाण हो जावेंगे। वे भी अपने सूत्रोंको गुरुधारासे आया हुआ मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन कपिल आदिके उपदेशोंको प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदि प्रमाणोंसे विरोध है। भावार्थ—उपदेशोंको आप्तमूलत्व सिद्ध करनेमें सम्प्रदायके अव्यवच्छेदका विरोध न होना रूप हेतु है। वह कपिलादिके उपदेशोंमें घटता नहीं है। यों तो चोरी आदिके उपदेश भी चोर डाँकुओंके उस्तादोंद्वारा चले आ रहे हैं। एतावता क्या वे आप्तमूलक हो जावेंगे ? कभी नहीं। जिस प्रकार आखेट, द्यूत आदिके उपदेश प्रत्यक्ष, अनुमानोंसे विरुद्ध हैं तथा अतिप्राचीन होकर भी मिथ्या हैं, उसी प्रकार जैमिनि, कपिल आदिके पशुवधपूर्वक यज्ञ करना, क्षुधित अवस्थामें दूसरोंका धन बलात्कारसे जबरदस्ती छीनलेना, मोक्षकी अवस्थामें ज्ञान न मानना, आत्माको कूटस्थ या व्यापक स्वीकार करना आदि उपदेश भी प्रमाणविरुद्ध हैं।

नन्वाप्तमूलस्याप्युपदेशस्य कुतोऽर्थनिश्चयोऽस्मदादीनाम् ? न तावत्स्वत एव वैदिकवचनादिवत्पुरुषव्याख्यानादिति चेत्, स पुरुषोऽसर्वज्ञो रागादिमांश्च यदि तदा तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयानुपपत्तिरयथार्थाभिधानशंकनात्, सर्वज्ञो वीतरागश्च न सोऽत्रेदानीमिष्टो यतस्तदर्थनिश्चयः स्यादिति कश्चित्।

यहां कोई प्रतिवादी पंडित शंका करता है कि आप्तको मूल कारण मानकर वह उपदेश प्रवर्तित हुआ है, यह बात माननेपर भी उस आप्तके सूत्ररूप उपदेशसे हम लोगोंको उसके अर्थका निश्चय कैसे होगा ? यदि जैनोंकी ओरसे इसका उत्तर कोई इस प्रकार कहेंगे कि उस सूत्रसे विना किसीके समझाये अपने आप ही श्रोताओंको अर्थका बोध होता चला जाता है, यह उत्तर ठीक

नहीं पडेगा। क्योंकि हम मीमांसकोंने जब यह कहा था कि वेदके वाक्य ही अपने आप अर्थज्ञान करा देते हैं, उस समय जैनोंने हमारा खण्डन कर दिया था कि यही (भावना) हमारा अर्थ है और यह (नियोग या विधि) हमारा अर्थ नहीं है, इस बातको शब्द स्वयं तो अपने आप ही कहते नहीं है। कारण कि शब्द जड हैं। उसी प्रकार आपके " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " ये जडरूप वाक्य भी स्वयं अर्थज्ञान नहीं करा सकते हैं। गौको ले जाओ। घटको लाओ, ये लौकिक वाक्य भी बिना संकेतके अर्थबोध स्वयं नहीं करा सकते हैं। अन्यथा दो महिनेके बच्चेको भी शब्द सुनकर अर्थज्ञान होजाना चाहिये था, अथवा यह शंका मीमांसककी तरफसे न होकर किसी तटस्थकी ओरसे है। वह वेदके वाक्योंको भी स्वतः अर्थज्ञान करानेवाला नहीं मानता है। यदि स्याद्वादी आप यों कहेंगे कि हम लोगोंको विद्वान् पुरुषोंके व्याख्यान करनेसे प्राचीन उपदेशरूप सूत्रोंके अर्थका निर्णय होजाता है। ऐसी दशामें मैं पूंछता हूं कि वह व्याख्याता पुरुष यदि सर्वज्ञ नहीं है और रागी, द्वेषी है, तब तो उसके व्याख्यानसे अर्थका निश्चय होना असिद्ध है। कारण कि श्रोताओंको रागी और अज्ञानीके कथनमें सत्यार्थकी शंका बनी रहती है। अनेक पुरुष राग और अज्ञानके वश होकर झूंठा उपदेश देते हुए देखे जारहे हैं। इस दोषके निवारणार्थ यदि आप उस सूत्रका व्याख्यान करनेवाला सर्वज्ञ और वीतराग जिनेन्द्र देवको मानोगे तो आपने इस देशमें आजकल जिनेन्द्रदेवका वर्तमान रहना अपनी इच्छासे स्वीकार नहीं किया है। जिससे कि उस सूत्रार्थका निश्चय होसके, यों सूत्रके अर्थका निश्चय कैसे हो सकेगा। बताओ। यहांतक किसी प्रतिवादीकी शंका है।

तदसत्। प्रकृतार्थपरिज्ञाने तद्विषयरागद्वेषाभावे च सति तद्व्याख्यातुर्विप्रलम्भनासम्भवात्तद्व्याख्यानादर्थनिश्चयोपपत्तेः।

तब आचार्य कहते हैं कि किसीकी वह उक्त शंका ठीक नहीं है।

क्योंकि—यद्यपि यहां इस समय केवलज्ञानी नहीं हैं फिर भी प्रकरणमें प्राप्त मोक्षमार्गरूपी अर्थको पूर्ण रूपसे जाननेवाले विद्वान् धाराप्रवाहसे विद्यमान हैं और उस मोक्षमार्ग विषयके बतानेमें उनको राग, द्वेष भी नहीं है। ऐसे व्याख्यान करने वालोंके द्वारा वञ्चना या धोका करना सम्भव नहीं है। प्रत्युत गम्भीर व्याख्यातासे अर्थका निश्चय हो जाना ही सिद्ध है। जो जिस विषयमें रागी, द्वेषी, अज्ञानी नहीं है ऐसा होते संते उस व्याख्याताके व्याख्यानको सर्व जन प्रमाणरूपसे ग्रहण कर लेते

हैं। जैसे कि चतुर वैद्यके उपदेशको रोगी सत्यार्थरूपसे समझ लेता है या छलरहित जौहरीके उपदेशसे अनाडी पुरुष भी रत्नको जान लेता है।

अपौरुषेयागमार्थनिश्चयस्तर्हि स्तु, मन्वादेस्तव्याख्यातुस्तदर्थपरिज्ञानस्य तद्विषयरागद्वेषाभावस्य च प्रसिद्धत्वादिति चेत् न।

यहां मीमांसक कहते हैं कि यों तो हमारे किसी पुरुषके द्वारा नहीं बनाये हुए अनादि कालीन वेदरूप आगमके अर्थका निश्चय भी उसी प्रकार विद्वान् व्याख्याताओंके द्वारा हो जावेगा। क्योंकि उस वेदके अर्थका व्याख्यान करनेवाले मनु, याज्ञवल्क, व्यास आदि ऋषियोंको उस वेदके अर्थका पूर्ण ज्ञान था और उनको वेदके विषयमें राग द्वेषका अभाव भी प्रसिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि आपका यह कहना तो ठीक नहीं है।

प्रथमतः कस्यचिदतीन्द्रियवेदार्थपरिच्छेदिनोऽनिष्टेरन्धपरम्परातोऽर्थनिर्णयानुपपत्तेः।

कारण कि यदि आपने आद्य अवस्थामें इंद्रियोंसे अतिक्रांत वेदके अर्थको जाननेवाला सूक्ष्म आदि पदार्थोंका प्रत्यक्षदर्शी कोई सर्वज्ञ इष्ट किया होता तब तो उस सर्वज्ञको मूल कारण मानकर मनु आदिको भी वेदके अर्थका ज्ञान परम्परासे हो सकता था। किंतु आप मीमांसक आदि समयमें सर्वज्ञ मानते नहीं हैं; अतः ऐसी अंधपरम्परासे अर्थका निर्णय हो जाना बन नहीं सकेगा। एक अंधेने दूसरे अंधेका हाथ पकडा दूसरेने तीसरेका हाथ पकडा ऐसी दशामें उन सब ही अंधोंकी पंक्ति एक सूझतेके विना क्या अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकती है? किंतु नहीं। और यदि मूलरूपसे एक सर्वज्ञ आदिमें सबको मार्ग दिखलानेवाला मान लिया जाय तो अनेक विद्वान् धाराप्रवाहसे आगमके अर्थको आजतक जान सकते हैं।

ननु च व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदार्थनिश्चये तदविशिष्टवैदिकपदार्थनिश्चयस्य स्वतः सिद्धेः पदार्थप्रतिपत्तौ च तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिसम्भवादश्रुतकाव्यादिवन्न वेदार्थनिश्चयेऽतीन्द्रियार्थदर्शी कश्चिदपेक्ष्यते, नाप्यन्धपरम्परा यतस्तदर्थनिर्णयानुपपत्तिरिति चेत् न।

यहां मीमांसकका कहना है कि व्याकरण, कोष, व्यवहार आदिसे शब्दोंकी वाच्यार्थ शक्तिका ग्रहण होता है। जो विद्वान् पुरुष व्याकरण, न्याय आदिके अभ्याससे लोकमें बोले जायं ऐसे गौ, घट, आत्मा, आदि पदोंके अर्थका निश्चय कर लेते हैं। ऐसा होनेपर उन्हीं आज कल परस्परमें बोले हुए पदोंके समान ही वेदोंमें भी " अग्निमीडे पुरोहितम् यजेत " आदि पद पाये जाते

हैं। अतः वेदके पदोंका अर्थ भी व्युत्पन्न विद्वान्को अपने आप ज्ञात हो जावेगा। पदोंके अर्थको जान लेने पर उन पदोंके समुदायरूप वाक्योंका अर्थ जान लेना सरल रीतिसे सम्भव है। जैसे कि हम दो चार काव्य ग्रंथोंको पढकर अभी तक न सुने हुए नवीन काव्योंको भी अपने आप लगा लेते हैं या गणितके नियमोंको जान कर नवीन नवीन गणितके प्रश्नोंका स्वतः ही झट उत्तर देदेते हैं, इसी प्रकार व्याकरण आदिकी विशेष व्युत्पत्ति बढानेसे ही वेदके अर्थका निश्चय हो जावेगा। इसके लिये मूलमें किसी अतीन्द्रिय अर्थोंके देखनेवाले सर्वज्ञकी हमें कोई अपेक्षा नहीं है और विद्वानोंके द्वारा जब हम अर्थका निर्णय होना मान रहे हैं, ऐसी दशामें अंधोंकी परम्परा भी नहीं है। जिससे कि अंधोंकी धाराके समान वेदके अर्थका भी निर्णय न हो सके। अब आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका वक्तव्य उचित नहीं है। सुनिये।

लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेऽपि नानार्थत्वावस्थितेरेकार्थपरिहारेण व्याख्यांगमिति तस्यार्थस्य निगमयितुमशक्यत्वात्। प्रकरणादिभ्यस्तन्नियम इति चेन्न, तेषामप्यनेकधा प्रवृत्तेः पंचसंधानादिवदेकार्थस्य व्यवस्थानायोगात्।

लोकमें आज कल हम लोगोंसे बोले हुए पद और वेदमें लिखे हुए पद यद्यपि एक ही हैं किंतु उन पदोंके अनेक अर्थ भी व्यवस्थित हो सकते हैं। अतः एक अर्थको छोड कर दूसरे इष्ट अर्थमें ही कारण बताकर उसकी व्याख्या करनी चाहिये, अन्य अर्थमें नहीं। इस प्रकार शब्दोंके उस अर्थका अवधारण (नियम) करना अशक्य है। भावार्थ—जैसे लोकमें सैन्धव शब्दके घोडा और नमक दोनों अर्थ हैं, इसी तरह वेदमें भी अनेक अर्थोंको धारण करनेवाले पद पाये जाते हैं। जैसे कि अज शब्द का अर्थ नहीं उगनेवाला तीन वर्षका पुराना जो होता है और बकरा भी होता है। ऐसी अवस्थामें मनु आदिक अल्पज्ञ विद्वानोंसे एक ही अर्थका निश्चय करना अशक्य है। यदि आप शब्दकी अनेक अर्थोंकी योग्यता होनेपर प्रकरण, बुद्धिचातुर्य, अभिलाषा, आदिसे उस विवक्षित अर्थका नियम करना मानोगे सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि कहीं कहीं प्रकरण आदि भी अनेक प्रकारसे अर्थोंके उपयोगी प्रवर्त रहे हैं, जैसे कि कोई रईस सज्जीभूत होकर बाहिर जानेके लिये तैयार बैठा है और ककडी खारहा है। ऐसी दशामें "सैंधव लाओ" ऐसा कहने पर सैंधवके घोडा और नमक दोनों अर्थ उस प्रकरणमें प्राप्त हैं। द्विसन्धान काव्यमें एक साथ ही प्रत्येक शब्दके पाण्डव और रामचन्द्रके चरित्र पर घटनेवाले दो दो अर्थ किये गये हैं। ऐसे ही पंचसन्धान, सप्तसंधान, चतुर्विंशतिसन्धान काव्योंमें भी एक एक शब्दके अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त किये जानेके प्रकरण हैं। अतः अल्पज्ञ लौकिक विद्वान् प्रकरण आदिके द्वारा अनेक अर्थोंको प्रतिपादन करनेवाले वेदके शब्दोंकी ठीक ठीक एक ही अर्थमें व्यवस्था नहीं कर सकता है।

यदि पुनः वेदवाक्यानि सन्निबंधनान्येवानादिकालप्रवृत्तानि न व्याख्यानांतरापेक्षाणि देशभाषावदिति मतं, तदा कुतो व्याख्याविप्रतिपत्तयस्तत्र भवेयुः।

यदि आप मीमांसक यह मानोगे कि लौकिक वाक्य भले ही हम लोगोंकी खैंचातानीसे भिन्न भिन्न अर्थोंको प्रतिपादन करें, किन्तु वेदके वाक्य अपने निरुक्त, कल्प, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, और शिक्षा इन छह अंगोंके द्वारा अनादिकालसे अपने नियत अर्थको लेकर ही प्रवृत्त हो रहे हैं। अतः भिन्न भिन्न न्यारे व्याख्यानोंकी वेदवाक्योंको आकांक्षा नहीं है। जैसे कि शब्दोंकी आनुपूर्वी एकसी होनेपर भी संस्कृतभाषामें सन्का अर्थ वर्त्तमान है। इंगलिश् भाषामें सन् का अर्थ सूर्य है और नागरी भाषामें सन् का अर्थ रस्सीको बनानेवाली छाल है। एतावता क्या भिन्न भाषाओंके बोलनेवाले पुरुष अभीष्ट अर्थको नहीं जानते हैं ? किंतु उस शब्दसे अवश्य ज्ञान करलेते हैं। इसी प्रकार देशभाषाके समान वेदके वाक्य भी अपने अर्थको लेकर अनादि कालसे चले आरहे हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तो उन वेदके अर्थोंके व्याख्यानमें क्यों विवाद होरहे हैं ? बताओ। कोई कामधेनु समान हो रहे वेदसे कर्मकाण्ड अर्थ निकालते हैं और चार्वाक " अन्नाद्वै पुरुषः " आदि श्रुतियोंसे अपना मत पुष्ट करते हैं। अद्वैतवादी उन ही मंत्रोंका परब्रह्म अर्थ करते हैं। आप मीमांसक भी नियोग और भावनारूप अर्थमें परस्पर विवाद करते हैं। यदि वेदका अर्थ प्रथमसे निर्णीत होता तो इतने हिंसापोषक और हिंसा निषेधक तथा केवल जडवाद या केवल आत्मवादरूप विरुद्ध व्याख्यानोंके द्वारा क्यों झगडे देखे जाते ?।

प्रतिपत्तुर्मोह्यादिति चेत् केयं तदर्थसंप्रतिपत्तिरमन्दस्य प्रतिपत्तुर्जातुचिदसम्भवात्।

यदि आप कहोगे कि वेदके अर्थोंको जानने वाले पुरुषोंका ज्ञान मंद है जिससे कि वे नाना विवाद खडे करते हैं। प्रतिभाशाली पुरुष झगडोंको छोडकर वेदका एक ही अर्थ करते हैं, ऐसा कहने पर हम जैन आप मीमांसकोंसे पूंछते हैं कि वेदके वास्तविक अर्थका पूर्ण ज्ञानशाली, मंदबुद्धिरहित, सर्वज्ञको तो आपने कभी माना नहीं है। असम्भव कहा है। जब कोई सर्वज्ञ ही नहीं है तो अनादि कालसे अब तकके सम्पूर्ण मनुष्य मंदबुद्धिवाले ही समझे जावेंगे। ऐसी दशामें भला उस वेदके अर्थका यह निर्णय कहां कैसे हो सकता है ? अर्थात् कहीं नहीं।

सातिशयप्रज्ञो मन्वादिस्तत्प्रतिपत्ता संप्रतिपत्तिहेतुरस्त्येवेति चेत्, कुतस्तस्य तादृशः प्रज्ञातिशयः ?।

यदि मीमांसक यों कहें कि परोक्षरूपसे भूत, भविष्यत्, देशांतरकी वस्तुएं, और पुण्य, पाप आदिको जान लेनेरूप चमत्कारको धारण करनेवाली बुद्धिसे युक्त होरहे मनु, याज्ञवल्क आदि ऋषि वेदके अर्थको जानते थे, वे ही ऋषि आजतक हम लोगोंको वेदका समीचीन अर्थ निर्णय करानेमें धाराप्रवाहसे कारण हैं ही। इसपर हम जैन पूंछते हैं कि उनकी बुद्धिमें वैसा सूक्ष्म, भूत, भविष्यत्, अर्थोंके जानने रूप चमत्कार कहांसे आया ? बताओ।

श्रुत्यर्थस्मृत्यतिशयादिति चेत्, सोऽपि कुतः ?

यदि आप यह कहोगे कि वेदके अर्थोंका पूर्णरूपसे स्मरण रखनेकी विशेषता उनमें थी उससे प्रज्ञाका अतिशय हुआ, तभी तो उन्होंने वेदके स्मरणरूप मनुस्मृति, याज्ञवल्कस्मृति आदि ग्रंथ बनाये हैं। यहां पर हम जैन पूंछते हैं कि मनु, याज्ञवल्क अनादि कालके पुरुष तो हैं ही नहीं, उन्होंने भी कभी न कभी जन्म लिया है। फिर विना गुरुके वेदके अर्थका पूर्णरूपसे वह स्मरण करनारूप अतिशय उनके कैसे कहा जाय ? विना गुरुपरिपाटीके स्वतः ही वेदके अर्थका स्मरण माननेपर गलीमें घूमने वाले आदमियोंको भी उसका स्मरण मानना पडेगा। अतः बताओ कि मनु आदिको अनुभवके विना स्मरण करनेकी विशिष्टता कहांसे ?।

पूर्वजन्मनि श्रुत्यभ्यासादिति चेत्, स तस्य स्वतोऽन्यतो वा ? स्वतश्चेत् सर्वस्य स्यात् तस्यादृष्टविशेषाद्वेदाभ्यासः स्वतो युक्तो, न सर्वस्य, तदभावादिति चेत् कुतोऽस्यैवादृष्टविशेषस्तादृग्वेदार्थानुष्ठानादिति चेत्, तर्हि स वेदार्थस्य स्वयं ज्ञातस्यानुष्ठाता स्यादज्ञातस्य वापि, न तावदुत्तरःपक्षोऽतिप्रसंगात्, स्वयं ज्ञातस्य चेत्, परस्पराश्रयः, सति वेदार्थस्य ज्ञाने तदनुष्ठानाददृष्टविशेषः सति वादृष्टविशेषे स्वयं वेदार्थस्य परिज्ञानमिति।

मनु आदिक ऋषियोंने अपने पूर्व जन्ममें वेदका अच्छी तरहसे अभ्यास किया है, अतः इस जन्ममें उनको वेदके अर्थका चमत्कार स्मरण है यदि आप मीमांसक ऐसा कहोगे तो हमारा प्रश्न है कि मनु महाराजने पूर्वजन्ममें वेदका अभ्यास स्वयं अपने आप किया था ? या अन्य किसी गुरुकी सहायतासे ? बताओ। यदि स्वतः ही अभ्यास किया मानोगे तो सभी मनुष्योंको वेदका स्मरण मानना पडेगा। स्वतः ही वेदका अध्ययन तो सब जीवोंको विनामूल्य (सस्ता) पडता है, अतः सभी वेदज्ञ माने जावेंगे, एक मनु आदिमें ही क्या विशेषता है ? स्वतः प्राप्त हुआ पदार्थ आकाशके समान सर्वत्र केवलान्वयी है। यदि आप मीमांसक यह कहोगे कि मनु, याज्ञवल्क, जैमिनि ऋषियोंको अपने पूर्व जन्ममें विलक्षण पुण्य प्राप्त था। अतः उनको ही अपने आप वेदका पूर्ण अभ्यास पुण्यवश हुआ। इतर सर्व जीवोंको तादृश पुण्यविशेष न होनेसे वेदार्थका ज्ञानाभ्यास

नहीं होता है। अनेक विद्यार्थियोंमें कोई कोई छात्र अपने अदृष्टके अनुसार ग्रंथके अन्तस्तलपर पहुंचते हैं, सभी नहीं। ऐसा कहनेपर हम जैन पूंछते हैं कि वेदज्ञानके अभ्यासका कारण वैसा विशिष्ट पुण्य इन मनु आदिको ही क्यों प्राप्त हुआ ? अन्य लोगोंको प्राप्त हो जाय इसमें क्या कोई बाधा है ? यदि आप यहां यह कहोगे कि अपने पूर्वके जन्मोंमें मनु, जैमिनि, ऋषियोंने ही वैसा वेदके अर्थोंका अनुष्ठान किया था अर्थात् वेदकी बतलायी हुयी यज्ञ, पूजन, होम आदि क्रियाओंका आचरण किया था, अतः उनको ही वैसा पुण्य प्राप्त हुआ। सब जीवोंने वेदज्ञानके उपयोगी उन कर्मोंका आचरण नहीं किया था, अतः पूर्वजन्ममें उपार्जित पुण्य न होनेसे वे वेदार्थके ज्ञाता न बन सके। इसपर हम जैन आपके ऊपर दो पक्ष उठाते हैं कि पूर्व जन्मोंमें उन चुने (खास) ऋषियोंने वेदके अर्थको जानकर वेदविहित ज्योतिष्टोम, अग्निहोत्र, आदि कर्मोंका अनुष्ठान किया था, या विना जाने हुए भी वेदके अर्थका अंटसंट अनुष्ठान किया था ? बताओ। विना जानकर वेदमें विधान किये गये कर्मोंका आचरण करनारूप दूसरा पक्ष तो आपका युक्त नहीं है। क्योंकि वेदके विना जाने चाहे जैसे कर्म करनेवालेको विशिष्ट पुण्य मिल जाय, तब तो हर एकको सुलभरूपसे वह पुण्य प्राप्त हो जावेगा। यह मर्यादित अर्थको अतिक्रमण करनेवाला अतिप्रसंग दोष हुआ। इस दोषके दूर करनेके लिये आप पहिला पक्ष स्वीकार करेंगे अर्थात् वेदके अर्थको अपने आप जानकर ही मनु, जैमिनि आदि ऋषियोंने वेदमें लिखे हुए कर्मोंका इष्ट साधन अनुष्ठान किया था। अतः उससे उनको पुण्य मिला। आपके इस पक्षमें तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसे कि एक गुजराती ताला है, वह विना ताली के भी लग जाता है। किंतु ताली बिना खुलता नहीं है। यदि ताली मकानके भीतर पडी रही और किसी भद्रपुरुषने बाहिरसे ताला लगा दिया, अब ताला कैसे खुले ? यहां अन्योन्याश्रय दोष है कि ताला कब खुले ? जब कि ताली मिल जाय और ताली कब मिले जब ताला खुल जाय। ताला खुलना ताली मिलनेके अधीन है और ताली मिलना ताला खुलनेके अधीन है। इसी प्रकार यहां परस्पराश्रय दोष है कि जब वेदके अर्थका ज्ञान होजाय तब तो वेदको जानकर यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करके विलक्षण पुण्य पैदा हो और जब विलक्षण पुण्य हो जाय, तब उस विशिष्ट पुण्यसे मनु आदि ही वेदके अर्थका स्वयं ज्ञानाभ्यास करे, अर्थात् वेदके जाननेमें पुण्य विशेषकी आवश्यकता है और पुण्य की प्राप्तिमें वेदके जाननेकी जरूरत है। ऐसे अन्योन्याश्रय दोषवाले कार्य होते नहीं हैं।

मन्वादेर्वेदाभ्यासोन्यत एवेति चेत्, स कोऽन्यः ? ब्रह्मेति चेत्, तस्य कुतो वेदार्थज्ञानम् ? धर्मविशेषादिति चेत् स एवान्योन्याश्रयः। वेदार्थपरिज्ञानाभावे तत्पूर्वकानुष्ठानजनितधर्मविशेषानुत्पत्तौ वेदार्थपरिज्ञानायोगादिति।

मीमांसकोंसे पूर्वमें हमने पूंछा था कि मनु आदिकको पूर्व जन्ममें श्रुतियोंका अभ्यास अपने आप था या अन्य गुरुओंसे प्राप्त हुआ था ? उनमेंसे प्रथमपक्षका खण्डन किया जाचुका है। अब यदि आप दूसरा पक्ष लोगे कि असर्वज्ञ मनु आदि मुनिओंको चारों वेदोंके ब्राह्मणभाग और उपनिषद् अंशोंका ज्ञान अन्य महात्माओंसे ही हुआ है, यहां हम पूंछते हैं कि वह अन्य महात्मा कौन है ? यदि आप चतुर्मुख ब्रह्माको मनु आदिका गुरु मानोगे तो फिर हम जैन कहेंगे कि उस ब्रह्माको अनादिकालीन वेदोंके अर्थका ज्ञान किससे हुआ ? बताओ, यदि ब्रह्माको अतिशययुक्त पुण्यसे वेदका ज्ञान विना गुरुके स्वतः ही मानोगे यों तो पूर्वके समान पुनः वहीं अन्योन्याश्रयदोष लगेगा, क्योंकि वेदके अर्थको पूर्ण रूपसे जाने विना उस ज्ञानपूर्वक यज्ञ आदि अनुष्ठानोंसे पैदा होनेवाला पुण्य-विशेष उत्पन्न न होगा और जब पुण्य पैदा न होगा तो उस पुण्यके विना वेदके अर्थका ब्रह्माको परिज्ञान नहीं हो सकेगा। यहांतक आचार्योंने मीमांसककी मीमांसाका निराकरण कर दिया।

स्यान्मतं सहस्रशाखो वेदः स्वर्गलोके ब्रह्मणाधीयते चिरं, पुनस्ततोऽवतीर्य मर्त्ये मन्वादिभ्यः प्रकाश्यते, पुनः स्वर्गं गत्वा चिरमधीयते, पुनर्मर्त्यावतीर्णेभ्यो मन्वादिभ्योऽवतीर्य प्रकाश्यत इत्यनाद्यनन्तो ब्रह्ममन्वादिसन्तानो वेदार्थविप्रतिपत्तिनिराकरणसमर्थोऽन्धपरम्परामपि परिहरतीति वेदे तदुव्याहतं। सर्वपुरुषाणां अतीन्द्रियार्थज्ञानविकलत्वोपगमाद्ब्रह्मादेरतीन्द्रियार्थज्ञानायोगात्।

उक्त प्रकार मीमांसकोंका पक्ष गिरनेपर वे यह कहकर संभलना चाहते हैं कि हमारा मत ऐसा है। सो यह भी आपका मन्तव्य होय कि यद्यपि वेद एक है किंतु उसकी हजारों शाखाएं हैं, स्वर्गमें ब्रह्मा वेदको बहुत दिनतक पढते हैं फिर वहांसे अवतार लेकर वे मनुष्यलोकमें मनु आदि ऋषिओंके लिये वेदका प्रकाशन किया करते हैं फिर ब्रह्मा स्वर्गको चले जाते हैं और वहां हजारों वर्षतक वेदका स्मरण, चिंतन, अभ्यास, करते हैं। पुनः स्वर्गसे उतर कर मनुष्यलोकमें पुनः अवतार लेनेवाले उन्हीं मनु आदि ऋषिओंको वेदज्ञानका प्रकाश करते हैं। वे मनु आदि ऋषीश्वर उन उन समयोंमें अनेक जीवोंको वेदज्ञान करा देते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा और मनु आदि ऋषियोंकी धारा अनादिकालसे अनंत काल तक चली जाती है। वह उन समयोंमें होनेवाले वेदार्थके विवादोंको भी दूर कर देनेमें समर्थ हैं और ऐसा माननेसे वेदमें अंधपरम्परा—दोषका भी वारण होजाता है। अब आचार्य कहते हैं कि, मीमांसकोंके उस कथनमें वदतो व्याघातदोष आता है, जैसे कोई मनुष्य जोरसे चिल्लाकर कहे कि मैं चुप बैठा हूं उसके वक्तव्यमें उसीके कथनसे बाधा पहुंचती है, इसी प्रकार मीमांसक वेदका अध्यापन, प्रकाशन सर्वज्ञके द्वारा मानते नहीं है, विना कारण विवादोंका दूर करना और अन्धपरम्पराका निवारण करना वेदमें स्वीकार करते हैं, इस कथनमें अपने आपही बाधा डालनेवाला दोष है, आप मीमांसकोंने सर्व ही पुरुषोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंके ज्ञानसे रहित माना है। ब्रह्मा, मनु,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

बृहस्पति, जैमिनी आदिको भी सूक्ष्म आकाश, पुण्य, पाप, परमाणुओंका ज्ञान होना नहीं बन सकता है, तो फिर स्वर्गमें क्या पढा किससे पढा ? कथानक है कि ढेंकी स्वर्गमें चली जाय तो वहां भी धान ही कूटेगी।

चोदनाजनितमतीन्द्रियार्थज्ञानं पुंसोऽभ्युपेयते चेत्, योगिप्रत्यक्षेण कोऽपराधः कृतः।

याज्ञिक कहते हैं कि यजेत, पचेत्, जुहुयात् अर्थात् पूजा करै, पकावै, हवन करे ऐसे व्याकरणके विधिलिङ् लकारका अर्थ प्रेरणा होता है, ऐसे प्रेरणा करनेवाले वेदके अनेक वाक्योंसे उत्पन्न हुआ मनु आदि पुरुषोंके इन्द्रियोंसे न जाने जावें ऐसे परमाणु, पुण्य पाप, स्वर्ग, मोक्ष आदि अर्थोंका ज्ञान हम मानते ही हैं, आगमसे अतीन्द्रिय पदार्थोंका जानना हमको इष्ट है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि आप मीमांसक यह कहेंगे तब तो योगियोंके प्रत्यक्षने कौन अपराध किया है ? ज्ञानमें आगमद्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेका अतिशय तो आपको मानना ही पडा है, वैसे ही सर्वज्ञ भी अपने केवलज्ञानरूपी प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित अतीन्द्रिय अर्थोंको भी जान लेते हैं, यह मान लेना चाहिये।

तदन्तरेणापि हेयोपादेयतत्त्वनिश्चयात् किमस्यादृष्टस्य कल्पनयेति चेत् ब्रह्मादेरतीन्द्रियार्थज्ञानस्य किमिति दृष्टस्य कल्पना ?

अब मीमांसक कहते हैं कि अभक्ष्यभक्षण, पाप, व्यभिचार, मिथ्याज्ञान आदि छोडने योग्य पदार्थोंका और भेदविज्ञान, सत्य ज्योतिष्टोम याग, स्वर्ग, मोक्ष आदि ग्रहण करने योग्य तत्त्वोंका ज्ञान हमको आकांक्षित है। उस सर्वज्ञके विना भी ऐसे हेय और उपादेय पदार्थोंका निश्चय हमको वेदके द्वारा हो ही जाता है फिर किसीको भी कभी देखनेमें न आवै ऐसे सर्वज्ञके इस केवलज्ञानकी कल्पनासे क्या लाभ है ? ग्रंथकार समझाते हैं कि यदि मीमांसक यह कहेंगे तो हम कहते हैं कि आपने ब्रह्मा, मनु आदिको अतीन्द्रियज्ञान माना है। यह क्या आपने देखे हुए अतीन्द्रियज्ञानकी कल्पना की है ? भावार्थ–यह भी तो अदृष्टपदार्थकी ही कल्पना है।

सम्भाव्यमानस्य चेत् योगिप्रत्यक्षस्य किमसम्भावना ? यथैव हि शास्त्रार्थस्याक्षाद्यगोचरस्य परिज्ञानं केषांचिद्दृष्टमिति ब्रह्मादेर्वेदार्थस्य ज्ञानं तादृशस्य सम्भाव्यते तथा केवलज्ञानमपीति निवेदयिष्यते।

यदि आप मीमांसक यहां यह कहोगे कि मनु आदिके अतींद्रियज्ञानकी देखे हुए की कल्पना न सही किन्तु अर्थापत्ति प्रमाणसे जिसकी संभावना की जा सके ऐसे ज्ञानको हमने माना है भावार्थ–सम्भावित पदार्थको हम स्वीकार करते हैं यों कहनेपर तो यहां हम कहते हैं कि केवलज्ञानियोंके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षकी क्या सम्भावना नहीं हैं ? अर्थात् मनु आदिके ज्ञानमें जैसे आगम

द्वारा परोक्ष अर्थोंके जाननेका अतिशय है। उसी प्रकार सर्वज्ञके ज्ञानमें स्वतः ही त्रिकाल त्रिलोक पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर लेना रूप चमत्कार है इस बातको हम भी अनुमानसे जानते हैं। जैसे ही कि आप मानते हैं कि इंद्रिय, हेतु, अर्थापत्ति और अभाव प्रमाणसे न जाननेमें आवे ऐसे शास्त्रोंमें कहे गये अतीन्द्रियपदार्थोंका बढिया आगमज्ञान किन्हीं किन्हीं तैसे विद्वानोंमें देखा गया है। अतः आदिगुरु ब्रह्मा, मनु, आदिको भी इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और अभावप्रमाणोंसे न जाने जावें ऐसे वेदविषय उन सदृश पदार्थोंका ज्ञान अवश्य सम्भावनीय है। भावार्थ—अर्थापत्ति प्रमाणसे आप अतीन्द्रियज्ञानीको सिद्ध करेंगे, उसी प्रकार हम जैन भी कहते हैं कि अनेक आचार्य और विद्वानोंको पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष, आत्मा, भेदविज्ञान, सुमेरुपर्वत आदिका ज्ञान है, वह आदिमें उन पदार्थोंके प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञके विना नहीं हो सकता है। अतः केवलज्ञान भी मानना चाहिए अर्थात् अनुमान प्रमाणसे हम भी केवलज्ञानीको सिद्ध करते हैं। इस बातको भविष्य में हम अधिक स्पष्टरूपसे आपके प्रति निवेदन कर देवेंगे। विश्वास रखिये।

ततः सकलागमार्थविदामिव सर्वविदां प्रमाणसिद्धत्वान्नानुपलभ्यमानानां परिकल्पना, नापि तैर्विनैव हेयोपादेयतत्त्वनिर्णयः, सकलार्थविशेषसाक्षात्करणमन्तरेण कस्यचिदर्थस्याक्षूणविधानायोगात्।

उस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि आगमप्रमाणके द्वारा संपूर्ण पदार्थोंके जाननेवाले ब्रह्मा, मनु आदि विद्वान् जिस तरह आपके यहां प्रमाणसे सिद्ध हैं, उन्हींके समान सर्व प्रमेयोंको केवलज्ञानसे जाननेवाले सर्वज्ञ भी पुष्ट प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हैं। अतः अतींद्रिय प्रत्यक्षसे सर्वको जाननेवाले सर्वज्ञोंका मानना, निश्चित किये हुओंका ही है। प्रमाणसे नहीं जाने गये हुओंकी कल्पना नहीं है। जैनविद्वान् नहीं जानने योग्य पदार्थोंको स्वीकार नहीं करते हैं और विना उन सर्वज्ञके माने ही आत्मा, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग आदि हेय और उपादेय पदार्थोंका निश्चय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंका विशेष विशदरूपसे प्रत्यक्ष किये विना आत्मा, परमात्मा परमाणु, अदृष्ट, आदि किसी भी अर्थका निर्दोष रूपसे विधान नहीं हो सकता है। वीतराग, हितोपदेशक, सर्वज्ञ ही तत्त्वोंकी विधि करता है! अन्यके यह योग नहीं है।

सामान्यतस्तत्त्वोपदेशस्याक्षूणविधानमाम्नायादेवेति चेत् तर्ह्यनुमानादेव तथास्त्विति किमागमप्रामाण्यसाधनायासेन।

प्रतिवादी कहता है कि अनुमान और आगम प्रमाणोंसे पदार्थोंका ज्ञान विशदरूपसे नहीं होता है किंतु सामान्यरूपसे होता है। जैसे कि अग्निको आप्तवाक्य या धूमसे जाननेपर अग्निके धव, खैर, आमकी लकडीकी यह आग है, इतनी लम्बी चौडी है आदि विशेष अंशोंको हम नहीं

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जान सकते हैं। विशेष अंशोंका विशदरूपसे ज्ञान होना प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही मानते हैं किंतु संपूर्ण अतीन्द्रियपदार्थोंको प्रत्यक्षरूपसे जाननेवाले जीव संसारमें नहीं है। हम किसी भी पुरुषके न बनाये हुए वेदको अनादि मानते हैं। आकाश, आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरकके सामान्य रूपसे जाननेकी हमको आकांक्षा है। अनादिकालीन वेदके द्वारा ही सामान्यरूपसे अतीन्द्रियतत्त्वोंके उपदेशका निर्दोष सम्पूर्ण विधि विधान होता है। ग्रंथकारका निरूपण है कि यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तो हम कहते हैं कि तब तो आप वेदको आगमप्रमाणरूप साधनका परिश्रम भी क्यों करते हैं। अनुमानसे उन अतीन्द्रिय पदार्थोंका ऐसा सामान्यरूपसे ज्ञान हो जावो, "सम्पूर्ण पदार्थ अनेकांतात्मक हैं सत्स्वरूप होनेसे। तथा सर्व चराचर वस्तुएँ प्रकृति और पुरुष स्वरूप हैं प्रमेय होनेसे"। इत्यादि अनुमानोंके द्वारा हम सर्व जीवादि पदार्थोंको जान ही लेते हैं। अतः सामान्य रूपसे जाननेमें वेदकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं है।

प्रत्यक्षानुमानाविषयत्वनिर्णयो नागमाद्विनेति तत्प्रामाण्यसाधने प्रत्यक्षानुमानागमाविषयत्वविशेषनिश्चयोऽपि न केवलज्ञानाद्विनेति तत्प्रामाण्यं किं न साध्यते।

यदि आप मीमांसक यह कहेंगे कि जिन प्रमेयोंको हम लोगोंके प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं जान सकते हैं ऐसे स्वर्ग, अदृष्ट, देवता आदि पदार्थोंका जानना वेदरूप आगमके विना नहीं होवेगा। इस कारण वेदरूप आगमका प्रमाणपना हम सिद्ध करते हैं ऐसा कहनेपर हम जैन भी कहते हैं कि जिन अत्यंत परोक्षतत्त्वोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंकी गति नहीं है ऐसे धर्मद्रव्य, कालाणुएँ, सूक्ष्म पर्यायें, और अविभाग प्रतिच्छेद आदि विषयोंका निर्णय करना भी केवलज्ञानके विना नहीं होसकता है। अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म तत्त्वोंके जाननेमें हमारी इन्द्रियाँ भी समर्थ नहीं हैं तथा उन तत्त्वोंके साथ अविनाभाव रखनेवाला कोई हेतु भी नहीं है और किसी वक्ताके द्वारा संकेतग्रहण करके शब्दद्वारा जाननेका भी प्रकरण प्राप्त नहीं है ऐसे सूक्ष्म, देशांतरित और कालांतरित पदार्थोंको जाननेवाले केवलज्ञानको प्रमाणपना क्यों नहीं सिद्ध किया जावेगा? अर्थात् अवश्य सिद्ध किया जावेगा।

न हि तृतीयस्थानसंक्रान्तार्थभेदनिर्णयासम्भवेऽनुमेयार्थनिर्णयो नोपपद्यत इत्यागमगम्यार्थनिश्चयस्तत्त्वोपदेशहेतुर्न पुनश्चतुर्थस्थानसंक्रान्तार्थनिश्चयोऽपीति युक्तं वक्तुं तदा केवलज्ञानासम्भवे तदर्थनिश्चयायोगात्।

इसपर मीमांसक यदि यह कहेंगे कि हमारे यहां यद्यपि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने हैं किन्तु उनमें तीन प्रथमके प्रधान हैं। तिनमें प्रत्यक्षगम्य घट, पट, गृह आदिकको तो हम पहिले प्रत्यक्षप्रमाणसे जानना मानते हैं और धूमहेतुके

द्वारा वह्नि तथा प्रत्यभिज्ञानके विषयपनेसे शब्दका नित्यत्व आदिको दूसरे अनुमानप्रमाणसे सिद्ध करते हैं तथा स्वर्ग, देवता, अदृष्ट आदिको तृतीयस्थानमें पडे हुए आगमप्रमाणसे सिद्ध करते हैं। अनेक पर्यायोंको आगमके द्वारा जानकर पश्चात् तर्क लगाकर अनुमानसे भी निर्णय कर लिया जाता है। ऐसी दशामें उस अनुमेयका मूलज्ञापक कारण आगमप्रमाण ही माना जाता है। तीसरे स्थानमें पडे हुए आगमसे जानने योग्य भिन्न भिन्न पदार्थोंके निर्णय किये विना किसी किसी अनुमानसे जानने योग्य-लायक, उन अतीन्द्रिय अर्थोंका निश्चय होना नहीं बन सकता है। इस कारण वेदरूप आगमसे जानने लायक अर्थोंका निश्चय करना तो तत्त्वोंके उपदेशकी प्राप्तिमें कारण है किन्तु जैनोंसे माने गये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमप्रमाणसे अतिरिक्त केवलज्ञानहीसे जानने योग्य चौथे स्थानमें प्राप्त हुए अत्यन्त परोक्ष अर्थोंका निश्चय करना तत्त्वोपदेशकी प्राप्तिमें कारण नहीं है इस प्रकार मीमांसकोंका कहना उचित युक्तिसहित नहीं है। (पहिले नाहीका अन्वय युक्तके साथ है) क्योंकि आपके कथनानुसार जैसे तीसरे आगमप्रमाणके द्वारा अर्थका निर्णय किये विना परमाणु आदि अनुमेय अर्थोंका निश्चय नहीं हो सकता है, उसी प्रकार चौथे केवलज्ञानके न स्वीकार करनेपर पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष, सुमेरु, राम, रावण आदिक आगमसे जानने योग्य पदार्थोंका भी निर्णय नहीं हो सकेगा अर्थात् जैसे आप अनुमानका मूल कारण अपौरुषेय आगम-वेदको मानते हैं उसी प्रकार आपको अनुमान और आगम प्रमाणका मूलकारण सर्वज्ञका प्रत्यक्ष मानना पडेगा।

न च चोदनाविषयमतिक्रान्तश्चतुर्थस्थानसंक्रान्तः कश्चिदर्थविशेषो न विद्यत एवेति युक्तम्, सर्वार्थविशेषाणां चोदनया विषयीकर्तुमशक्तेस्तस्याः सामान्यभेदविषयत्वात्।

यदि मीमांसक यहां यह कहे कि तीन लोक और तीनों कालके सम्पूर्ण पदार्थ प्रेरणा करनेवाले वेदके लिङन्त वाक्योंसे ही ज्ञात हो जाते हैं, केवलज्ञानसे जानने योग्य इनका अतिक्रमण कर चुका चौथे स्थानमें पडा हुआ कोई पदार्थ ही विद्यमान नहीं है, जो कि वेदके विषयसे अतिरिक्त माना जावे अर्थात् तीसरे आगमसे जानने योग्य पदार्थोंमें ही सम्पूर्ण पदार्थ गर्भित हो जाते हैं, सर्वज्ञके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे जानने योग्य कोई पदार्थ बचा हुआ नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका प्रतिवाद भी युक्ति शून्य है। उनका यह कथन समुचित नहीं है कारण कि सम्पूर्ण पदार्थोंके विशेष विशेषांशोंका वेदवाक्योंके द्वारा विशदरूपसे निश्चय करना शक्य नहीं है। क्योंकि विधिलिङ् लकारकी क्रियावाले वेदवाक्योंसे अतीन्द्रियपदार्थोंका सामान्यरूपसे ही भिन्न भिन्न ज्ञान होता है, सम्पूर्ण अर्थपर्यायोंसे सहित पदार्थोंका विशद ज्ञान नहीं हो पाता है।

ततोऽशेषार्थविशेषाणां साक्षात्करणक्षमः प्रवचनस्याद्यो व्याख्याताभ्युपेयस्तद्विनेय-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मुख्यश्च सकलागमार्थस्य परिच्छेदीति तत्संप्रदायाव्यवच्छेदादविरुद्धात्सिद्धोऽस्मदादेरागमार्थनिश्चयो न पुनरपौरुषेयागमसंप्रदायाव्यवच्छेदात्तत्सूक्तमागमः प्रमाणमिदं सूत्रमिति।

उस हेतुसे अब तक सिद्ध हुआ कि गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेदवाले सम्पूर्ण पदार्थोंके विशेष विशेषांशोंको विशदरूपसे प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ और शास्त्रोंके प्रमेय अर्थका आदिकालमें विधाता होकर व्याख्यान करना चाहिये, और वही उस समयमें होनेवाले अनेक गणधर आदिक प्रतिपाद्य ऋषियोंका मुखिया है, तथा सम्पूर्ण आगमके अर्थका उपज्ञ (आद्यज्ञान) ज्ञान धारी है। इस प्रकार ऐसे उस सर्वज्ञकी आम्नायके न टूटनेमें आज तक कोई विरोध नहीं है, इस कारण हम आदिक लोगोंको भी उस सर्वज्ञसे कहे गये आगमके अर्थका निर्णय सिद्ध होचुका। किंतु फिर मीमांसकोंसे माने गये किसी पुरुषके द्वारा न किये हुए वेदरूप आगमकी आम्नाय न टूटनेसे अंधपरम्पराके समान विद्वानोंको आज तक अर्थका निर्णय नहीं होसकता है। तभी तो हमने पहिले बहुत अच्छा कहा था कि यह " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " सूत्र आगमप्रमाणस्वरूप है। यहां तक मीमांसकोंके साथ विचार होचुका है।

ननु च सन्नप्याप्तः प्रवचनस्य प्रणेतास्येति ज्ञातुमशक्यस्तद्व्यापारादेर्व्यभिचारित्वात्, सरागा अपि हि वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागा इवेति कश्चित्।

अब आगमको प्रमाण न माननेवाले बौद्धोंकी शंका है कि जैनोंके कहनेसे थोडी देरके लिये यदि आप्त मान भी लिया जाय किंतु वह आप्त इस शास्त्रका अर्थरूपसे बनानेवाला है, यह तो कैसे भी नहीं जाना जासकता है, क्योंकि सर्वज्ञ वीतरागके साथ अविनाभाव रखनेवाले व्यापार, वचन, और चेष्टा आदि हेतुओंका व्यभिचार देखा जाता है। देखिये संसारमें अनेकरागवान् बकभक्त पुरुष दिखाऊ वीतरागोंके समान आचरण करते हैं, और कोई कोई रागद्वेषरहित भी सज्जन रागियोंके-समान चेष्टा करते हुए देखे गये हैं, अतः वीतराग सर्वज्ञको जाननेके लिये कोई कसौटी हमारेपास नहीं है, ऐसा कोई बुद्धमतानुयायी कह रहा है।

सोऽप्यसम्बन्धप्रलापी, सरागत्ववीतरागत्वनिश्चयस्य क्वचिदसम्भवे तथा वक्तुमशक्तेः, सोऽयं वीतरागं सरागवच्चेष्टमानं कथञ्चिन्निश्चिन्वन् वीतरागनिश्चयं प्रतिक्षिपतीति कथमप्रमत्तः ?।

उक्त शंका करनेवाला वह बौद्धभी विना संबंधके बकवाद कर रहा है, स्वयं अपने वक्तव्यके पूर्वापरविरोधका भी इसको विचार नहीं है। जिस पुरुषको सरागपने और वीतरागपनेका कहीं भी निश्चय संभव नहीं है, वह सिलबिला ऐसा मनुष्य उस प्रकार इस बातको नहीं कह सकता है कि रागीजन भी वीतराग साधुओंकीसी चेष्टा करते देखे गये हैं और वीतराग मुनि भी शिष्योंके

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रायश्चित्त देने तथा पढानेमें और कभी धर्मप्रभावनाके समय रागियोंकीसी क्रियाएं करते हैं, जो हंस और सारसके भेदको जानता है, वही इनकी कुछ समान क्रियाओंका निरूपण कर सकता है, जब कि यह बौद्ध किसी भी तरह यह निश्चय कर रहा है कि रागरहित महात्मा भी रागीके समान चेष्टा करता है, तो इस बौद्धको शुद्ध वीतरागका निश्चय अवश्य है, यदि ऐसी दशामें भी वीतरागके निश्चय करनेका यह छलसे खण्डन कर रहा है तो इसको मद्यपायीके समान प्रमादी क्यों न कहा जाय ?।

स्वयमात्मानं कदाचिद्वीतरागं सरागवच्चेष्टमानं संवेदयते न पुनः परमिति चेत्, कुतः सुगतसंविच्तिः कार्यानुमानादिति चेत् न, तत्कार्यस्य व्याहारादेर्व्यभिचारित्ववचनात्।

यहां बौद्ध कहता है कि मैं स्वयं कभी कभी रागरहित अवस्थामें अपनेको रागीके समान चेष्टा करता हुआ जानता हूं अतः मैंने अपनेमें व्याप्ति ग्रहण कर वीतरागको सरागके समान चेष्टा करता हुआ कह दिया था किन्तु हमारे पास दूसरे अतीन्द्रिय आत्माओंके जाननेका कोई उपाय नहीं है। इस कारण वीतराग आत्माका निश्चय नहीं हो सकता है। बौद्धोंके ऐसे कहनेपर हम जैन पूंछते हैं कि आपको अपने इष्टदेवता बुद्धका ज्ञान कैसे होता है ? बताओ यदि ज्ञानसन्तान-रूप बुद्धके उपदेश देना, भावना भाना, आदि कार्यरूप ज्ञापक हेतुसे कारणस्वरूप बुद्ध साध्यका अनुमान करोगे ? यह तो ठीक नहीं है क्योंकि उस बुद्धके चेष्टा, वचन बोलना उपदेश देना, जीवोंपर कृपा करना आदि माने गये कार्योंका भी व्यभिचार हुआ कहा जाता है। आपके कथना-नुसार ही बुद्धकी उक्त क्रियाएँ रागी मूर्खोंमें भी देखी जाती हैं, ऐसी भोली बुद्धूपनेकी प्रकृतिवाले पुरुष तो रत्न, काच और पीतल सुवर्णका भी निर्णय नहीं कर सकेंगे।

विप्रकृष्टस्वभावस्य सुगतस्य नास्तित्वं प्रतिक्षिप्यते बाधकाभावान्न तु तदस्तित्वनिश्चयः क्रियत इति चेत् कथमनिश्चितसत्ताकः स्तुत्यः प्रेक्षावतामिति साश्चर्यं नश्चेतः ? कथं वा सन्तानान्तरक्षणस्थितिस्वर्गप्रापणशक्त्यादेः सत्तानिश्चयः स्वभावविप्रकृष्टस्य क्रियेत ? तदकरणे सर्वत्र संशयान्नाभिमतत्त्वनिश्चयः।

हम बौद्ध सुगतको सिद्ध करनेवाले अनुमानसे हम लोगोंके प्रत्यक्षसे न जाननेमें आवे ऐसे अतीन्द्रिय व्यवहित स्वभाववाले सुगतकी सत्ता सिद्ध नहीं करते हैं, किन्तु अनुमानके द्वारा साध्य विषयमें पडे हुए नास्तित्वकी ओर झुकानेवाले संशय, विपर्यय और अज्ञानरूप समारोपका केवल खण्डन किया जाता है। प्रकृतमें भी कालका व्यवधान पड जानेके कारण सुगतका न होना लोग मान लेते हैं, अतः उस सुगतकी सत्ताका कोई बाधक प्रमाण न होनेसे बुद्धके नास्तित्वपनेका हम अनुमान द्वारा खण्डन कर देते हैं। उस सुगतके अस्तिपनेका निश्चय अनुमानसे नहीं किया जाता है

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कारण कि अनुमान प्रमाण परमार्थभूत वस्तुको जानता नहीं है, क्षणिकत्व, सुगतसत्ता, आदिमें पडे हुए समारोपोंको केवल दूर करता रहता है, आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि जिस सुगतकी सत्ताकाही निश्चय नहीं है विचारशील पुरुष ऐसे असत् पदार्थकी स्तुति कैसे करते हैं ? इस बातका हमारे चित्तमें बडा भारी आश्चर्य है। भावार्थ—अनेक बौद्ध विद्वानोंने ग्रन्थोंकी आदिमें अद्यापि अनिर्णीत सुगत देवताकी स्तुति क्यों की है ? तथा यदि आप बौद्ध हम लोगोंके प्रत्यक्ष, अनुमानसे न जानने योग्य ऐसे सूक्ष्म परमाणु, देशान्तरित, और कालान्तरित, पदार्थोंका निश्चय नहीं कर सकते हैं तो स्वयं मानी हुयी देवदत्त, जिनदत्त आदिकी ज्ञानसन्तानोंको तथा पदार्थोंकी क्षणिकत्वशक्ति और अहिंसा, दान करनेवालोंकी स्वर्गमें पहुंचनेकी शक्ति आदिकी सत्ताका निश्चय कैसे कर सकोगे ? वे उक्त पदार्थ भी तो अतीन्द्रिय स्वभाववाले हैं और इसी प्रकार कहीं भी निश्चय न करनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थोंमें आपको संशय रहेगा अतः ऐसी दशामें आप सौत्रान्तिकोंको अपने अभीष्ट स्वलक्षण, विज्ञान, क्षणिकत्व, आदि तत्त्वोंका निश्चय भी न हो सकेगा।

संवेदनाद्वैतमत एव श्रेयस्तस्यैव सुगतत्वात् संस्तुत्यतोपपत्तेरित्यपरः।

यहां योगाचार बौद्ध कहता है कि बहिरंग घट, पट, स्वलक्षण, संतानान्तर आदि पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इसीसे तो हम समीचीन ज्ञानपरमाणुओंका ही अद्वैत मानते हैं। जैसे स्वप्नमें मिथ्यावासनाओंके कारण समुद्र, नगर, घन आदिके ज्ञान होते हैं किंतु वहां ज्ञानके सिवाय पदार्थ कोई वस्तुभूत नहीं माना हैं। उसी प्रकार जागते समय घट, पट, आदिके ज्ञान भी कल्पित पदार्थोंको विषय करते हैं। वस्तुतः संवेदनके अतिरिक्त संसारमें कोई वस्तु नहीं है। वही अकेले संवेदनका मंतव्य मानना कल्याण करनेवाला है और वही वास्तवमें बुद्ध भगवान् है। इस कारण ग्रंथोंकी आदिमें सुगत शब्दसे संवेदनकी भले प्रकार स्तुति करना सिद्ध माना गया है। इस प्रकार दूसरे यौगाचार बौद्धका मत है।

सोऽपि यदि संवेद्याद्याकाररहितं निरंशक्षणिकवेदनं विप्रकृष्टस्वभावं क्रियात्तदा न तत्सत्तासिद्धिः स्वयमुपलभ्यस्वभावं चेन्न तत्र विभ्रमः।

बौद्धोंके चार भेद हैं, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक और माध्यमिक ये सर्व पदार्थोंको क्षणनाशशील मानते हैं। बाहिरके स्वलक्षण आदि और अंतरंगके ज्ञान, इच्छा, आदि तत्त्वोंको सौत्रांतिक वस्तुभूत परमार्थ मानते हैं। योगाचार बहिरंग तत्त्वोंको न मानकर कल्पितपदार्थोंके ज्ञान और वस्तुभूत ज्ञानके ज्ञानको स्वीकार करते हैं। वैभाषिक निरंश शुद्ध ज्ञानकोही स्वीकार करते हैं और माध्यमिक परिशेषमें शून्यवादपर झुक जाते हैं। यहां योगाचारने अकेले संवेदनकोही तत्त्व

माना है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यदि वह योगाचार ज्ञानको जानने योग्य संवेद्य आकार तथा जाननेवाले संवेदक अंश और जाननारूप संवित्ति अंश इन तीनों आकारोंसे रहित मानेगा और ऐसा क्षणमें नाशको प्राप्त होनेवाला अंशोंसे रहित वह संवेदन, प्रत्यक्ष, अनुमानसे जानने योग्य स्वभावोंसे दूरवर्त्ती रहता हुआ यदि किया जावेगा तो उस समय उस संवेदनकी सत्ता सिद्ध नहीं होसकती है। यदि योगाचार उस संवेदनको अपने आप जानने योग्य स्वभाववाला बतावेगा तो किसीको भी उसके ज्ञानमें भ्रांति नहीं होनी चाहिये।

स्वयमुपलब्धस्यापि निश्चयाभावाद्भ्रमः स्यादिति चेत्, कथमनिश्चितं स्वतः सिद्धं नाम ? येन स्वरूपस्य स्वतो गतिर्व्यवतिष्ठेतेति क्वायं तिष्ठेद्विप्रकृष्टसंशयवादी ?

यदि योगाचार यहां यों कहें कि स्वयं जानने योग्य पदार्थका भी हम लोगोंको निर्विकल्पक ज्ञान हुआ है, निश्चयात्मक ज्ञान पैदा नहीं हुआ इस कारण लोगोंको भ्रम होजाता है। यों कहनेपर तो हम पूछते हैं कि जिस वस्तुका निश्चय नहीं है वह अकेली अपने आप ज्ञात होकर सिद्ध होजाती है यह कैसे कहा जाय ? जिससे कि आपके यहां संवेदनके स्वरूपका अपने आप ज्ञान होजाता है। यह ग्रंथका वाक्य व्यवस्थित होवे, अर्थात् जब ज्ञान ही का निश्चय नहीं है तो भला ज्ञानके स्वरूपकी विना कारण अपने आप सिद्धि भी नहीं होसकेगी ऐसी अवस्थामें सराग और वीतरागका बौद्धोंको निर्णय नहीं है। परमाणु, आकाश, भूत, भविष्यत् कालकी वस्तुयें और देशान्तर की चीजोंमें भी जिसको संशय ही है ऐसा सभी विप्रकृष्ट पदार्थोंमें संशय बोलते रहनेकी टेवको रखनेवाला बिचारा बौद्ध कहां ठहर सकता है ? जो संशयवादी खाद्य, पेय, पदार्थोंमें तथा निकटवर्ती भूमि, पुत्र, गुरु, आदिकी शक्तियोंमें भी चलाकर अनिष्ट शक्तियोंका संशय करेगा। ऐसी दशामें क्षणिकवादीका क्षणमें नाश होना अनिवार्य है।

अनाद्यविद्यातृष्णाक्षयाद्द्वयसंवेदने विभ्रमाभावो न निश्चयोत्पादात् सकलकल्पनाविकलत्वात्तस्येति चेत्—

बौद्धोंका सिद्धांत है कि ज्ञानाद्वैतके ज्ञानमें भ्रम न होने देनेका कारण अनादि कालसे लगे हुए मिथ्याज्ञान और तृष्णारूपी दोषोंका क्षय है। ज्ञानके विषयमें निश्चय उत्पन्न होनेसे संवेदनकी सिद्धि हम नहीं मानते हैं क्योंकि निश्चयज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नहीं है, अप्रमाण ज्ञानोंसे वस्तुभूत ज्ञानाद्वैतका वेदन और भ्रान्तिरहित व्यवस्थापन नहीं होसकता है कारणकि वह परमार्थभूत अद्वैतसंवेदन संपूर्ण कल्पनाओंसे रहित है, अतः ज्ञानाद्वैतका ज्ञान भी निर्विकल्पक है। जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य उत्पन्न होसकेगा, आचार्य कहते हैं कि यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे—

सा तर्ह्यविद्या तृष्णा च यद्युपलभ्यस्वभावा तदा न संवेदनाद्वैतं, तस्यास्ततोऽन्यस्याः प्रसिद्धेः । सानुपलभ्यस्वभावा चेत्, कुतस्तद्भावाभावनिश्चयो यतो ह्यद्वयसंवेदने विभ्रमाविभ्रमव्यवस्था ।

तो हम आपसे पूंछते हैं कि वे आपकी मानी हुयी अद्वैतसंवेदनके जाननेमें बाधा डालनेवाली अविद्या और संकल्पविकल्पोंको करनेवाली वाञ्छाएँ यदि जानने योग्य स्वभावोंको धारण करती हैं, तब तो आपका केवल अकेले संवेदनकाही मानना नहीं होसकता है, कारण कि संवेदनके समान अविद्या और तृष्णा भी दूसरे तीसरे पदार्थ संवेदनसे भिन्न सिद्ध होगये, क्योंकि वे भी जाने जारहे हैं ज्ञात हो रहे पदार्थका सद्भाव मानना पडता है । यदि आप अविद्या और तृष्णाको जानने योग्य स्वभाववाली नहीं मानोगे तो अविद्या और तृष्णाके सद्भाव तथा अभावका निर्णय कैसे होगा ? आपने अविद्या और तृष्णारूप दोषोंसे ज्ञानाद्वैतके जाननेमें भ्रान्ति होना माना है और अविद्या तृष्णाके विध्वंस होजानेपर ज्ञानाद्वैतकी भ्रांतिरहित जाननेकी व्यवस्था स्वीकार की है, जबकि वे दोनों दोष ज्ञानसे जानने योग्य ही नहीं हैं तो उनकी सत्ता और असत्ताका निर्णय कैसे होसकता है ? जिससे कि संवेदनके जाननेमें झूँट या सत्यकी व्यवस्थाकी जावे ।

निरंशसंवेदनसिद्धिरेवाविद्यातृष्णानिवृत्तिसिद्धिरित्यपि न सम्यक्, विप्रकृष्टेतरस्वभावयोरर्थयोरेकतरसिद्धावन्यतरसद्भावासद्भावसिद्धेरयोगात्, कथमन्यथा व्याहारादिविशेषोपलम्भात्कस्यचिद्विज्ञानाद्यतिशयसद्भावो न सिद्ध्येत् ।

बौद्ध कहते हैं कि जानने योग्य घट, पट, स्वलक्षण, परमाणु आदिका सम्बन्धी ग्राह्य अंश और जाननेवाला प्रमाण, प्रमातारूप ग्राहक अंश तथा ज्ञप्ति, प्रमितिरूप संवित्ति अंश इन तीनोंसे रहित शुद्ध संवेदन एक तत्त्वकी सिद्धि हो जाना ही अविद्या और तृष्णाके अभावकी सिद्धि है। जैसे घटरहित अकेले भूतलका जानना ही घटाभावका ज्ञान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी बौद्धोंका कहना अच्छा नहीं है । कारण कि अत्यन्त परोक्ष और प्रत्यक्ष स्वभाववाले दो पदार्थोंमेंसे एककी सिद्धि होनेपर शेष दूसरेकी सत्ता या असत्ता सिद्ध नहीं हो सकती है, जैसे परमाणु और घटमेंसे एकके जाननेपर शेष बच रहे दूसरेकी सत्ता या असत्ताका निश्चय नहीं हो सकता है, अन्यथा यदि आप संवेदनाद्वैतके जाननेसे ही अविद्या और तृष्णाका अभाव सिद्ध कर दोंगे अर्थात् अविनाभावी एक हेतुसे दूसरे अतीन्द्रियसाध्यका अनुमान कर लोंगे तो विशिष्ट वचनोंका उच्चारण, चेष्टा आदि कार्योंके जाननेसे किसी आत्माके विज्ञान और वीतरागता आदि चमत्कारोंका विद्यमान होना क्यों नहीं सिद्ध होगा ? । जैनोंका अभीष्ट तत्त्व अवश्य सिद्ध हो जावेगा ॥

तदयं प्रतिपत्ता स्वस्मिन् व्याहारादिकार्ये रागित्वारागित्वयोः संकीर्णमुपलभ्य परत्र

रागित्वनियमाभावं साधयति न पुनररागित्वं रागित्वं चेति ब्रुवाणः परीक्षकत्वमभिमन्यत इति किमपि महाद्भुतम्।

उस कारण [illegible] सत्ता और अविद्या तृष्णासे अभावको तो बौद्ध अच्छी तरह जान रहा है और सराग वीतरागोंके जाननेमें संशय करता है, अपनेमें अनुभव किये हुए वचन चेष्टा आदि कार्योंको रागसहितपने और वीतराग सहितपनेसे मिला जानकर पुनः दूसरे पुरुषोंमें केवल रागीपनेके नियमका अभाव तो सिद्ध करता है किन्तु वीतरागपन और रागीपनेके सद्भावका नियम नहीं मानता है यों उक्त कहनेवाला बौद्ध अपने परीक्षकपनेका अभिमान करता है, हमें तो यह कुछ भी एक बडा भारी आश्चर्य है।

यथैव हि रागित्वाद्यतीन्द्रियं तथा तदनियतत्वमपीति कुतश्चित्तत्साधने वीतरागित्वाद्यतिशयसाधनं साधीयः। ततोऽयमस्य प्रवचनस्य प्रणेताप्त इति ज्ञातुं शक्यत्वादाप्तमूलत्वं तत्प्रामाण्यनिबन्धनं सिद्धयत्येव।

जब कि जिस ही प्रकार रागीपन और वीतरागपन बहिरंग इन्द्रियोंसे जानने योग्य (लायक) नहीं हैं, उसी प्रकार उनके अभावका नियम करना भी अतीन्द्रिय है। जो पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर है उनका अभाव भी इन्द्रियोंका विषय नहीं है। यों फिर भी किसी कारणसे मनुष्योंमें सरागपनेके नियमकी सिद्धि करोगे तो सर्वज्ञता, वीतरागता, तीर्थंकरता आदि अतिशयोंका साधन करना भी बहुत अच्छी तरहसे हो सकता है। उस कारणसे अब तक सिद्ध हुआ कि हम सर्वज्ञ वीतरागताका निर्णय कर सकते हैं और यह भी जान सकते हैं कि यह सर्वज्ञ यथार्थ वक्ता ही इस शास्त्रका अर्थरूपसे बनानेवाला है इस कारण इस सूत्रको कारणरूपसे आप्तमूलक होनेसे आगमप्रमाणपना सिद्ध हो ही जाता है जो कि इसकी प्रमाणताका कारण है। यहांतक सूत्रको आगमप्रमाणपना सिद्ध करनेके प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है।

अथवानुमानमिदं सूत्रमविनाभाविनो मोक्षमार्गत्वर्लिंगान्मोक्षमार्गधर्मिणि सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य साध्यस्य निर्णयात्। तथाहि, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गो मोक्षमार्गत्वान्यथानुपपत्तेः, न तावदत्राप्रसिद्धो धर्मी हेतुर्वा मोक्षवादिनामशेषाणामविप्रतिपत्तेः। मोक्षाभाववादिनस्तु प्रति तत्सिद्धेः प्रमाणतः करिष्यमाणत्वात्।

अब सूत्रको अनुमानप्रमाणरूप सिद्ध करनेका प्रकरण चलाते हैं। श्रीविद्यानन्दी आचार्य प्रत्येक पदार्थको समीचीन तर्कद्वारा अनुमानसे सिद्ध करते हैं। पूर्वमें इस सूत्रका आगमप्रमाणपना भी अनुमान बनाकर सिद्ध किया था। अब सूत्रको अनुमानपना सिद्ध करनेके लिये भी अनुमान बनाते हैं। अथवा यह सूत्र अनुमानप्रमाणरूप है। क्योंकि समीचीनव्याप्तिवाले मोक्षमार्गत्व–हेतुसे साध्यधर्म

वाले मोक्षमार्गरूप पक्षमें सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप साध्यका निश्चय किया है, इसी बातको स्पष्ट कर समझाते हैं कि मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप है, (प्रतिज्ञा) अन्यथा उसको मोक्षमार्गपना नहीं बन सकेगा, (हेतु) पहिले तो इस अनुमानमें मोक्षमार्गरूपी पक्ष और हेतु अप्रसिद्ध नहीं है कारण कि संपूर्ण मोक्ष माननेवाले वादियोंने सामान्यरूपसे मोक्षका मार्ग विवादरहित स्वीकार किया है, और जो चार्वाक, शून्यवादी, आदि मोक्षको सर्वथाही नहीं मानते हैं, उनके प्रति तो मोक्षकी सिद्धि आगे चलकर प्रमाणोंसे कर दी जावेगी, संतोष रखिये, अतः उनको भी वह मोक्षका मार्ग स्वीकार करना अनिवार्य होगा।

प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुरिति चेत्—

साध्य और पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं, हेतुका साध्यके साथ समर्थन और पक्षमें रहना सिद्ध करनेके पूर्वमें उक्त प्रतिज्ञावाक्य सिद्ध नहीं समझा जाता है, इस अनुमानमें जैनोंने प्रतिज्ञाके एक देश होरहे पक्षको ही हेतु बना दिया है, ऐसी दशामें जब प्रतिज्ञा असिद्ध है तो उसका एक देश माना गया हेतु भी असिद्ध ही है यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तब तो।

कः पुनः प्रतिज्ञार्थस्तदेकदेशो वा ?

यहां हम पूछते हैं कि उस प्रतिज्ञाके वचनका वाच्य अर्थ क्या है ? और क्या उस प्रतिज्ञाके अर्थ (विषयका) एक देश है ? जिसको कि शंकाकार असिद्ध कर रहा है, बताओ।

साध्यधर्मधर्मिसमुदायः प्रतिज्ञार्थस्तदेकदेशः साध्यं धर्मो यथाऽनित्यः शब्दोऽनित्यत्वादिति, धर्मी वा तदेकदेशो यथा नश्वरः शब्दः शब्दत्वादिति, सोयं हेतुत्वेनोपादीयमानो न साध्यसाधनायालं स्वयमसिद्धमिति चेत्।

यहां शंकाकार कहता है कि साध्यरूपी धर्म और पक्षरूपी धर्मीका समुदाय ही प्रतिज्ञावाक्यका विषय है। उसका एक देश साध्यधर्म है। उस प्रतिज्ञाविषयका एक देश कहे गये साध्यरूपी धर्मको यदि हेतु कर लिया जायेगा तब वह हेतु साध्य सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है। जैसे कि शब्द अनित्य है अनित्य होनेसे यहां साध्यको ही हेतु करलिया गया है। तथा कहीं प्रतिज्ञाके एकदेश माने गये धर्मीको हेतु बतानेपर भी साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे कि शब्द नाशस्वभाववाला है शब्द होनेसे। इस अनुमानमें स्वयं शब्दत्व ही जब असिद्ध है तो वह हेतुपनेसे अनुमानमें ग्रहण किया गया होकर साध्यके सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है। यदि आप सौगत ऐसा कहोगे ?। तब तो—

कथं धर्मिणोऽसिद्धता 'प्रसिद्धो धर्मी'ति' वचनव्याघातात्।

यहां आचार्य कहते हैं कि प्रतिज्ञाके एकदेश पक्षको हेतुरूपसे ग्रहण कर लिया गया है तो भी स्वयं असिद्ध नहीं है जिससे कि वह साध्यको सिद्ध न कर सके, भला धर्मी असिद्ध कैसे होसकता है ? यदि साध्यके समान धर्मीको भी असिद्ध मानोगे तो " धर्मी प्रसिद्ध होता है " इस माणिक्यनंदी आचार्यके सूत्ररूप वचनका व्याघात हो जावेगा अथवा धर्मीको असिद्ध कहनेवालेको इस सूत्रसे विरोध हो जावेगा।

सत्यं प्रसिद्ध एव धर्मीति चेत् स तर्हि हेतुत्वेनोपादीयमानोऽपि न स्वयमसिद्धो यतो न साध्यं साधयेत्।

प्रतिवादी शङ्काकार—आचार्योंका कहना बिल्कुल ठीक है कि वादी प्रतिवादियोंको जो प्रसिद्ध है वही धर्मी होता है। यदि शंकाकार ऐसा कहेगा तो हम कहते हैं कि ऐसे प्रसिद्ध धर्मीको यदि हमने हेतुरूपसे अनुमानमें ग्रहण किया है तब तो वह स्वयं असिद्ध नहीं है जिससे कि साध्यको सिद्ध न कर पावे, अर्थात् साध्यको अवश्य सिद्ध कर देवेगा।

स हेतुरनन्वयः स्यात् धार्मिणोऽन्यत्रानुगमनाभावादिति चेत् सर्वमनित्यं सत्त्वादिति धर्मः किमन्वयी येन स्वसाध्यसाधने हेतुरिष्यते ?

यहां शंकाकर बौद्ध कहता है कि यदि आप पक्षको ही हेतु करोगे तो अन्वयदृष्टान्त नहीं मिल सकेगा, अतः अनन्वयदोष है। क्योंकि धर्मीके सिवाय दूसरी जगह हेतु रहेगा नहीं, जैसे कि जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है, यहां रसोईघर दृष्टान्त है किंतु जहां मोक्षमार्गपना है वहां वहां रत्नत्रयका समुदायपना है, इस अन्वयव्याप्तिका पक्षके सिवाय कोई दूसरा दृष्टान्त मिलता नहीं है। यदि आप ऐसा कहोगे तो यहां आचार्य बौद्धसे पूंछते हैं कि संपूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं सत् होनेसे, इस आपके माने गये प्रसिद्ध अनुमानमें क्या सत्त्व हेतु अन्वयदृष्टान्त रखता है ? जिससे कि क्षणिकपनेरूप अपने साध्यके सिद्ध करनेमें अच्छा हेतु माना जावे, अर्थात् यहां भी सम्पूर्ण पदार्थोंको पक्षकोटिमें ले रखा है, अतः आपके अनुमानमें भी अन्वय दृष्टान्त न मिलनारूप अनन्वय दोष है। साहित्यवालोंने आकाश आकाशके समानही लम्बा चौडा है, समुद्र समुद्रके समान गंभीर है इन वाक्योंमें अनन्वय नामक अलङ्कार माना है। बौद्धोंने इसको दोष माना है, जैन न्याय-वेत्ता तटस्थ हैं। अनन्वय न तो दोष है और न गुण है।

सत्त्वादिधर्मसामान्यमशेषधर्मिव्यक्तिष्वन्वयीति चेत् तथा धर्मिसामान्यमपि, दृष्टान्त-धर्मिण्यनन्वयः पुनरुभयत्रेति यत्किंचिदेतत्।

यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे कि क्षणिकत्व सिद्ध करनेके लिये दिये गये सत्त्व, कृतकत्व, उत्पत्ति-मत्त्व आदि हेतु तो सामान्यपनेसे सम्पूर्ण पक्षरूप व्यक्तियोंमें रहते हैं, अतः अन्वयदृष्टान्त बन जावेगा,

तबतो उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि हमारे अनुमानमें भी मोक्षमार्गत्वरूपी हेतु सामान्यरूपसे दृष्टान्तधर्मीमें भी पाया जाता है, पक्षके एक देशमें भी अन्वयव्याप्तिका बनना इष्ट किया गया है। तथा विशेषरूपको पक्ष बनाकर और सामान्य अंशको हेतु माननेवालोंको कोई दोष नहीं आता है। यदि बौद्धोंका यह आग्रह है कि पक्षसे बहिर्भूत ही अन्वयदृष्टांत होना चाहिये अन्यथा अनन्वय दोष होगा, तब तो ऐसा अनन्वय दोष फिर हमारे और आपके दोनों अनुमानोंमें समान है, फिर यह कुछ भी कहनामात्र है, तत्त्व कुछ नहीं निकला। यानी आपके उक्त कथनका कुछ भी फल नहीं निकलता है। पक्षके अंतरंगमें भी व्याप्ति बनायी जाकर सद्धेतुओंकी व्यवस्था मानी गयी है, जैसेकि सर्वज्ञकी सिद्धि करनेमें सम्पूर्ण पदार्थोंको पक्ष कर एकज्ञानसे जाने गयेपनको साध्य किया है और अनेकत्व हेतु दिया है, इस अनुमानमें जो जो अनेक होते हैं वे वे एक ज्ञानके विषय होजाते हैं, जैसेकि पांचों अंगुलियां ऐसी अन्वयव्याप्ति बनाकर पांचों अंगुलियोंको अन्वयदृष्टांत माना है, जो कि पक्षमें अंतर्भूत हैं। दूसरी बात यह है कि अन्वयदृष्टांतमें रहना हेतुका प्राणस्वरूप लक्षण नहीं है। विना अन्वय दृष्टांतके भी प्राणादिमत्त्व हेतुसे आत्मासहितपनेको और कृत्तिकोदयसे मुहूर्त्तके बाद रोहिणी नक्षत्रके उदयको सिद्ध किया गया है। तीसरी बात यह है कि कविलोगोंने अनन्वयको दोष न मानकर अलंकार ही माना है, जैसे कि जिनेन्द्र देव जिनेन्द्रदेव ही हैं, यहां कोई दूसरा उपमान नहीं मिलता है।

साध्यधर्मः पुनः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वान्न हेतुर्धर्मिणा व्यभिचारात् किं तर्हि स्वरूपासिद्धत्वादेवेति न प्रतिज्ञार्थैकदेशो नाम हेत्वाभासोऽस्ति योऽत्राशंक्यते।

श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यने वह्निवाला पर्वत है, इस अनुमानमें अग्निको साध्य माना है और कहीं कहीं अग्निसहित पर्वतको भी साध्य माना है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी "मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन आदि त्रयात्मक" है, यहां साध्यकी कुक्षिमें पडे हुए दो धर्म हैं, उन दोनोंको प्रतिज्ञावाक्यके विषयका एकदेशपना है, वहां पक्ष अंश तो प्रसिद्ध ही है। साध्य अंश अप्रसिद्ध माना गया है, अतः प्रतिज्ञाका एकदेश होनेसे सद्धेतुपनेमें दोष आवेगा, यदि ऐसा नियम करोगे यह ठीक नहीं, तब तो पक्षसे व्यभिचार हो जावेगा क्योंकि पक्ष भी तो प्रतिज्ञाका एकदेश है, तब तो फिर क्या करें? इसका उत्तर यह है कि यदि प्रतिज्ञाके विषय असिद्ध है तो वहां स्वरूपासिद्ध नामके हेत्वाभाससे असिद्धता उठानी चाहिये, पक्षमें हेतुके न रहनेको स्वरूपासिद्ध कहते हैं। असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास हैं, जिसकी आप यहां शंका कर रहे हैं, या जो दोष यहां उठाया जा रहा है, वह प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामका तो कोई हेत्वाभास ही नहीं है।

श्रावणत्वादिवदसाधारणत्वादनैकान्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न असाधारणत्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः ।

नैयायिक लोग अनैकान्तिक हेत्वाभासको तीन प्रकारका मानते हैं, साधारण, असाधारण और अनुपसंहारी । सपक्ष और विपक्षमें रहनेवाले हेतुको साधारण कहते हैं, जैसे कि पर्वत अग्निवाला है। प्रमेय होनेसे, इस अनुमानमें प्रमेयत्व हेतु रसोई घर और तालाबमें रह जानेसे साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। और जो हेतु सपक्ष, विपक्ष, दोनोंमें नहीं रहता है उसको असाधारण कहते हैं। जैसे कि शब्द अनित्य है क्योंकि कर्णेन्द्रियसे ग्राह्य है, कानोंसे जाना गयापन हेतु तो घट आदि सपक्ष और आत्मा आकाश आदि विपक्षमें नहीं रहता है। अतः असाधारण है और केवलान्वयी पक्षवाले हेतुको अनुपसंहारी कहते हैं, जैसे कि 'सर्व पदार्थ जानने योग्य हैं प्रमेय होनेसे' यहां सर्व पदार्थोंको पक्ष कर लिया है, अतः अन्वयदृष्टान्त और व्यतिरेकदृष्टान्त नहीं मिलते हैं ।

आचार्यके माने गये मोक्षमार्गत्वहेतुको प्राचीन नैयायिकके मतानुसार बौद्ध असाधारण हेत्वाभास बता रहा है । जैसे कि श्रावणत्व हेतु अनित्य माने गये घट, पट, आदि सपक्षों में नहीं रहता, है तथा नित्य हो रहे आकाश, आत्मा, आदि विपक्षोंमें भी नहीं बर्तता है इस कारण असाधारण है। उसी प्रकार यह मोक्षमार्गत्व हेतु भी पक्षके अतिरिक्त सपक्ष और विपक्षमें न रहनेसे असाधारण हेत्वाभास है । ग्रंथकार कहते हैं कि यह नैयायिकोंका विचार ठीक नहीं है । क्योंकि जो जो असाधारण होता है । वह वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । तभी तो नव्यनैयायिकोंने असाधारण हेत्वाभासका प्रत्याख्यान कर दिया है । और जैन भी असाधारण नामका हेत्वाभास नहीं मानते हैं ।

सपक्षविपक्षयोर्हि हेतुरसत्त्वेन निश्चितोऽसाधारणः संशयितो वा ? निश्चितश्चेत् कथमनैकान्तिकः ? पक्षे साध्यासम्भवे अनुपपद्यमानतयास्तित्वेन निश्चितत्वात् संशयहेतुत्वाभावात् । न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निश्चिते पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यः सर्वानित्यत्वादौ सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसंगात्, न हि सत्त्वादिर्विपक्ष एवासत्त्वेन निश्चितः सपक्षेऽपि तदसत्त्वनिश्चयात् ।

हम जैन आप वृद्ध नैयायिकोंकी पक्षवाले बौद्धोंसे पूछते हैं कि आप सपक्ष विपक्षमें न रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं तो जैसे आपने साधारण व्यभिचारके दो भेद किये हैं, विपक्षमें हेतुके निश्चितरूपसे रहनेपर निश्चित व्यभिचार होता है और विपक्षमें हेतुके रहनेका संशय होनेपर संदिग्ध व्यभिचार होता है । इसी प्रकार क्या सपक्ष और विपक्षमें हेतुके निश्चयरूपसे न रहनेको असाधारण कहते हैं ? या संशयरूपसे न रहनेको असाधारण मानते हो ? बताओ यदि आप पहिला

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पक्ष लोगे कि सपक्ष और विपक्षमें न रहनेका निश्चय होनेसे निश्चितासाधारण हेत्वाभास होता है; तब तो असाधारणको अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो हेतु साध्यके साथ अविनाभाव रखता हुआ और साध्यके न रहनेपर विपक्षमें निर्णीतरूपसे नहीं वर्तमान होता हुआ केवल पक्षमें वर्तमानपनेसे निश्चित है वह तो अच्छी तरहसे सद्धेतु है। चाहे वह सपक्षमें भले ही न रहे। पक्षमें न रहनेके संशयका कोई कारण नहीं है। जिसका सपक्ष, विपक्षमें अवृत्तिपनेका निश्चय है वह पक्षमें भी साध्यके साथ अविनाभावी रहकर निश्चय नही किया जा सके यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त नियम माननेपर सबको अनित्यपना सिद्ध करनेमें दिये गये सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंको भी असिद्धपनेका प्रसंग आवेगा। सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतु विचारे विपक्ष में ही अवृत्ति होकर निश्चित है। इतना ही नहीं बल्कि सपक्षमें भी वे सत्त्व आदि हेतु अवर्तमानपनेसे निश्चित हो रहे हैं।

सपक्षस्याभावात्तत्र सर्वानित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादेरसत्त्वनिश्चयान्निश्चयहेतुत्वं न पुनः श्रावणत्वादेस्तद्भावेऽपीति चेत्। ननु श्रावणत्वादिरपि यदि सपक्षे स्यात्तदा तं व्याप्नुयादेवेति समानांतर्व्याप्तिः।

यहां बौद्ध कहते हैं कि सबको अनित्य सिद्ध करनेमें दिया गया सत्त्व हेतु असाधारण नहीं होसकता है क्योंकि सबको पक्षकोटिमें लेलिया है। अतः कोई सपक्ष शेष रहता ही नहीं है। और शब्द अनित्य है श्रवण इंद्रियसे जानने योग्य होनेसे। इस अनुमानमें घट, पट आदि सपक्षोंके विद्यमान होनेपर भी श्रावणत्व हेतु उनमें नहीं रहता है। अतः श्रावणत्व हेतु तो असाधारण हेत्वाभास है किंतु सत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंका सपक्ष सर्वथा बिल्कुल नहीं है। सपक्षके सर्वथा न होनेसे सत्त्व आदि हेतुओंका सपक्षमें न रहना स्वतः ही निश्चित होगया। इस कारण सत्त्व आदि हेतु सद्धेतु हैं किंतु फिर श्रावणत्व आदि हेतु तो सद्धेतु नहीं होसकते हैं क्योंकि वहां सपक्ष घट, पट, आदि विद्यमान हैं और उनमें श्रावणत्व हेतु रहता नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम भी बौद्धोंसे कह सकते हैं कि श्रावणत्व आदि हेतु भी यदि सपक्षमें रहते होते तो उस समय अवश्य सपक्षमें रहनेवाले साध्यको व्याप्त कर लेते। अतः जैसे आप सर्वरूपी पक्षके भीतर बिजली, बबूला आदिमें सत्त्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति बनाकर सत्त्व, कृतकत्वको सद्धेतु कहते हैं। उसी प्रकार शब्दोंमेंसे ककार, मृदंगध्वनि आदि पक्षके एकदेशीय शब्दोंमें श्रावणत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति बनाकर श्रावणत्वको भी सद्धेतु बनाया जा सकता है। पक्षके भीतर भी साध्य और हेतुकी व्याप्ति बनाना इष्ट किया गया है। वह हमको और आपको समानरूपसे माननी पड रही है।

सति विपक्षे धूमादिश्चासत्त्वेन निश्चितो निश्चयहेतुर्मा भूत्, विपक्षे सत्यसति

वाऽसत्त्वेन निश्चितः साध्याविनाभावित्वाद्धेतुरेवेति चेत् सपक्षे सत्यसति वा सत्त्वेन निर्णीतो हेतुरस्तु तत एव।

यदि सपक्षके सर्वथा न होनेपर तो सपक्षमें न रहनेको गुण माना जाय और सपक्षके होनेपर सपक्षावृत्तित्वको दोष माना जाय तब तो विपक्ष तालाव आदिके विद्यमान रहनेपर धूम आदि हेतुके न रहनेका निश्चय भी धूम आदिकके निश्चयरूपसे सद्धेतुपनेको सिद्ध न कर सकेगा, कारण कि आपका सत्त्व हेतु भी तो विपक्षमें नहीं रहता है, जब सबको ही पक्ष कर रखा है, ऐसी दशामें विपक्ष कोई नहीं है। इसपर बौद्ध यदि यह कहेंगे कि विपक्ष होवे चाहे न होवे, उसमें अवृत्तिपनेसे निश्चित जो हेतु है, वह साध्यके साथ अविनाभावसंबन्ध रखता है, इस कारण सद्धेतु ही है, ऐसा कहनेपर हम जैन भी कह सकते हैं कि उस ही कारण सपक्ष होवे चाहे न होवे, उसमें (पक्षके भीतर भी) वृत्तिपनेसे निर्णय किया गया श्रावणत्व हेतु भी साध्यके साथ अविनाभावरूप व्याप्ति रखनेसे ही समीचीन हेतु होना चाहिये, भले ही वह पक्षसे बहिर्भूत सपक्षमें न रहे। इस प्रकरणमें अन्यवादियोंका आग्रह यह है, कि पक्षसे सर्वथा भिन्न ही सपक्ष होना चाहिये किन्तु हमारा मत है कि पक्षका अन्तरङ्ग भी सपक्ष हो सकता है॥

सपक्षे तदेकदेशे वाऽसन् कथं हेतुरिति चेत्, सपक्षे असन्नेव हेतुरित्यनवधारणात्। विपक्षे तदसत्त्वानवधारणमस्तित्वयुक्तं साध्याविनाभावित्वव्याघातात्। नैवं सपक्षे तदसत्त्वानवधारणे व्याघातः कश्चित्॥

बौद्ध कहते हैं कि निश्चितसाध्य वाले संपूर्ण सपक्षोंमें या उसके एकदेशरूप किसी दृष्टान्तमें न रहता हुआ हेतु कैसे अच्छा हेतु होसकता है? इसपर आचार्य कहते हैं कि सपक्षमें हेतु नहीं ही रहना चाहिये, ऐसा तो नियम किसीने नहीं किया है अर्थात् हेतु सपक्षमें रह जाय तो अच्छा और यदि न रहे तो भी हानि नहीं है। "ऊपरके देशमें पानी वर्ष चुका है क्योंकि नीचेके प्रान्तमें नदीका प्रवाह बढ गया है" इस अनुमानका हेतु पक्ष, सपक्ष, दोनोंमें नहीं रहता है तथा "जीवित पुरुषोंके शरीर आत्मासे सहित हैं, श्वासउच्छ्वास और शरीर, इन्द्रिय आदिमें विशिष्ट चेष्टा होनेसे" इस अनुमानमें हेतु सपक्षमें सर्वथा बिल्कुल नही रहता है, क्योंकि पूर्व अनुमानमें कानपुर पक्ष है, बनारसमें गङ्गाका पूर बढना हेतु है, वृष्टि होना साध्य है। यहां बरसते समय गृहकी छत, गली आदि सपक्ष हैं वहां हेतु नहीं रहता है। दूसरे अनुमानमें सर्व ही जीवितशरीरोंको पक्ष बना रक्खा है। "पर्वत आगवाला है धूम होनेसे" यहां हेतु पक्ष सपक्ष दोनोंमें रहता है। उक्त तीनों हेतु सद्धेतु माने गये हैं, अतः सपक्षमें न रहनेका ही नियम करना आवश्यक नहीं है। यदि यहां कोई इस प्रकार कहे कि साध्यके अभाववाले विपक्षमें भी हेतुके अवर्तमानपनेका नियम मत करो आचार्य कहते हैं

कि यह कहना युक्तिसे रहित है, क्योंकि विपक्षमें न रहनेका यदि नियम नहीं किया जावेगा तो साध्यके विना न रहनेरूप हेतुके गुणका नाश हो जावेगा और सपक्षमें हेतुकी असत्ताका नियम न करनेपर हेतुका रत्तीभर भी कोई बिगाड होता नहीं है।

इति तत्र सन्नसन् वा साध्याविनाभावी हेतुरेव श्रावणत्वादिः सत्त्वादिवत्, तद्वन्मोक्षमार्गत्वादिति हेतुर्नासाधारणत्वादगमकः,साध्यस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकत्वस्याभावे ज्ञानमात्रात्मकत्वादौ सर्वथानुपपन्नत्वसाधनात्।

इस कारण यह सिद्ध हुआ है कि उस सपक्षमें हेतु विद्यमान रहे अथवा न रहे। यदि वह साध्यके साथ अविनाभाव संबंधरूप व्याप्ति रखता है तो वह अवश्य सद्धेतु है। आपने सत्त्व, कृतकत्व आदिकको जैसे सद्धेतु माना है उसी प्रकार श्रावणत्व आदि भी सद्धेतु हैं और सपक्षमें न रहनेपर भी मोक्षमार्गत्व हेतु सत्त्व आदि हेतुके समान सद्धेतु है। असाधारण हेत्वाभास होनेसे साध्यको नहीं ज्ञापन करनेवाला है यह कटाक्ष ठीक नहीं है। किन्तु अविनाभाव-संबंधके होनेसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप साध्यका साधक ही है। जहां तीनोंकी तदात्मक एकता नहीं है ऐसे अकेले ज्ञान या कोरी श्रद्धा, भक्ति, तथा कुज्ञान आदिमें सभी प्रकारोंसे मोक्षमार्गत्व हेतु सिद्ध नहीं माना गया है।

यदि पुनः सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन संशयितोऽसाधारण इति मतं तदा पक्षत्रयवृत्तितया निश्चितया संशयितया वानैकान्तिकत्वं हेतोरित्यायातम्, न च प्रकृतहेतोः सास्तीति गमकत्वमेव।

पूर्वमें असाधारण हेत्वाभासका लक्षण करते समय दो पक्ष उठाये थे, उनमें सपक्ष और विपक्षमें न रहनेपनेसे निश्चित किये गयेरूप असाधारण हेत्वाभासके लक्षणका खण्डन हो चुका। अब सपक्ष और विपक्षमें नहीं रहनेके संशयको प्राप्त हुआ हेतु असाधारण हेत्वाभास है, यदि ऐसे दूसरे पक्षकारका मत ग्रहण करोगे, तब तो अनैकान्तिक हेत्वाभासका यह लक्षण आया कि पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें निश्चतरूपसे विद्यमान रहनेवाला और संशयरूपसे रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। निश्चितरूपसे तीनों पक्षोंमें रहना तो साधारण हेत्वाभासका लक्षण आप मानही चुके हैं और अब तीनों पक्षोंमें संशयरूपसे रहना असाधारणहेत्वाभासका लक्षण मान रहे हैं, अतः समुदित रूपसे यह अनैकान्तिकका लक्षण अच्छा है। हम भी व्यभिचारके संदिग्ध और निश्चित दो भेद मानते हैं, किन्तु प्रकरणमें प्राप्त हुये मोक्षमार्गत्व हेतुमें पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें संशयरूपसे रहनापन तथा तीनों पक्षोंमें निश्चितरूपसे विद्यमानपन नहीं है, इस कारण निर्दोष होनेसे मोक्षमार्गत्व हेतु अपने साध्यका ज्ञापक ही है अनैकान्तिक नहीं है।

विरुद्धतानेन प्रत्युक्तत्वं विपक्षे बाधकस्य भावाच्च ।

व्यभिचार और विरुद्ध हेतुका भाईचारेका नाता है, अन्तर इतना पड जाता है कि व्यभिचारी हेतु सपक्षमें रहकर विपक्षमें रहता है और विरुद्ध हेतु सपक्षमें न रहकर विपक्षमें रह जाता है। जब इन दोनोंमें समानता है तो अनैकान्तिकता दोषके हटानेवाले उक्त प्रकरणसे मोक्षमार्गत्व-हेतुके विरुद्ध हेत्वाभासपनेकी शंकाका भी खण्डन हो जाता है क्योंकि हेतुके विपक्षमें रहनेका प्रबल बाधक विद्यमान है। अर्थात् अकेले सम्यग्दर्शन आदिमें या कुज्ञान, असदाचारोंमें हेतु सर्वथा नहीं रहता है। विपक्षमें बाधक प्रमाण होनेसे प्रत्येक वस्तुकी सत्ताका दृढ निश्चय होता है।

न चैवं हेतोरानर्थक्यं ततो विधिमुखेन साध्यस्य सिद्धेरन्यथा गमकत्वविघातो तदापत्तेः ।

यहां कोई कहे कि जिसको विपक्षमें बाधक प्रमाणका निश्चय है उसको साध्यका निश्चय भी अवश्य है ऐसी दशामें हेतु बोलना सर्वथा व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कल्पना ठीक नहीं है। कारण कि उस हेतुके द्वारा साध्यकी सिद्धि विधिको मुख्य कर की जाती है और विपक्षमें हेतुके न रहनेसे साध्यकी सिद्धि निषेधको लेकर हुयी थी अन्यथा यानी यदि ऐसा न होता तो हेतुके गमकपनेके जाननेपरही वह साध्यका ज्ञान होगया होता, किन्तु देखते हैं कि अविनाभावी हेतुके जाननेपर भी बादमें व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान, तथा कहीं कहीं समर्थन, दृष्टांत, और उपनयके अनंतर साध्यका निर्णय होता है।

ततः सूक्तं लैंगिकं वा प्रमाणमिदं सूत्रमविनाभाविलिङ्गात्साध्यस्य निर्णयादिति ।

उस कारण हमने पहिले बहुत अच्छा कहा था कि "अथवा यह सूत्र तो लिङ्गजन्य अनुमान-प्रमाणरूप है क्योंकि इसमें अविनाभाव रखनेवाले मोक्षमार्गत्व हेतुसे रत्नत्रयकी एकतारूप साध्यका निश्चय किया गया है"। इस प्रथम सूत्रको आगमप्रमाण और अनुमान-प्रमाणरूप सिद्ध करनेका प्रकरण यहां तक समाप्त हुआ।

प्रमाणत्वाच्च साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे प्रक्षीणकल्मषे सिद्धे प्रवृत्तमन्यथा प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः ।

और जब यह सूत्र आगमज्ञान और अनुमानज्ञानरूप है तो प्रमाण होनेके कारण इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि केवलज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको जान चुके और कर्मोंके क्षय कर चुके वीतराग सर्वज्ञके सिद्ध होनेपर उपचारसे वचनरूप किंतु वस्तुतः ज्ञानरूप यह सूत्र आप्तधारासे प्रवर्ता हुआ चला आरहा है। इसके विना माने दूसरे प्रकारसे सूत्रमें प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती है।

"नेदं सर्वज्ञे सिद्धे प्रवृत्तं तस्य ज्ञापकानुपलम्भादभावसिद्धे" रिति परस्य महामोहविचेष्टितमाचष्टे—

यहां किसीका नवीन पूर्वपक्ष है कि "यह सूत्र सर्व पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञके सिद्ध होनेपर प्रवृत्त हुआ है यह जैनोंका कहना ठीक नहीं है कारण कि उस सर्वज्ञका ज्ञान करानेवाला कोई प्रमाण माना नहीं गया है। अतः ज्ञापक प्रमाण नहीं दीखनेसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध है"। इस प्रकार दूसरे सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकका कहना अत्यंत गाढमोहसे प्रेरित होकर चेष्टा करना है। इसी बातको आचार्य कहते हैं—

तत्र नास्त्येव सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलम्भनात्।
व्योमाम्भोजवदित्येतत्तमस्तमविजृम्भितम् ॥ ८ ॥

उस प्रकरणमें कोई कहता है कि "आकाशके कमलके समान सर्वज्ञका ज्ञापकप्रमाण न होनेसे कोई भी सर्वज्ञ नहीं है"। इस प्रकार का यह अयुक्तबकवाद केवल बढे हुए कुज्ञान और मिथ्यात्व नामक अन्धकारकी कुचेष्टा (हरकत) है।

"नास्ति सर्वज्ञो ज्ञापकानुपलब्धेः खपुष्पवत् इति ब्रुवन्नात्मनो महामोहविलासमावेदयति।"

"सर्वज्ञ नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला कोई ज्ञापक प्रमाण नहीं दीखता है (हेतु) जैसे कि आकाशके फूलका (अन्वयदृष्टान्त)" इस प्रकार कहनेवाला अपने महामूढपनेमें होनेवाली चेष्टा करनेकी सूचना दे रहा है।

यस्मादिदं ज्ञापकमुपलभ्यत इत्याह;—

सर्वज्ञाभाववादीके द्वारा सर्वज्ञके नास्तित्व सिद्ध करनेमें दिया गया ज्ञापक प्रमाणका न दीखनारूप हेतु विचारपक्षमें न रहनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, जिस कारणसे कि सर्वज्ञका ज्ञान करानेवाला यह अनुमान प्रमाण देखा जा रहा है। इसी बातको आचार्य विशदरूपसे कहते हैं—

सूक्ष्माद्यर्थोपदेशो हि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकः। परोपदेशलिंगाक्षानपेक्षावितथत्वतः ॥९॥

आकाश, परमाणु, धर्म-द्रव्य आदि सूक्ष्म पदार्थोंका और क्षीरसमुद्र, सुमेरुपर्वत आदि देश-व्यवहित वस्तुओंका तथा महापद्म, रामचन्द्र, शंख, भरतचक्रवर्ती प्रभृति वर्तमानकालसे व्यवहित पदार्थोंका यथार्थ उपदेश करना तो उन संपूर्ण पदार्थोंके विशदरूपसे प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञको कारण मानकर प्रवृत्त हुआ है (प्रतिज्ञा) क्योंकि दूसरोंके उपदेश, अविनाभावी हेतु, और इंद्रियोंकी अपेक्षा न रखता हुआ वह उपदेश सत्यार्थ है। (हेतु)

शीतं जलमित्याद्युपदेशेनाक्षापेक्षेणावितथेन व्यभिचारोऽनुपचरिततत्साक्षात्कर्तृपूर्वक-त्वस्य साध्यस्याभावेऽपि भावादवितथत्वस्य हेतोरुपचारतस्तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वसाधने स्वसिद्धान्तविरोधात्, तत्सामान्यस्य साधने स्वाभिमतविशेषसिद्धौ प्रमाणान्तरापेक्षणात्प्रकृतानुमानवैयर्थ्यापत्तिरिति न मन्तव्यमक्षानपेक्षत्वविशेषणात् ।

सर्वज्ञके साधक हेतुमें पडे हुए इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले हेत्वंशके प्रयोगकी सफलता दिखलाते हैं कि जल ठण्डा है, पौण्डा मीठा है, फूल सुगन्धित है, वस्तु शुक्ल है इत्यादि उपदेश भी इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हुए सत्य हैं किन्तु मुख्यप्रत्यक्षरूप केवलज्ञानसे जानकर उनका उपदेश नहीं दिया गया है । अतः पहिले मुख्यप्रत्यक्षसे उनका साक्षात् कर पुनः उपदेश देना-स्वरूप साध्यके न रहनेपर भी हेतुके रह जानेसे व्यभिचार दोष है । यदि जैन लोग व्यभिचारके दूर करनेके लिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे जाननेवाले वक्ताको कारण मानकर ठण्डा पानी आदि उपदेशोंमें साध्यको सिद्ध करोगे तो जैनोंके सिद्धान्तसे विरोध हो जावेगा । कारण कि इस अनुमानमें साध्यदलमें मुख्य प्रत्यक्षके द्वारा जानकर सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके उपदेश देनेका सिद्धान्त किया गया है । इंद्रियप्रत्यक्षसे जानकर उपदेश देनेमें वह सिद्धान्त बिगडता है । अर्थात् सर्वज्ञके भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका प्रसंग आता है जो कि जैनोंको अनिष्ट है । यदि उन इंद्रियप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्षमें रहनेवाले सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर वक्ता उपदेश दे देता है अर्थात् साध्यके शरीरमें पडे हुए प्रत्यक्षका खुलासा न कर सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर उपदेश दे देनेकी सिद्धि इष्ट करोगे तो ऐसे सामान्य साध्यसे सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष करनेवाले वक्ताकी ही सिद्धि हो सकती है किन्तु आपको अपने केवलज्ञानी सर्वज्ञ, वक्ताकी सिद्धि इष्ट है । इसके लिए दूसरा प्रमाण कहना अपेक्षणीय पडेगा । प्रकरणप्राप्त अभीका दिया हुआ सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर उपदेश करनेको साधनेवाला अनुमान व्यर्थ पडेगा । इसपर आचार्य कहते हैं कि हमारे हेतुमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखनारूप विशेषण पडा हुआ है और शंकाकारने इंद्रियोंके द्वारा हुए प्रत्यक्षको कारण मानकर उत्पन्न हुए उपदेशमें हेतुको रखकर साध्यका न रहनारूप व्यभिचार दिया था यों वह व्यभिचारका प्रसंग नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यहां हेतुका अज्ञानपेक्षत्व विशेषण नहीं घटा है । अतः मुख्यप्रत्यक्षसे जानकर उपदेश देनापन साध्य भी नहीं है । साध्य भी न रहा, हेतु भी नहीं ठहरा व्यभिचार दोष टल गया ।

सर्वज्ञविज्ञानस्याप्यक्षजत्वादसिद्धं विशेषणमित्यपरः, सोऽप्यपरीक्षकः, सकलार्थसाक्षात्करणस्याक्षजज्ञानेनासम्भवात्, धर्मादीनामक्षैरसंबन्धात्, स हि साक्षान्न युक्तः पृथिव्याद्यवयविवत्, नापि परम्परया रूपरूपत्वादिवत् स्वयमनुमेयत्ववचनात् ।

यहां अन्यवादी अलौकिक सन्निकर्षके द्वारा योगिप्रत्यक्षको माननेवाला नैयायिक कहता है

कि सर्वज्ञका विशदज्ञान भी इन्द्रियोंसेही जन्य है, अतः इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना यह हेतुका विशेषण पक्षमें न रहनेसे असिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि वह ऐसा कहनेवाला भी परीक्षक नहीं है क्योंकि इन्द्रियोंसे पैदा हुए ज्ञानके द्वारा त्रिलोक, त्रिकालके संपूर्ण पदार्थोंका स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होसकता है, असम्भव है। सुनिये धर्मद्रव्य, पुण्य, पाप, क्षीरसमुद्र, रामचंद्र आदिके साथ आधुनिक पुरुषोंकी इन्द्रियोंका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आपके मतानुसार इन्द्रियोंके द्वारा उसी पदार्थका प्रत्यक्ष माना गया है, जिसके साथ इन्द्रियोंका विना व्यवधान लिये हुए साक्षात् संबंध हो या व्यवधान डालकर परम्परासे संबन्ध हो। तिनमें यहां धर्मादि पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका वह साक्षात् संबन्ध तो युक्तही नहीं है। जैसे कि घट, पट, भूमि, वायु, जल, आत्मा आदिक द्रव्य पदार्थोंसे चक्षुइन्द्रियका साक्षात् संयोगसंबंध माना है क्योंकि आपके मतमें इंद्रियां द्रव्यरूप मानी गयी हैं। स्पर्शनेन्द्रिय वायुकी, रसना जलकी, घ्राण पृथिवीद्रव्यकी और आंखे तेजोद्रव्यकी बनी हुई हैं। कर्ण आकाश द्रव्यरूप है तथा प्रत्येक आत्माके पास परमाणुके बराबर मनइंद्रिय स्वतंत्र नौमां द्रव्य है। और द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे संयोगसंबंध इष्ट किया है। पृथ्वी आदिक अवयवी द्रव्योंके समानधर्म, परमाणु आदिका इंद्रियोंसे साक्षात्संबन्ध होना युक्त नहीं है। और रूपके साथ आपने संयुक्त समवाय सन्निकर्ष माना है, चक्षुसे संयुक्त घट है, और घटमें रूप समवायसंबंधसे वर्त्तमान है, अतः चक्षु इंद्रियका रूपके साथ संयुक्तसमवायसंबंध है यह परम्परासंबंध है। तथा रूपत्वके साथ चक्षुका आपने संयुक्तसमवेतसमवाय संबंध माना है, यहां भी चक्षुका रूपत्वके साथ दूसरोंकी परम्परा लेकर संबंध है। चक्षुसे घटसंयुक्त है, घटमें समवायसंबंधसे रूप रहता है, और रूपमें रूपत्वजाति समवायसंबंधसे रहती है, अतः चक्षुका रूपत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय संबंध है। यों चक्षुका रूप, रूपत्वके समान धर्म आदिकके साथ इंद्रियोंका परम्परासे भी संबंध नहीं है क्योंकि आप नैयायिकोंने पुण्य, पाप, परमाणु आदिको अनुमानप्रमाणसे जानने योग्य कहा है, वे बहिरंग इंद्रियोंके गोचर नहीं हैं। प्रत्यक्षके उपयोगी चक्षु संयुक्तमें उद्भूतरूपसे अवच्छिन्न और महत्त्वावच्छिन्न विशेषण आपने दे रक्खे हैं धर्म आदिमें उद्भूतरूप नहीं है। और परमाणुमें महत्त्व नहीं है।

योगजधर्मानुगृहीतान्यक्षाणि सूक्ष्माद्यर्थे धर्मादौ प्रवर्तन्ते महेश्वरस्येत्यप्यसारं, स्वविषये प्रवर्त्तमानानामतिशयाधानस्यानुग्रहत्वेन व्यवस्थितेः, सूक्ष्माद्यर्थेऽक्षाणामप्रवर्तनात्तदघटनात्। यदि पुनस्तेषामविषयेऽपि प्रवर्त्तनमनुग्रहस्तदैकमेवेन्द्रियं सर्वार्थं ग्रहीष्यताम्।

वैशेषिक कहता है कि चित्तकी वृत्तिको एक अर्थमें रोकनारूप समाधिसे पैदा हुए पुण्य विशेषको सहकारी कारण लेकर महान ईश्वरकी चक्षुरादिक इन्द्रियाँ पुण्य, पाप, परमाणु, स्वर्ग, राम, रावण, सुमेरु आदि सूक्ष्म, व्यवहित आदि अर्थोंके जाननेमें प्रवृत्ति करती हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी वैशेषिक, नैयायिकका कहना साररहित है—क्योंकि अनुग्रह करनेवाला सहकारी कारण वह

निर्णीत किया गया है, जो कि अपने विषयमें प्रवृत्ति करनेवाले कारणोंमें कुछ विशेषताओंको स्थापन कर देवें, जैसे कि छोटे छोटे अक्षरोंके पढनेमें चक्षुका अनुग्रह करनेवाला उपनेत्र (चश्मा) होता है, अन्धे मनुष्यको चश्मा सहकारी कारण नहीं है, तथा रूपकी तरह रसको भी जाननेमें चक्षुका सहकारी चश्मा नहीं हो सकता है, कारण कि रस, गन्ध, आदि चक्षुके विषय ही नहीं है। इसीप्रकार परमाणु, पुण्य, पाप, भूत भविष्यत् कालके पदार्थ तो इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं, अतः अविषयमें प्रवृत्ति करनेके लिये योगसे पैदा हुआ पुण्यविशेष विचारा महेश्वरकी इन्द्रियोंमें सहकारी कारण होकर कुछ विशेषताको नहीं ला सकता है, यों वह बात घटित नहीं होती है। यदि आप फिर महेश्वरकी उन इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे बाहिर भी प्रवर्त्तन करना समाधिसे पैदा हुए पुण्यविशेषसे सहकृत अनुग्रह है ऐसा मानोगे, तब तो सम्पूर्ण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सुख, दुःख, आदिको ग्रहण करनेवाली एक ही इन्द्रिय इष्ट कर लो, उसमें अनेक कारणोंसे अतिशय पैदा होता जावेगा, अकेली चक्षुइंद्रिय ही उस अतिशयके बलसे अपने विषय नहीं ऐसे रस, गन्ध, आदिकमें भी प्रवृत्ति कर लेवेगी, अतः आप नैयायिक पांच छह इन्द्रियोंकी कल्पना भी क्यों करते हैं ?।

सत्यमन्तःकरणमेकं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सर्वार्थसाक्षात्करणक्षममिष्टमिति चेत्, कथमणोर्मनसः सर्वार्थसंबन्धः सकृदुपपद्यते ? दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ सकृच्चक्षुरादिभिस्तत्संबन्धप्रसक्तेः, रूपादिज्ञानपंचकस्य क्रमोत्पत्तिविरोधात्। क्रमशोऽन्यत्र तस्य दर्शनादिह क्रमपरिकल्पनायां सर्वार्थेषु योगिमनःसम्बन्धस्य क्रमकल्पनास्तु।

नैयायिक कहते हैं कि आप जैनोंका कहना ठीक है, हम नैयायिक चित्तकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए पुण्यसे सहकृत अन्तरंगकी इन्द्रिय—मनको एक समयमें सम्पूर्ण अर्थोंके प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ मानते ही है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन आपसे पूंछते हैं कि परमाणुके बराबर छोटेसे मनका एक ही बारमें त्रिलोक, त्रिकालके सम्पूर्ण पदार्थोंके साथ सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? बताओ जहां साधारण लोगोंको पांचों इन्द्रियोंके ज्ञानकी योग्यता है ऐसे (खस्ता) कचौडी, तथा पके हुए पान आदिके खाते समय भी पांचों ही ज्ञान एक समयमें नहीं माने गये हैं, (खस्ता) कचौडी या पापड खाते समय उसका रूप आंखोंसे दीखता है, रसना इन्द्रियसे रस चखा जा रहा है, नाकसे उसकी सुगन्ध आरही है, स्पर्शन इन्द्रियसे उष्ण स्पर्श जाना जाता है तथा कर्णेन्द्रियसे कुरकुर मनोहर शब्द भी सुनायी पडता है। ऐसी दशामें भी हम और आपने एक समयमें वहां पांचों ज्ञान नहीं माने हैं किन्तु क्रमसे शीघ्र पैदा हुए पांच ज्ञान पांच समयोंमें माने हैं। यों एक साथ उनके सम्बन्ध हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा यदि आप परमाणुके बरोबर आकारवाले छोटेसे मनका अनेक अर्थोंके साथ एक समयमें साक्षात्संबन्ध मान लोगे तो कचौडी खाते समय

भी पांचों इंद्रियोंसे पांचों ज्ञान एक समयमें हो जाने चाहिए। तब आपके माने गये ज्ञानोंके क्रमसे पैदा होनेका विरोध हो जावेगा। इस विरोधके दूर करनेके लिए यदि आप यह कहेंगे कि अन्य स्थलोंपर घट, वह्नि, आम्र आदिके रूप, रस, आदिका वह ज्ञान क्रमसे ही होता देखा गया है। अतः यहां कचौडी खानेमें भी पांचों ज्ञान क्रमसे होते हुए माने जावेंगे कारण कि छोटेसे मनका अनेक इंद्रियोंके साथ क्रमसे ही संबंध होना सम्भव है, ऐसी अटपटी कल्पना करनेपर तो समाधियुक्त योगियोंके मनका संपूर्ण अर्थोंमें सम्बन्ध करना भी क्रमसे ही मानना पडेगा।

सर्वार्थानां साक्षात्करणसमर्थस्येश्वरविज्ञानस्यानुमानसिद्धत्वात्तैरीशमनसः सकृत्संबन्धसिद्धिरिति चेत्। रूपादिज्ञानपञ्चकस्य क्वचिद्यौगपद्येनानुभवादनीशमनसोऽपि सकृच्चक्षुरादिभिः सम्बन्धोऽस्तु कुतश्चिद्धर्मविशेषात्तथोपपत्तेः।

पुनः नैयायिक कहते हैं कि ईश्वरका ज्ञान संपूर्ण भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान, व्यवहित, पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ है, यह बात धर्म आदि किसी आत्माके प्रत्यक्षके विषय हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं इस अनुमानसे सिद्ध हो चुकी है, अतः ईश्वरके मनका संपूर्ण पदार्थोंके साथ एक समयमें संबंध होजाना उक्त अनुमानसे गम्य है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तो जो ईश्वरसे भिन्न हैं ऐसे सामान्य मनुष्योंके मनका भी कहीं कचौडी खाते समय युगपद् रूपसे पांचों ज्ञान होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः साधारण मनुष्योंके मनका भी चक्षुरादिक अनेक इंन्द्रियोंसे संबंध होजाना एक समयमें मानलो, ईश्वरके पुण्य विशेषसे जैसे ईश्वरके मनका संपूर्ण अर्थोंसे साक्षात्सबन्ध होजाता है, इसी प्रकार किसी एक धर्मकर्मसे पैदा हुए छोटे पुण्यविशेषसे साधारण मनुष्यकी कई इंद्रियोंके साथ भी एक समयमें मनका इस प्रकार संबंध बन सकता है।

तादृशो धर्मविशेषः कुतोऽनीशस्य सिद्ध इति चेत्, ईशस्य कुतः? सकृत्सर्वार्थज्ञानात्तत्कार्यविशेषादिति चेत्, तर्हि सकृद्रूपादिज्ञानपंचकात् कार्यविशेषादनीशस्य तद्धेतुधर्मविशेषोऽस्तीति किं न सिद्ध्येत्?

नैयायिक पूंछते हैं कि एक समयमें पांचों इंद्रियोंके साथ संबंधका कारण छोटा पुण्यविशेष साधारण मनुष्यके पास है, यह कैसे सिद्ध हुआ? बताओ ऐसे कहने पर हम जैन भी नैयायिकसे पूछते हैं कि सम्पूर्ण अर्थोंसे एक समयमें सम्बन्धका कारण पुण्यविशेष ईश्वरके पास है यह भी आपने कैसे जाना? यदि इसका उत्तर आप नैयायिक यह दोगे कि ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको एक समयमें जानता है, उस कार्यविशेषसे उसके कारणविशेष पुण्यका मानना आवश्यक है तब तो हम भी कहते हैं कि साधारण मनुष्यको भी कचौडी खाते समय रूप आदिकके पांचों ज्ञान एक साथ होते हैं। इस विशेषकार्यको देखकर यह अनुमानसे क्यों नहीं सिद्ध होगा कि

साधारण मनुष्यके पास भी पांचों इंद्रियोंसे एक समयमें मनके उस संबंध होनेका कारण छोटा पुण्य विशेष है।

तथा सति तस्य रूपादिज्ञानपञ्चकं नेन्द्रियजं स्यात्। किं तर्हि धर्मविशेषजमेवेति चेत्, सर्वार्थज्ञानमप्येवमीशस्यान्तःकरणजं माभूत् समाधिविशेषोत्थधर्मविशेषजत्वात्।

यहां नैयायिक कटाक्ष करते हैं कि यदि सामान्य मनुष्यके छोटे पुण्यके द्वारा पैदा हुए पांचों ज्ञान एक समयमें मानोगे तो तैसा होनेपर उसका ज्ञान इंद्रियोंसे जायमान नहीं कहा जावेगा, किंतु विशेषपुण्यसे पैदा हुए पांच ज्ञान कहे जावेंगे। इसके उत्तरमें हम जैन कहते हैं कि एक समयमें ईश्वरको होनेवाला सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान भी मन इंद्रियसे जन्य न होसकेगा क्योंकि आपने चित्तकी एकाग्रतारूप विलक्षण समाधिके द्वारा उत्पन्न हुए पुण्यविशेषसे पैदा हुआ ईश्वरका ज्ञान माना है।

तस्य मनोऽपेक्षस्य ज्ञानस्यादर्शनाददृष्टकल्पना स्यादिति चेत्। मनोऽपेक्षस्य वेदनस्य सकृत्सर्वार्थसाक्षात्कारिणः क्वचिद्दर्शनं किमस्ति येनादृष्टस्य कल्पना न स्यात्?

सब जीवोंके ज्ञान मनकी अपेक्षा रखते हुए पैदा होते देखे गये हैं, विना मनको कारण माने कोई ज्ञान पैदा नहीं होता है। प्रत्येक आत्माके पास अणुरूप एक एक मन माना गया है। यदि ईश्वरके सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान मनकी नहीं अपेक्षा करके अकेले पुण्यसे पैदा हुआ माना जावेगा तो यह बिना देखे हुए नये कार्यकारणभावकी कल्पना समझी जावेगी। यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तब तो हम जैन पूछते हैं कि मनकी अपेक्षा रख रहे और एक समयमें सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञानका क्या कहीं दर्शन हो रहा है? जिससे कि मनका अनेक पदार्थोंसे युगपत् संबन्ध करना बिना देखे हुए पदार्थकी एक मनगढंत न समझी जावे?

सर्वार्थज्ञानं मनोऽपेक्षं ज्ञानत्वादस्मदादिज्ञानवदिति चेत् न, हेतोः कालात्यापदिष्टत्वात् पक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि—सर्वज्ञविज्ञानं मनोऽक्षानपेक्षं सकृत्सर्वार्थपरिच्छेदकत्वात्, यन्मनोऽक्षापेक्षं तत्तु न सकृत्सर्वार्थपरिच्छेदकं दृष्टं यथास्मदादिज्ञानं, न च तथेदमिति मनोऽपेक्षत्वस्य निराकरणात्।

यहां नैयायिक अनुमान करते हैं कि "ईश्वरके सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें मन इन्द्रियकी अपेक्षा रखता है क्योंकि वह ज्ञान है, जैसे कि हम संसारी जीवोंके ज्ञान मनकी अपेक्षा रखते हैं"। आचार्य कहते हैं कि यह नैयायिकोंका अनुमान ठीक नहीं है क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञानको मनकी नहीं अपेक्षा करके पैदा होना सिद्ध हो चुकनेके बाद आपने मनकी अपेक्षा रखनेवाला अनुमान किया है। अतः आपके प्रतिज्ञावाक्यकी इस वक्ष्यमाण अनुमानसे बाधा हो जानेसे आपका ज्ञानत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट नामका हेत्वाभास है। हम आपके साध्यकी बाधा करनेवाले अनुमानको

स्पष्ट कहते हैं। सुनिये "सर्वज्ञका एक समयमें जाननेवाला संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान (पक्ष) अंतरंग मन इन्द्रियकी और बहिरंग चक्षुरादिक इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है। (साध्य) क्योंकि वह ज्ञान एकसमयमें संपूर्ण अर्थोंको विशदरूपसे जाननेवाला है। (हेतु) इस अनुमानमें व्यतिरेक व्याप्तिको दिखलाते हुए दृष्टान्त देते हैं कि जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें चक्षुरादिक और मन इन्द्रियकी अपेक्षा रखता है वह ज्ञान तो एक समयमें संपूर्ण अर्थोंको स्पष्टरूपसे जाननेवाला नहीं देखा गया है। जैसे कि हम सरीखे साधारण लोगोंका ज्ञान इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है, तभी तो संपूर्ण अर्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है किंतु यह सर्वज्ञका ज्ञान इस प्रकार संपूर्ण अर्थोंको न जाननेवाला नहीं है, अर्थात् संपूर्ण अर्थोंको जाननेवाला है। (उपनय) इस कारण इन्द्रियोंकी सहकारिता नहीं चाहता है"। (निगमन) इस कहे हुए अनुमानसे नैयायिकोंके मनकी अपेक्षाको सिद्ध करनेवाले अनुमानका खण्डन हो जाता है।

नन्वेवं "शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपञ्चकं मनोऽक्षानपेक्षं सकृद्रूपादिपञ्चकपरिच्छेदकत्वाद्यद्येवं तन्नैवं दृष्टं यथान्यत्र क्रमशो रूपादिज्ञानं, न च तथेदमतोऽक्षमनोनपेक्षम्" इत्यप्यनिष्टं सिद्ध्येदिति मा मंस्थाः साधनस्यासिद्धत्वात्, परस्यापि हि नैकांतेन शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानपंचकस्य सकृद्रूपादिपंचकपरिच्छेदकत्वं सिद्धम्, सोपयोगस्यानेकज्ञानस्यैकत्रात्मनि क्रमभावित्ववचनात्, शक्तितोऽनुपयुक्तस्य यौगपद्यस्य प्रसिद्धेः।

यहां नैयायिक पुनः शंका करते हैं कि जैनोंने जिस प्रकार अनुमान द्वारा सर्वज्ञके अनेक अर्थोंको जाननेवाले ज्ञानमें इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना सिद्ध कर दिया है, उसी प्रकार यह भी अनुमान हो सकता है कि "खस्ता, कचौडी खाने, पापड, चबाने आदिमें पांचों इंद्रियोंसे रूप, रस, आदिकके जो पांच ज्ञान होते हैं, वे चक्षु मन आदिकी अपेक्षा नहीं करते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि एक समयमें रूप, रस, गन्ध, आदि पांचों विषयोंको जान रहे हैं। (हेतु, हम भी व्यतिरेक दृष्टांत देते हैं कि जो इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला नहीं है, वह एक समयमें अनेकरूप आदि विषयोंको जाननेवाला भी नहीं देखा गया है। जैसे कि अन्यस्थलोंपर कोमल वस्त्र,मोदक, इत्र, वृक्ष, मृदंगका शब्द आदि दूसरे दूसरे विषयोंमें क्रमसे होनेवाले स्पर्श, रूप, आदिके ज्ञान, अर्थात् ये सब ज्ञान इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हैं। (उदाहरण) कचौडी खाते समय होनेवाले वे पांचों ज्ञान इस प्रकार क्रम क्रमसे जाननेवाले नहीं है। (उपनय) इस कारण पांचों इंद्रिय और मनकी अपेक्षा रखनेवाले भी नहीं हैं"। (निगमन) इस अनुमानसे उक्त अनिष्टकी भी सिद्धि होजावेगी अर्थात् सर्वज्ञसंबंधी ज्ञानके समान कचौडी खाते समय पांचों ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें भी इंद्रियां सहकारी कारण न होसकेंगी। यह बात हम तुम दोनोंको अनिष्ट हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं मानना चाहिये क्योंकि पापड, कचौडी, खाते समय होनेवाले पांचों ज्ञानरूप पक्षमें युगपत्

रूप आदि पांच विषयोंको जाननेवाला हेतु रहता नहीं है, अतः नैयायिकोंका आनिष्टको आपादन करनेवाला हेतु असिद्ध नामका हेत्वाभास है। दूसरे हम लोगोंके यहां कचौडीके खाने आदिमें रूपादि पांच विषयोंको जाननेवाले एक समयमेंही रूप आदिके पांच ज्ञान होना मानना एकांतरूपसे सिद्ध नहीं हैं। जैनोंका सिद्धांतवचन है कि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते हैं, आठ ज्ञानोपयोग और चार दर्शनोपयोग ये चेतना गुणकी बारह पर्यायें हैं। एक समयमें एक गुणकी एकही पर्याय होती है। रासन प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष ये सब मतिज्ञानके भेद हैं। अतः एक आत्मामें एक समयमें उपयोगरूप अनेक ज्ञान नहीं हो सकते हैं। पर्याय भी परिवर्तनसे होनीवाली क्रमसेही होसकेंगी। ग्रंथोंमें कहीं कहीं दो तीन और चारतक भी ज्ञान एक समयमें स्वीकार किये हैं। वह शक्तिकी अपेक्षासे कथन हैं, जैसे कि अंधे पुरुषमें चाक्षुषप्रत्यक्षावरणका क्षयोपशम होनेसे लब्धिरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष है। किंतु अन्धेके उपयोगरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा अष्टसहस्री ग्रंथको जाननेवाले विद्वान्के पढते पढाते समय अष्टसहस्रीका ज्ञान उपयोग रूप है। खाते, सोते, खेलते, समय और इष्टवियोगके अवसर पर उपयोगरूप उसका ज्ञान नहीं है। क्षयोपशम होनेसे केवल शक्तिरूप है, इसी प्रकार बडी कचोडी खाते समय उपयोगरूप पांचों ज्ञान नहीं हैं किंतु चक्रके घूमनेके समान अत्यंत शीघ्र उत्तरक्षणमें पैदा होजाते हैं, अतः एक समयमें होते हुए सरीखे दीखते हैं। पांचों ज्ञानोंके आवरण करनेवाले ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम अवश्य है, अतः उपयोग रहित अर्थात् लब्धि रूप पांच ज्ञान क्या पचास मतिज्ञान भी अनेक व्यक्तियोंके जाननेकी शक्तिकी अपेक्षा युगपत् पाये जा सकते हैं। उपयोगरहित ज्ञानोंका शक्तिरूपसे युगपत् हो जाना प्रसिद्ध है।

प्रतीतिविरुद्धं चास्याक्षमनोऽनपेक्षत्वसाधनं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायितया तदपेक्षत्वसिद्धेरन्यथा कस्यचित्तदपेक्षत्वायोगात्। ततः कस्यचित् सकृत्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणमिच्छता मनोऽक्षानपेक्षमेषितव्यमिति नाक्षानपेक्षत्वविशेषणं सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्यासिद्धम्।

और नैयायिकोंकी ओरसे यह हमारे ऊपर कटाक्ष सिद्ध करना कि "कचौडी खाते समय होनेवाले ये पांच ज्ञान भी इंद्रियोंकी अपेक्षा न रख सकेंगे"। यह आपादान लोकप्रतीतिसे भी विरुद्ध है। क्योंकि इंद्रियोंके होनेपर पांच ज्ञानोंका होना और न होनेपर न होना ऐसे अन्वय व्यतिरेकको रखनेके कारण उन झटिति क्रमसे होनेवाले ज्ञानोंको इंद्रियोंकी अपेक्षा सिद्ध होजाती है। अन्यथा अन्वय व्यतिरेक रखते हुए भी यदि ज्ञानोंको इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं मानोगे तो किसी भी यानी क्रमसे होनेवाले अन्य अकेले रूप आदिके ज्ञानोंमें भी उन इंद्रियोंको कारण नहीं मान सकोगे। तिस कारणसे अब तक सिद्ध होता है कि यदि आप किसी पुरुषके एकसमयमें सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, अर्थोंका प्रत्यक्ष करना इष्ट करते हो तो वह ज्ञान इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला ही आपको मानना चाहिये। इस प्रकार नौमी वार्त्तिकमें कहे गये अनुमानमें दिया गया हेतुका अक्षान-

पेक्षत्व यह विशेषण सिद्ध होगया। विशेषणसे युक्त हेतु सूक्ष्म आदिक अर्थोंके उपदेशरूपी पक्षमें रह गया। अतः असिद्धहेत्वाभास भी नहीं है।

सिद्धमप्येतदनर्थकं तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वसामान्यस्य साधयितुमभिप्रेतत्वान्न वा सर्वज्ञवादिनः सिद्धसाध्यता, नापि साध्याविकलत्वादुदाहरणस्यानुपपत्तिरित्यन्ये।

कोई कह रहे हैं कि हेतुका इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा न रखनारूप विशेषण सिद्ध हुआ। यह ठीक है, किंतु कुछ भी लाभ न होनेसे व्यर्थ ही है। कारण कि पूर्वोक्त अनुमानद्वारा सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके उपदेशमें सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष करनेवालेको कारणपना सिद्ध किया गया है। जब किसी भी प्रत्यक्षसे जान लेना साध्यकोटिमें माना है, ऐसी दशामें उक्त प्रत्यक्षका इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना रूप विशेषण व्यर्थ ही है। साध्यकी कुक्षिमें सामान्य अतीन्द्रियके द्वारा जाननेका निवेश करनेपर यदि हम मीमांसक लोग सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले जैनके ऊपर सिद्धसाध्यता दोष उठावें कि सामान्य रूपसे प्रत्यक्ष करना तो हम मानते ही हैं फिर सिद्ध पदार्थको चर्वितके चर्वण समान साध्य क्यों किया जाता है? यह दोष ठीक नहीं है, क्योंकि हम मीमांसक लोगोंने सूक्ष्म परमाणु धर्म आदिका सामान्यप्रत्यक्षसे भी जानना इष्ट नहीं किया है। हम तो पुण्य, पाप, परमाणु, आदिके जाननेमें वेदवाक्योंका सहारा लेते हैं। अतः जैनोंके ऊपर सिद्धसाध्यता दोष नहीं लागू होसकता है तथा सामान्यप्रत्यक्षके द्वारा जाननेवालेको साध्य कोटिमें डालनेसे आप जैनोंको दूसरा लाभ यह भी है कि अन्वयदृष्टांत भी बन जावेगा। इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले मुख्य प्रत्यक्षसे जाननारूप साध्य जहां पाया जाय ऐसा प्रसिद्ध उदाहरण कोई नहीं मिल सकता है और सामान्य प्रत्यक्षसे जानकर वह्नि, पुस्तक आदिका उपदेश होता है। इस उदाहरणमें साध्यका सहितपना मिल जाता है। अतः साध्यसे रहित न होनेके कारण उदाहरणका न सिद्ध होना रूप दोष भी जैनोंके ऊपर लागू नहीं होता है ऐसा कोई दूसरे महाशय मीमांसकोंकी पक्ष लेकर कह रहे हैं।

तेऽपि स्वमतानपेक्षं ब्रुवाणा न प्रतिषिध्यन्ते परानुरोधात्तथाभिधानात्, स्वसिद्धान्तानुसारिणां तु सफलमक्षानपेक्षत्वविशेषणमित्युक्तमेव॥

अब आचार्य कहते हैं कि वे भी अन्य महाशय अपने माने हुए तत्त्वोंकी नहीं अपेक्षा करके यदि कह रहे हैं तो हम उनका निषेध नहीं करते हैं क्योंकि उनका सिद्धान्त जैनोंके विचारानुसार है, दूसरे जैनोंकी अनुकूलतासे उन्होंने वैसा कहा है। किन्तु योग, वेदाध्ययन आदिसे संस्कारको प्राप्त हुयीं इंद्रियोंके द्वारा ही सूक्ष्म अर्थोंका ज्ञान हो जाता है ऐसे अन्यवादियोंके अनुरोध करनेपर ही सूक्ष्म आदिके उपदेशमें इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखना रूप विशेषण हमने कहा है। जो मीमांसक परमाणु आदिका प्रत्यक्ष होना ही नहीं मानते हैं और अपने वैदिकसिद्धान्तके अनुसार चलते हैं।

उनके प्रति इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनारूप विशेषण तो अवश्य सफल है । इसलिए हमने हेतुमें कह दिया ही है । और यह नैयायिककी ओरसे आये हुए सिद्धसाधन दोषका भी प्रतीकार है ।

तदनुमातृपूर्वकसूक्ष्माद्यर्थोपदेशेनाक्षानपेक्षावितथत्वमनैकान्तिकमित्यपि न शंकनीयं लिङ्गानपेक्षत्वविशेषणात्, न चेदमसिद्धं परोपदेशपूर्वके सूक्ष्माद्यर्थोपदेशे लिङ्गानपेक्षावितथत्वप्रसिद्धेः ॥

अब सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाले अनुमानमें दिये गये हेतुके लिंगकी नहीं अपेक्षा रखनारूप-विशेषणकी सफलताको सिद्ध करते हैं कि परमाणु, पुण्य पाप, आदिका अनुमान करनेवाले वक्ता भी इंद्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखते हुए परमाणु आदिका सत्य उपदेश देते हैं किन्तु वहां मुख्य प्रत्यक्षसे जाननेवालेके द्वारा उपदेश देनारूप साध्य नहीं है अतः आपका हेतु व्यभिचारी है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि लिंगकी अपेक्षा न रखनारूप विशेषण हेतुमें दिया गया है । यदि यहां कोई यों कहे कि अविनाभावी हेतुकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ सत्य उपदेश कोई है ही नहीं, अतः जैनोंका हेतु असिद्ध हेत्वाभास है । यह तो ठीक नहीं है क्योंकि आगमसे जाने हुए पदार्थोंका अपनी आत्मामें अनुभव करके दूसरे सत्यवक्ता उपदेष्टाके द्वारा जहां सूक्ष्म आदिक पदार्थोंका उपदेश हो रहा है उस उपदेशमें इंद्रियों और हेतुकी नहीं अपेक्षा रखते हुए सत्य उपदेशपना प्रसिद्ध है ।

तेनैव व्यभिचारीदमिति चेत्, न परोपदेशानपेक्षत्वविशेषणात् ।

जब आप किसी निष्णात विद्वान्के उपदेशमें हेतु और इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा करके यथार्थ उपदेशपना मानते हो तो आप जैनोंका हेतु इस विद्वान्के उपदेशसे ही व्यभिचारी हो गया । ऐसा कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि हेतुमें हमने दूसरोंके उपदेशकी नहीं अपेक्षा रखना पन भी विशेषण दिया है, अतः पूर्ण हेतुके न रहनेसे साध्य भी न रहा, ऐसी दशामें व्यभिचार दोष नहीं है । इस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि वर्तमानमें सच्चे जैन आगमोंके द्वारा सूक्ष्म आदि पदार्थोंके जो उपदेश दूसरोंके उपदेश इंद्रियों और हेतुओंकी नहीं परवाह करके यथार्थ हो रहे हैं वे अवश्यही अपने उपदेश्य विषयको प्रत्यक्ष करनेवाले सत्यवक्ता सर्वज्ञके द्वारा ही पूर्वमें उपन्न हुए हैं । बादमें भले ही आगमदर्शी या अनुभवी विद्वान् सर्वज्ञके उस उपदेशका स्वयं उपदेश देवें ।

तदसिद्धं धर्माद्युपदेशस्य सर्वदा परोपदेशपूर्वकत्वात्, तदुक्तं " धर्मे चोदनैव प्रमाणं नान्यत् किञ्चनेन्द्रिय " मिति कश्चित् ।

यहां कोई मीमांसक कहता है कि जैनोंका हेत धर्म आदिकके उपदेशरूप पक्षमें नहीं रहता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास है क्योंकि हमारे यहां सूत्रग्रन्थोंमें लिखा हुआ है कि पुण्य, पापके जाननेमें लिङ्, लोट, तव्य प्रत्ययवाले वेदवाक्य ही प्रमाण हैं। दूसरा कोई ज्ञापक नहीं है। इन्द्रियां, हेतु, और अतींद्रिय प्रत्यक्षसे पुण्य नहीं जाना जाता है। हम लोग जो पुण्य, परमाणु, आदि सूक्ष्म अर्थोंको जान लेते हैं। वह वेदविद्वानोंके उपदेश द्वारा ही जान सकते हैं। अतः धर्म आदिकके उपदेशमें परोपदेशकी अपेक्षा होनेसे परोपदेशकी नहीं अपेक्षा रखनारूप-विशेषण नहीं घटता है। अतः असिद्धहेत्वाभास है।

तत्र केयं चोदना नाम ? क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमिति चेत् तत्पुरुषेण व्याख्यातं स्वतो वा क्रियायाः प्रवर्त्तकं श्रोतुः स्यात् ? न तावत्स्वत एवाचार्यचोदितः करोमीति हि दृश्यते न वचनमेवेदृग् इति।

यहां आचार्य पूंछते हैं कि जिन प्रेरणावाक्योंसे परोपदेशद्वारा आप धर्म आदिकको जानते हैं, वह वेदका प्रेरणावाक्य भला क्या पदार्थ है ? बताओ यदि यज्ञ करना, भावना करना, नियुक्त होना आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करा देनेवाले वचनको प्रेरणावाक्य कहोगे तो हम पूंछते हैं कि वह वचन पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया होकर श्रोताकी क्रियामें प्रवृत्ति करावेगा या विना व्याख्यान किये उच्चारणमात्रसेही अपने आप श्रोताको क्रिया करनेमें प्रेरित कर देवेगा ? बतलाइये, यदि यहां दूसरा पक्ष लोगे अर्थात् वह वेदवाक्य अपने आपही प्रवृत्ति करा देवेगा यह पक्ष तो ठीक नहीं है। क्योंकि अच्छा व्याख्यान करनेवाले आचार्यके द्वारा प्रेरित होकर मैं पूजा कररहा हूं, ऐसा सब स्थानोंपर सब जगह, देखा जाता है किंतु केवल वचन सुनकर ही इस कार्यमें प्रेरित हुआ हूं ऐसा नहीं जाना जाता है।

नन्वपौरुषेयाद्वचनात्प्रवर्तमानो वचनचोदितः करोमीति प्रतिपद्यते, पौरुषेयादाचार्यचोदित इति विशेषोऽस्त्येवेति चेत् स्यादेवं यदि मेघध्वानवदपौरुषेयं वचनं पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षं प्रवर्त्तकं क्रियायाः प्रतीयेत, न च प्रतीयते, सर्वदा पुरुषव्यापारापेक्षत्वात्तत्स्वरूपलाभस्य, पुरुषप्रयत्नोऽभिव्यञ्जकस्तस्येति चेन्नैकान्तनित्यस्याभिव्यक्त्यसंभवस्य समर्थितत्वात्॥

स्वपक्ष अब धारण करते हुए यहां मीमांसक कहते हैं कि लौकिकवचन और वैदिकवचनोंके उपदेशमें यह अंतर है ही कि किसी पुरुषके द्वारा न बनाये हुए वेदके वचनोंको सुनकर प्रवृत्ति करनेवाला यह विश्वास करता है कि मैं पवित्रवचनोंसे प्रेरित होकर इस वेदविहित क्रियाको कर रहा हूं और पुरुषोंके द्वारा बनाये हुए वचनोंको सुनकर समीचीन क्रिया करता हुआ श्रोता

यह जानता है कि मैं विद्वान् आचार्योंके व्याख्यानद्वारा प्रेरित होकर दान, पूजा आदि कर्म कर रहा हूं, आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंका कहना तब हो सकता है जब कि किसी पुरुषके न बनाये हुए वचन पुरुषोंके प्रयत्न किये विना ही किसी क्रियामें प्रवृत्त करानेवाले प्रतीतिसिद्ध हो जावें किन्तु नहीं प्रतीत हो रहे हैं। क्या बादलोंका गर्जना अपौरुषेय भी होकर अपने वाच्यार्थको रखता हुआ उसमें प्रवृत्ति करा देता है ? किन्तु नहीं। भावार्थः—जब अपौरुषेय वचन कुछ भी अपने वाच्य अर्थको नहीं रखते हैं, तब प्रवृत्ति क्या करावेंगे ? पदार्थोंके कहनेवाले उन वचनोंकी उत्पत्ति यानी अपने स्वरूपकी प्राप्ति तो सदैव पुरुषोंके व्यापारकी अपेक्षा रखती है। यदि मीमांसक यहां यों कहेंगे कि वेदके वचन तो नित्य हैं, किसी पुरुषने बनाये हुए नहीं हैं। पुरुषका कण्ठ, तालु, आदिका व्यापार पूर्वसे विद्यमान हो रहे उन शब्दोंको केवल प्रकट कर देता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि एकान्तपनेसे कूटस्थनित्य शब्दकी अभिव्यक्ति नहीं बन सकती है, असम्भव है। इस बातको हम पूर्वप्रकरणमें अच्छीतरहसे सिद्ध कर चुके हैं।

पुरुषेण व्याख्यानप्रेरितेर्थं वचः क्रियायां प्रवर्तकमिति चेत्, स पुरुषः प्रत्ययितोऽप्रत्ययितो वा ? न तावत्प्रत्ययितोऽतीन्द्रियार्थज्ञानविकलस्य रागद्वेषवतः सत्यवादितया प्रत्येतुमशक्तेः।

मीमांसकके ऊपर आचार्यने दो पक्ष उठाये थे। उनमेंसे दूसरे पक्षका खण्डन होगया। अब पहिले पक्षका खण्डन करते हैं कि पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया अपौरुषेयवेदका वचन श्रोताको यागक्रियामें प्रवृत्ति करा देता है। यदि यह पक्ष ग्रहण करोगे तो हम जैन पूछते हैं कि वह व्याख्यान करनेवाला पुरुष विश्वस्त है या विश्वास करने योग्य नहीं है ? यदि पहिला पक्ष लोगे कि वह व्याख्याता विश्वास करने योग्य है सो ठीक नहीं है, क्योंकि इंद्रियोंके अगोचर सूक्ष्म आदिक अर्थोंके ज्ञानसे रहित और रागद्वेषवाले व्याख्याताके सत्यवादीपनका विश्वास नहीं किया जासकता है। निर्णय भी नहीं होसकता है॥

स्यादपीन्द्रियगोचरेऽर्थेऽनुमानगोचरे वा पुरुषस्य प्रत्ययिता न तु तृतीयस्थानसङ्क्रान्ते जात्यन्धस्येव रूपविशेषेषु।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे जानने योग्य इंद्रियोंके विषयभूत अर्थोंमें और हमारे अनुमानसे जानने योग्य अनुमेय पदार्थोंमें उन विषयोंके व्याख्यान करनेवाले पुरुषका विश्वास भी किया जासकता है किंतु जो पदार्थ अनुमान और प्रत्यक्षसे सर्वथा न जाने जाय, केवल तीसरे प्रमाणस्थानपर होरहे आगमसे ही जानने योग्य हैं उन पदार्थोंके व्याख्यान करनेवालेमें विश्वास कैसे भी नहीं किया

जासकता है। यदि आप सर्वज्ञको मानते होते तब तो उसके व्याख्यानकी आम्नायसे आज तक के व्याख्याता विद्वानोंका विश्वास किया जाता, किंतु आप सम्पूर्ण व्याख्याताओंके आदिगुरु सर्वज्ञको मानते नहीं हैं। अतः जन्मसे अन्धे पुरुषका रूपगुणके विशेष हो रहे काले, नीलेपनका और उनकी तरतमताके व्याख्यान करनेमें जैसे विश्वास नहीं किया जाता है, उसी प्रकार आपके वेद व्याख्याताओंका भी विश्वास नहीं किया जा सकता है।

न च ब्रह्मा मन्वादिर्वातीन्द्रियार्थदर्शी रागद्वेषविकलो वा सर्वदोपगतो यतोऽस्मात्प्रत्ययिताच्चोदनाव्याख्यानं प्रामाण्यमुपेयादित्युक्तं प्राक्।

आपने ब्रह्मा तथा मनु आदि ऋषियोंको वेदका व्याख्याता तो माना है किंतु अतीन्द्रिय अर्थोंका देखनेवाला और रागद्वेषसे रहित ऐसा कोई भी ब्रह्मा, मनु, आदि पुरुष सब कालोंमें नहीं स्वीकार किया है, जिससे कि सर्वज्ञ, वीतरागपनेसे विश्वासको प्राप्त इस ब्रह्मा आदिकसे किया गया वेदवाक्योंका व्याख्यान प्रमाणपनेको प्राप्त होवे। यह सब विषय हम पहिले प्रकरणमें कह चुके हैं।

स्वयमप्रत्ययितात्तु पुरुषात् तद्व्याख्यानं प्रवर्त्तमानमसत्यमेव नद्यास्तीरे फलानि संतीति लौकिकवचनवत्।

यदि आप मीमांसक दूसरा पक्ष लेंगे कि बिना विश्वास किये गये पुरुषसे भी वेदका व्याख्यान प्रवर्त्तित होजाता है, तब तो वह व्याख्यान झूँठा ही समझा जावेगा। जैसे कि कार्य करनेवाले एक पुरुषको छोकरोंने हैरान किया। लडकोंको भगानेकी अभिलाषासे वह पुरुष यह लौकिक वचन बोल देता है कि नदीके किनारे अनेक फल पडे हुए हैं। इस वाक्यको सुनकर आतुर लडके नदीके किनारे भाग जाते हैं। किंतु नदीके किनारे वृक्षोंके न होनेसे उनको फल नहीं मिलते हैं। अतः उस साधारण मनुष्यके ऊपर उन लडकोंका विश्वास नहीं रहता है। जैसे इस काम करनेवाले लौकिक पुरुषके वचन झूठे हैं उसी प्रकार श्रोताको जिस वक्ताके कथनका विश्वास नहीं है उसका व्याख्यान भी झूँठा ही है।

न चापौरुषेयं वचनमतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयादिति विप्रतिषिद्धं यतस्तद्व्याख्यानमसत्यं न स्यात्।

पूरी पूरी शक्तिवाले अनेक विरुद्ध पदार्थोंके विरोध करनेको विप्रतिषेध कहते। विप्रतिषेधवाले दो पदार्थ एक जगह रह नहीं सकते हैं। जहां घट है वहां घटाभाव नहीं, और जहां घटाभाव है वहां घट नहीं। एककी विधिसे दूसरेका निषेध उसी समय हो जाता है और दूसरे की विधिसे एकका निषेध तत्काल हो जाता है। इस प्रकारका विप्रतिषेध मीमांसक दे रहे हैं कि अपौरुषेय

वेदका वचन असत्य अर्थको कैसे भी (बिलकुल) न कह सकेगा अर्थात् जो वेदका वाक्य है वह झूंठे अर्थका प्रतिपादक नहीं और जो असत्य अर्थका वाचक है वह अपौरुषेय वेदका वाक्य नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यहां विप्रतिषेध नामका विरोध नहीं है जिससे कि वेदका व्याख्यान असर्वज्ञ रागियोंके द्वारा किया गया होकर झूंठा न हो सके। अर्थात् अपौरुषेय वचन भी असत्य अर्थको कह सकते हैं। एक पक्षी (काला तीतर) ने गटरगट ऐसा अव्यक्त शब्द बोला था। किसीने " खुदा तेरी कुदरत " और दूसरेने " रामचन्द्र दशरथ " तीसरे मल्लने दंड कुस्ती-कसरत अर्थ निकाल लिया था। रागी, अज्ञानी व्याख्याता वेदवाक्योंसे मनचाहा चाहे जैसा झूंठा अर्थ निकाल लेते हैं और वेद भी सर्वज्ञोक्त न होनेसे अनेक चार्वाक, (जडवाद) अद्वैत (आत्मवाद) एवं सांख्य, नैयायिक तथा हिंसा अहिंसा और कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड आदि विरुद्ध मंतव्योंको पुष्ट कर रहा है।

लौकिकमपि हि वचनमर्थं ब्रवीति, बोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीत्युच्यते वितथार्थाभ्यधायि च दृष्टमविप्रतिषेधात्, तद्यथार्थं ब्रवीति न तदा वितथार्थाभिधायि, यदा तु बाधकप्रत्ययोत्पत्तौ वितथार्थाभिधायि न तदा यथार्थं ब्रवीत्यविप्रतिषेधे, वेदवचनेऽपि तथा विप्रतिषेधो मा भूत्।

इस लोकमें साधारणजनताके वचन भी अर्थको कहते हैं अर्थात् उन शब्दोंसे अर्थका ज्ञान कराया जाता है। इस कथनमें भी यह तात्पर्य कहना चाहिए कि उच्चारण करनेवाले मनुष्योंके शब्द श्रोतासे जाने गये अर्थके निमित्त कारण हो जाते हैं। अनेक गोत्रस्खलन आदि प्रकरणोंमें कहा कुछ जाता है और भिन्न अर्थ समझा जाता है। इस कारण सिद्ध हुआ कि शब्दकी सत्यार्थ वाचकताके निमित्तपनेके नियमका व्यभिचार है, और तभी तो वे शब्द झूंठे अर्थके कहनेवाले देखे गये हैं। अतः साधारण पुरुषके वचनके समान असत्य अर्थ कहनेमें वेदवाक्योंका कोई तुल्यबल वाला विरोध नहीं है।

यदि यहां मीमांसक यह कहे कि लौकिकमनुष्योंके वचन ठीक उच्चारण करते समय जब अर्थको कह रहे हैं उस समय वे ठीक ही ठीक अर्थके वाचक हैं। झूठे अर्थको कुछ भी बिल्कुल, नहीं कहते हैं। और जब यह पदार्थ वह नहीं है जो कि वचनके द्वारा कहा गया था ऐसे बाधक ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर वे शब्द झूंठा अर्थ कह रहे हैं उस समय तो वे वचन वास्तविक अर्थको नहीं कहनेवाले माने गये हैं। इस प्रकार यदि विप्रतिषेध दोषका वारण किया जाय तब वेदके शब्दोंमें भी उस प्रकार अर्थ कहनेपर भी विप्रतिषेध—नामका विरोध न हो सकेगा, अर्थात् वेदके शब्द भी जब ठीक अर्थको कह रहे हैं तब झूंठे अर्थको नहीं कह रहे हैं और जब बाधकज्ञानके

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

होजानेपर पूर्व वाक्योंके वाच्यको झूंठा कर दिया गया है तब वे शब्द भी अर्थको कहाँ कर रहे हैं ? उक्त प्रकार मीमांसकोंका कहना तो प्रसिद्धार्थख्याति माननेवालोंकासा ही है। जो कि कोसों तक फूले काँसोंमें या चमकते हुए बालू रेतमें (मरीचिकाचक्रमें) जलकी भ्रांति होनेपर यह मानते हैं कि जलके ज्ञान होते समय बालू रेतमें अवश्य जल भरा हुआ था किंतु वहां पहुंचनेपर वह जल बिजलीकी तरह झट नष्ट होगया। शब्दके सत्य अर्थ प्रतिपादन करनेमें भी निकटतम (लगभग) मीमांसकोंका इसी प्रकारका सिद्धांत माना जारहा है। भले मनुष्योंको यह तो विचारना चाहिये कि पीछे वहां पहुंचनेपर कुछ भी कीच या गीलापन वहां जलचिन्ह दीखता ॥

तत्र बाधकप्रत्ययोत्पत्तेरसम्भवाद्विप्रतिषेध एवेति चेत्, न, अग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति चोदनायां बाधकसद्भावात्। तथाहि " नाग्निहोत्रं स्वर्गसाधनं हिंसाहेतुत्वात्सधनवधवत्। सधनवधो वा न स्वर्गसाधनस्तत एवाग्निहोत्रवत् "।

यदि मीमांसक यहाँ यह कहेंगे कि लौकिक वचनोंमें बाधक ज्ञानोंके उत्पन्न होजानेसे असत्यार्थपना भले ही होजाय किंतु वाक्योंके अर्थमें बाधा देनेवाला कोई ज्ञान पैदा नहीं होसकता है। असम्भव है। इस कारण वेदके वाक्य होकर असत्य अर्थके प्रतिपादन करनेवाले हों, यह अवश्य ही तुल्यबलवाला विरोध है अर्थात् वेदके वाक्य सत्यार्थ ही है हैं, यह तो उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अग्निहोत्र नामके यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिल जाता है इस प्रेरक वेदवाक्यमें बाधक प्रमाण विद्यमान हैं। इसी बातका आचार्य अनुमानको बाधक प्रमाण बनाकर स्पष्टीकरण करते हैं कि, " अग्निहोत्र नामका भाग स्वर्गका साधक नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह पशुओंकी हिंसाका कारण है। (हेतु) जैसे कि धनवान् पुरुषको मार डालना चाहिये ऐसे जीव हिंसापूर्वक किये गये कर्म सद्गतिके कारण नहीं हैं। अथवा खरपटमतके अनुयायी यदि धनवानोंके मारडालनेमें भी स्वर्ग बतलावें तो इसका भी बाधक प्रमाण यह है कि धनवान्का काशीकरवत, गंगाप्रवाह, शिवपिण्डीके सामने मस्तक चढाने आदि उपायोंसे मार डालना स्वर्गको प्राप्त करानेवाला उपाय नहीं है इसही कारणसे यानी क्योंकि वह भी अग्निहोत्रके समान हिंसाके कारणोंसे पैदा हुआ है। अतः स्वर्गका साधक नहीं होसकता है " ।

विधिपूर्वकस्य पश्वादिवधस्य विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वाभावात् असिद्धो हेतुरिति चेत्, तर्हि विधिपूर्वकस्य सधनवधस्य खारपटिकानां विहितानुष्ठानत्वेन हिंसाहेतुत्वं मा भूदिति सधनवधात्स्वर्गो भवतीति वचनं प्रमाणमस्तु।

प्रतिवादी बोलता है कि कर्मकाण्डके विधान करनेवाले शास्त्रोंमें लिखी हुई वैदिकविधिके अनुसार किया गया पशुओंका वध तो शास्त्रोक्त क्रियाओंकाही अनुष्ठान है, लौकिकहिंसाके समान

हिंसाका कारण होकर पापको पैदा करनेवाला नहीं है। अतः जैनोंका दिया गया हिंसाका कारणपना-रूपहेतु अग्निहोत्र-रूपपक्षमें नहीं रहनेसे असिद्ध हेत्वाभास है, यदि मीमांसक ऐसा कहेंगे तब तो हम जैन आपादन करते हैं कि खरपटमतके अनुयायिओंने धनवानके विधिपूर्वक मार डालनेको भी शास्त्रोंमें लिखी हुयी क्रियाकाही अनुष्ठान माना है, अतः धनीका मार डालना भी हिंसाका कारण न होवे। यों धर्मका प्रलोभन देकर की गयी धनिकोंकी हिंसासे स्वर्ग होजाता है इस प्रकारका वचन भी आप मीमांसक लोगोंको प्रामाणिक होजाओ।

तस्याप्यैहिकप्रत्यवायपरिहारसमर्थेतिकर्तव्यतालक्षणविधिपूर्वकत्वाविशेषात्। न हि वेदविहितमेव विहितानुष्ठानं, न पुनः खरपटशास्त्रविहितमित्यत्र प्रमाणमास्ति।

अनेक पुरुषोंका ऐसा अनुभव है कि संसारमें प्रायः धनवान पुरुष ही अनर्थ करते हैं। हिंसा करना, द्यूत खेलना, मद्यपान करना, वेश्या-परस्त्रीगमन करना, परिग्रह एकत्रित करना, अन्यायोंसे गरीब, दीन, अनाथ, विधवाओंका घोर परिश्रमसे पैदा हुए पैसेको हडप जाना, कुरीतियां चलाना आदि धनवानोंके ही कुकर्म हैं। धनिक पुरुष ही धनके मदसे अन्धे होकर दीन, दुःखी, साधारण मनुष्योंको नाना प्रकारके क्लेश पहुंचाते रहते हैं। पूंजीपतियोंको कोई अधिकार नहीं है कि वे अकेले ही उस धनका उपयोग करें, धन सर्व पुरुषोंकी सार्वजनिक सम्पत्ति है। वह सब पुरुषोंमें यथायोग्य बांट देना चाहिये। जो धनी पुरुष उक्त क्रियाको न करे, उसका वधतक कर दिया जाय, इस प्रकार करनेसे इस लोक संबंधी अनेक पापाचार भी दूर होजावेंगे तथा अभिमान, दूसरोंपर घृणा करना, लोभ आदि कुकर्मोंके दूर होजानेसे सहानुभूति, वात्सल्य, सबके प्रति सौहार्दभाव, सजातीयता, समानता आदि गुणोंकी वृद्धि होकर संसार-दुनियामें आनन्द अमन चमन रहेगा, इन पूर्वोक्त युक्तियोंसे वह धनिकोंका वध भी कर्तव्यपनेको प्राप्त होता हुआ अनेक पापोंको हटानेमें समर्थ है। यह धनिक वध खरपट मतानुयायियोंकी विधिके अनुसार ही है। वे यह मानते हैं कि बकरा, घोडा आदिको मारकर होमदेना चाहिये, इन वाक्योंमें और "हन्ते को हनिये" धनिकोंको मारिये इत्यादि वाक्योंमें कोई अन्तर नहीं है। यदि आप मीमांसक यहां कहें कि वेदमें लिखी हुई हिंसाके करनेसे, या युद्धमें मरनेसे स्वर्ग अवश्य होता है अतः ये ही कर्म तो शास्त्रोक्त क्रियायें हैं किन्तु फिर खरपटमतानुयायिओंके शास्त्रोंमें विधिलिङ्से लिखी हुयी क्रियाएँ वेदोक्त नहीं हैं, इस आपके कहनेमें कोई प्रमाण नहीं हैं। दोनों ही समानरूपसे हिंसाके कारण हैं। दोनों भी प्रमाण होंगे या एक साथ अप्रमाण हो जायेंगे।

यागः श्रेयोऽर्थिनां विहितानुष्ठानं श्रेयस्करत्वान्न सधनवधस्तद्विपरीतत्वादिति चेत्। कुतो यागस्य श्रेयस्करत्वम्?

यहां मीमांसक कहते हैं कि "अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, विश्वजित् आदि यज्ञही कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंके लिये शास्त्रोक्त विधिविहित कर्म हैं। क्योंकि वे कर्म ही इष्ट पदार्थोंकी प्राप्तिरूप कल्याणको करनेवाले हैं किंतु घनिकोंका मारना वेदमें लिखा हुआ कर्म नहीं हैं। क्योंकि वह उससे विपरीत है, दुःखका कारण है"। यदि आप मीमांसक यह कहोगे तब तो जैन पूछते हैं कि पशुओंके वध आदि अनेक कुकर्मोंसे सम्पन्न हुआ यज्ञ भला कल्याणकारी कैसे है? बताओ।

धर्मशब्देनोच्यमानत्वात्, यो हि यागमनुतिष्ठति तं " धार्मिक " इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्त्ता स तेन समाख्यायते यथा याचको लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते, न केवलं लोके, वेदेऽपि। " यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति " यजुषि शब्दवाच्य एवार्थे धर्मशब्दं समामनन्तीति 'शबराः'॥

हिंसामार्गके पोषक मीमांसादर्शनका भाष्य बनानेवाले शबरमुनि वेदसे भी कई गुनी हिंसाका पोषण करते हुए अपने बनाये भाष्यमें यज्ञोंका कल्याणकारीपन इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि संसारमें और मीमांसकदर्शनमें यह प्रसिद्ध है कि धर्मसे ही स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है, वेदवाक्योंसे प्रेरित होकर किये गये ज्योतिष्टोम, अजामेध, कुक्कुटमेध, भैंसेका आलभन आदि अनेक यज्ञ ही धर्म शब्दसे कहे जाते हैं। जो पुरुष निश्चयसे यज्ञोंको करता है उसको सभी पुरुष धर्मात्मा कहते हैं। धर्मके करनेवालेको धार्मिक कहना भी ठीक है क्योंकि जो जिसको करता है, वह उस कर्मके द्वारा व्यवहारमें नाम पाता है। जैसे कि मांगनेवालेको याचक कहते हैं और काटनेवालेको लावक कहते हैं और पवित्र करनेवालेको पावक कहते है। इस कारणसे यह सिद्ध हुआ कि जो पदार्थ पुरुषको स्वर्ग, मोक्ष आदि कल्याणके मार्गसे संयुक्त कर देता है, वह पदार्थ धर्म शब्दसे कहा जाता है। यह बात केवल लोकमें ही नहीं है किंतु वेदमें भी यह नियम चला आरहा है कि "अनेक देवता यज्ञकी विधिसे यज्ञ रूपी पूजा करते भये। अतः वे यज्ञ ही सबसे पहिले प्रधान धर्म थे"। इस प्रकार लोक और वेदके नियमसे सिद्ध होता है कि यज् धातुके यज्ञरूप वाच्य अर्थमें ही धर्म शब्द अनादिकालकी प्राचीन ऋषिधारासे प्रयुक्त किया हुआ चला आ रहा है अतः यज्ञ ही धर्म है। इस प्रकार शबर ऋषिका मत है।

सोऽयं यथार्थनामा शिष्टविचारबहिर्भूतत्वात्, नहि शिष्टाः क्वचिद् धर्माधर्मव्यपदेशमात्रादेव श्रेयस्करत्वमश्रेयस्करत्वं वा प्रतियंति, तस्य व्यभिचारात्। क्वचिदश्रेयस्करेऽपि हि धर्मव्यपदेशो दृष्टो यथा मांसविक्रयिणां मांसदाने। श्रेयस्करेऽपि वाऽधर्मव्यपदेशो, यथा संन्यासे स्वघाती पापकर्मेति तद्विधायिनि कैश्चिद्भाषणात्।

यहां आचार्य कहते हैं कि यह प्रसिद्ध शबर नाममात्रसे ही म्लेच्छजातीय या भील नहीं

है किंतु जैसा इसका नाम है तदनुसार वैसा ही इसका अर्थ भी इसमें घट जाता है। जंगली मनुष्य ही हिंसाका पोषण कर सकते हैं, सज्जनपुरुषोंके व्यवहारसे इन हिंसकोंका आचार सर्वथा विपरीत है, बाहर फेंकने योग्य है। समीचीन आगमोंकी शिक्षासे अलंकृत होकर विचार करनेवाले सज्जन मनुष्य चाहें जिस क्रियामें केवल धर्मके नामसे ही कल्याणकारीपन और अधर्म शब्दके कहनेसे ही किसी भी अच्छी क्रियामें अमंगलकारीपनका विश्वास नहीं करलेते हैं, क्योंकि अविचारी पुरुषोंके द्वारा उच्चारण किये गये धर्मशब्दका कल्याण करनेके साथ और अधर्मशब्दके बोलनेसे दुःखकारीपनेकी व्याप्ति नहीं है, इस उक्त नियममें व्यभिचार देखा जाता है। कहीं कहीं पाप करनेवाले कर्ममें भी धर्म शब्दका प्रयोग देखा गया है, जैसे कि मांस, मद्य, बेचनेवालोंके यहां महापापके कारण मांसका देना भी धर्म कह दिया जाता है। उसी प्रकार शिकार खेलनेवाले, वेश्यासेवन करनेवाले, डांका डालनेवाले, पापियोंने भी अपने इष्ट व्यसनोंको धर्मका रूपक दे रखा है, और कहीं कहीं अच्छे पुण्यवर्धक कार्योंको भी लोग अधर्म शब्दसे कह देते हैं, जैसे समाधिमरण करनेवाला आत्मघात करता है अतः पापी है, बुरा काम करता है। शठके साथ सज्जनता करना, हिंसकपशुके साथ दयाभाव करना भारी अपराध है, इत्यादि प्रकारसे भी कोई कोई भाषण करते हैं। उन अच्छे कर्मोंको कर रहे व्यक्तियोंमें पाप करना शब्द प्रयुक्त होरहा है यह व्यभिचार हुआ। इस कारण हिंसा पोषक यज्ञ केवल थोडेसे आदमियोंके द्वारा धर्म कहे जानेसे वास्तवमें कल्याणकारी नहीं होसकता है।

सर्वैर्यस्य धर्मव्यपदेशः प्रतिपद्यते स श्रेयस्करो नान्य इति चेत्। तर्हि न यागः श्रेयस्करस्तस्य सौगतादिभिरधर्मत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात्।

यदि यहां मीमांसक यह कहैं कि सम्पूर्ण जीव जिसको धर्मशब्दसे व्यवहार किया हुआ जानते हैं वह अवश्य कल्याणकारी है, अन्य डांका डालना आदि नहीं। क्योंकि डांका डालनेको सभी लोग धर्मकार्य नहीं कहते हैं। आपके इस प्रकार माननेपर तो आपका यज्ञ भी कल्याणकारी नहीं हो सकता है। क्योंकि बौद्ध, चार्वाक, जैन आदि मतानुयायियोंने इस यज्ञको अधर्म शब्दसे निरूपण किया है। अतः सबके द्वारा धर्म शब्दकी प्रवृत्ति यज्ञमें नहीं हुई।

सकलैर्वेदवादिभिर्यागस्य धर्मत्वेन व्यपदिश्यमानत्वाच्छ्रेयस्करत्वे सर्वैः खारपटिकैः सधनवधस्य धर्मत्वेन व्यपदिश्यमानतया श्रेयस्करत्वं किं न भवेत्, यतः श्रेयोर्थिनां स विहितानुष्ठानं न स्यात्।

पुनः यदि मीमांसक यहां यों कहेंगे कि वेदके अनुसार चलनेवाले मीमांसक, वैशेषिक, शाक्त भैरवभक्त और पौराणिक सब ही विद्वानोंने यज्ञको धर्मरूपसे प्ररूपण किया है, अतः यज्ञ कल्याण करनेवाला धर्म है। ऐसा होते सन्ते तो इसपर हम जैन भी कहते हैं कि खरपटमतके अनुयायी

सर्व ही पण्डों, डांकू और बोलशेविकोंने धनिकों [कृपण] और हिंसक क्रूर सिंह, सर्प, व्याघ्र आदि प्राणियोंका मारना भी धर्मरूपसे कहा है इस कारण फिर उक्त क्रियाएँ कल्याण करनेवाली क्यों न हो जावें। जिससे कि कल्याणको चाहनेवाले पुरुषोंके लिए वह धनिकोंका मारना आदि [illegible] अनुष्ठान न हो सके, अर्थात् वह भी पशुवधके सदृश धनिकोंका मारना आदि भी कल्याण कारी हो जावेगा। यह आपादन हुआ।

लोकगर्हितत्वमुभयत्र समानम्।

यदि आप मीमांसक धनिकोंके वधको लोकसे निंदनीय समझकर धर्म न कहोगे तो पशुवध भी लोकमें निंदनीय है। अतः वह भी धर्म नहीं हो सकता है। लोकमें निंदित होना तो दोनों स्थलपर समान है। वास्तवमें देखा जाय तो क्षमा, दया, अहिंसा, ही सज्जनोंके प्रधान कर्तव्य है। परस्त्रीसेवन, डाँका डालना, मांस खाना, पशु-पक्षियोंको मारना आदि अनन्त संसारके कारण ही हैं। स्वार्थी कषायी और इंद्रियलोलुप वञ्चकोंने भोले जीवोंको पापमार्गमें फंसने और फंसनेके लिए अनेक कुकर्मोंको कर्तव्यकर्म बतलाया है। यह केवल धर्मकी आडमें महापापरूप शिकार खेलता है। कहीं पशुओंके वध करनेसे भी भला धर्म हो सकता है? यदि ऐसा ही हो तो यजमान अपने इष्ट पुत्र, माता, पिता आदिका होम क्यों नहीं करता है? जैसे यजमानको और उसके बालबच्चोंको मरनेका दुःख है उससे भी कहीं अधिक पशुओंको मरनेमें दुःख है। अतः ऐसे हिंसक यजमानको और हिंस्य पशुओंको कैसे भी अच्छी गति प्राप्त नहीं हो सकती है। धनिकोंके मारनेमें भी लोगोंका गहरा स्वार्थ है। वे परोपकार और वात्सल्यका तो उपदेश देते हैं किन्तु अनेक अनर्थोंका मूल कारण धनिकोंका वधरूप कार्य करते हैं। क्या पुण्यपापरूप व्यवस्था संसारसे नष्ट हो सकती है? कोई धनी है तथा अन्य दरिद्र है, एक विद्वान है दूसरा मूर्ख है, एक रोगी है दूसरा नीरोग। इसी प्रकार कोई स्त्री है, अन्य जीव पुरुष हैं, तीसरे प्रकारके पशु जीव हैं. अनेक बालक हैं, कई युवा है, बहुतसे बुड्ढे हैं, कोई जड हैं, कोई अन्धा है, कितने ही चेतन हैं इत्यादि प्रकारसे पुण्यपापके फलरूप संसारकी व्यवस्था है। केवल धनिकोंको मार डालनेसे उक्त प्राकृतिक नियमका क्षय करना अपने पैरों में कुल्हाडा मारना है। संसारभरमें भेद स्वाभाविक है अर्थात् स्वात्मभूत अगुरुलघु गुणके द्वारा प्रत्येक वस्तु संपूर्ण परपदार्थोंसे भिन्न स्वरूप है। सर्वज्ञ और इन्द्र, चक्रवर्ती आदि भी आकर वस्तुओंके केवलान्वयी होकर पाये जा रहे हैं भेद भावको मिटा नहीं सकते हैं। किसी न किसीका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, या अत्यन्ताभाव, सर्व वस्तुओंमें पाये जाते हैं। धनवान् होना भी विशिष्ट पुण्यका कार्य है। सातावेदनीय आदि शुभकर्मोंके उदयसे यह जीव धन, पुत्र, आदि विभूतिको प्राप्त करता है और पुण्यके न होनेसे अनेक दुःख झेलता है, अतः खरपटके मत और मीमांसकके मतके अनुसार चलनेमें लोकनिंदा होना बराबर है।

केषाञ्चिदगर्हितत्वश्चेति ।

विचारशील पुरुष तो पशुओंकी हिंसा और धनिकोंकी हिंसाकी बराबर निन्दा करते हैं। किन्ही किन्हीके यहां निन्दा न होना भी दोनोंमें एकसा है। स्यात् शायद मीमांसक यह कहें कि कालीदेवीके उपासक या यज्ञ करनेवाले कर्मकाण्डी पुरुष यज्ञमें होनेवाले पशुवधकी निंदा नहीं करते हैं:—इसका उत्तर सुनिये, यों तो डाकेवाले या धर्मके नामपर धन और प्राणोंको लेनेवाले खारपटिक लोग भी धनिकोंके मारनेमें निंदा नहीं समझते हैं। तथा च इस प्रकार कतिपय इंद्रियलोलुप जीवोंकी अपेक्षासे निंदा न होना तो पशु- और धनिकवध दोनों में समान है।

ततो न सधनवधाग्निहोत्रयोः प्रत्यवायेतरसाधनत्वव्यवस्था ।

इस कारणसे मीमांसकोंकी मानी गयी धनिकोंके मारनेमें पाप और उससे न्यारी पशुबध पूर्वक किये गये अग्निहोत्र यज्ञमें स्वर्गप्राप्तिके सिद्ध करानेकी पुण्यव्यवस्था ठीक नहीं है अर्थात् धनिकोंका वध यदि सदोष है तो यज्ञ भी सदोष है। यदि यज्ञ निर्दोष है तो धनिकोंका वध भी निर्दोष है॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणबलात्तु नाग्निहोत्रस्य श्रेयस्करत्वसिद्धिरिति नास्यैव विहितानुष्ठानत्वं, यतो हिंसाहेतुत्वाभावादसिद्धो हेतुः स्यात् ।

प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंके बलसे तो अग्निहोत्र यज्ञका कल्याणकारीपन सिद्ध हो ही नहीं सकता है। इस प्रकार इस धनिकोंके वधको टालकर केवल अग्निहोत्रके ही शास्त्रोक्त अनुष्ठानपना नहीं है, जिससे कि हिंसाका कारणपना न होनेसे हम जैनोंकी ओरसे अग्निहोत्रको स्वर्गसाधनताके अभावको सिद्ध करनेमें दिया गया हिंसाका कारणपनारूप हेतु असिद्ध होवे, अर्थात् हमारा " हिंसाहेतुत्व " अग्निहोत्र पक्षमें रह जाता है। अतः सद्धेतु है। असिद्ध हेत्वाभास नहीं है, जो कि मीमांसकने दोष उठाया था।

तन्न प्रकृतचोदनायां बाधकभावनिश्चयादर्थतत्तथाभावे संशयानुदयः पुरुषवचनविशेषवदिति न तदुपदेशपूर्वक एव सर्वदा धर्माद्युपदेशो येनास्य परोपदेशानपेक्षत्वविशेषणमसिद्धं नाम ।

इस कारण यह सिद्ध हुआ कि प्रकरणमें प्राप्त हो रहे वेदके लिङ्, लोट, तव्य, प्रत्यान्त प्रेरणावाक्योंमें बाधकप्रमाणकी सत्ताका निश्चय है। अतः वस्तुतः सत्य अर्थके कहनेमें संशयका अनुत्पन्न होना नहीं है। साधारण मनुष्योंके विशेष वचनोंके समान वैदिक वचनोंमें भी

यथार्थ वस्तुके कहनेका संशय पैदा हो जाता है। " इस प्रकार पुरुषोंके द्वारा व्याख्यान किये गये अपौरुषेय वेदके उपदेशको कारण मानकर ही सदा धर्म, परमाणु, आकाश आदिकका उपदेश होता है " यह मीमांसकोंकी बात सिद्ध नहीं हुई। जिससे कि सर्वज्ञके सिद्ध करनेवाले अनुमानमें दिये गये इस हेतुका परोपदेशकी नहीं अपेक्षा करनारूप विशेषण नाममात्रसे भी असिद्ध हो जाय। अर्थात् सूक्ष्म आदिक पदार्थोंके सर्वज्ञ द्वारा दिये गये आदिकालीन उपदेशमें दूसरे छद्मस्थोंके उपदेशकी अपेक्षा कैसे भी नहीं है। अतः पूर्ण हेतुका शरीर पक्षमें रह गया भला ऐसी दशामें असिद्ध दोष कहां ? ॥

न च परोपदेशलिंगाक्षानपेक्षावितथत्वेऽपि तत्साक्षात्कर्तृपूर्वकत्वं सूक्ष्माद्यर्थोपदेशस्य प्रसिद्धस्य नोपपद्यते तथाविनाभावं संदेहायोगादित्यनवद्यं सर्वविदो ज्ञापकं तत्। अथवा।

परोपदेश, लिंग और इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हुए भी सूक्ष्म आदिक अर्थोंके पहिलेके सत्यार्थ उपदेशमें इनके बिना यथार्थ करनेवाले सर्वज्ञके द्वाराही उपदेशपूर्वक होनापन प्रसिद्ध है। उक्त हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति नहीं है यह नहीं समझना चाहिये, क्योंकि हेतुका इसी प्रकार साध्यके साथ अविनाभाव संबंध होना संदेह रहित सिद्ध हो चुका है। अतः अबतक सर्वज्ञको सिद्ध करनेवाला ज्ञापक प्रमाण निर्दोष सिद्ध होगया है।

अथवा सर्वज्ञ साधक दूसरा अनुमान यह भी है जोकि सर्वज्ञ निर्दोष है अर्थात् हिंसाके पोषक होनेसे वैदिक वचनोंकी अप्रमाणता सिद्ध हो चुकी है, फिर भी मीमांसकोंके हृदयमें परमाणु, पुण्य, पाप, आदिके उपदेशकी वेदद्वारा ही प्राप्ति होनेकी धुन समा रही है, वे विचारते हैं कि अनेक चिकित्साशास्त्रोंमें जीवोंके मांस, रक्त, चर्म, और मल मूत्रोंके, गुण, दोष, लिखे पाये जाते हैं, अभक्ष्य भक्षणका त्यागी भले ही मधु, मांसके सेवनमें प्रवृत्ति न करे, एतावता वैद्यक ग्रंथके संपूर्ण अंशोंमें अप्रमाणता नहीं आसकती है। वात, पित्त, कफ, संबंधी दोषोंके निरूपण करनेमें तथा अर्श, अतीसार, अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंकी चिकित्सा बतलानेमें उन वैद्यकविषयके ग्रंथोंको ही प्रमाणता मानी जाती है, इसी प्रकार पशुवधकी बातको रहने दीजिये किंतु पुण्य, पाप, आकाश, स्वर्ग, और नरकके उपदेश तो वेदके द्वाराही प्राप्त होरहे हैं। अतः परमाणु, पुण्य, पाप, के उपदेश देनेवालेका लक्ष्य कर सर्वज्ञके ज्ञान करानेके लिये दिये गये आपके पूर्वोक्त अनुमानमें हमको अरुचि है। इस अस्वरसको दूर करते हुए आचार्यमहाराज मीमांसकोंके प्रति सर्वज्ञको सिद्ध करानेवाला दूसरा अनुमान कहते हैं।

सूक्ष्माद्यर्थोपि वाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम्।
श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपाद्रिदेशवत् ॥ १० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

हमारा पूर्वोक्त अनुमान तो ठीक है ही और यह भी अनुमान युक्तियुक्त है कि "सूक्ष्म होरहे परमाणु, आकाश, और देश कालसे व्यवहित माने गये स्वर्ग, सुमेरु, रामचन्द्र, आदि भी संपूर्ण पदार्थ (यह पक्ष है) किसी न किसी आत्माके पूर्ण स्पष्टरूपसे होनेवाले प्रत्यक्षज्ञानके विषय हैं (यह साध्य है) क्योंकि वे पदार्थ श्रुतज्ञानसे जानने योग्य हैं। (यह हेतु है) जो जो पदार्थ हम लोगोंको शास्त्रोंसे या इतिहाससे जानने योग्य होते हैं वे किसी न किसी तद्देशीय या तत्कालीन पुरुषोंके द्वारा अवश्य ही प्रत्यक्षरूपसे जाने जाते हैं। जैसे कि गंगा, सिंधु, आदि नदियां, जम्बूद्वीप या लंका, अमेरिका, एशिया, आदि उपद्वीप, हिमवान, नील अथवा हिमालय, विन्ध्याचल, आदि पर्वत तथा भारतवर्ष, यूरोप, पंजाब, बंगाल, मालव, आदि देश, ये संपूर्ण पदार्थ किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं " (यह अन्वय दृष्टान्त है)

धर्माधर्मावेव सोपायहेयोपादेयतत्त्वमेव वा कस्यचिदध्यक्षं साधनीयं न तु सकलोऽर्थ इति न साधीयः, सकलार्थप्रत्यक्षत्वासाधने तदध्यक्षासिद्धेः।

यहां मीमांसक कहते हैं कि "आप जैन उक्त अनुमानमें संपूर्ण पदार्थोंको पक्ष करके किसी न किसीके प्रत्यक्षमें विषय होना सिद्ध मति करो, आपको केवल पुण्य, पापको ही अथवा उपायसहित छोडने योग्य और ग्रहण करने योग्य तत्त्वों यानी उनके कारणों और उनको ही पक्ष करके किसी न किसीके प्रत्यक्षसे जाना गयापन सिद्ध करना चाहिये " ग्रंथकार कहते हैं कि यह मीमांसकोंका कहना कुछ अच्छा नहीं है। क्योंकि सकल पदार्थोंका प्रत्यक्षसे जाने गयेपनको सिद्ध न करनेपर कुछ थोडेसे विवक्षित उन पुण्य, पाप, और हेय, उपादेय, अतीन्द्रिय तत्त्वोंका भी प्रत्यक्ष करलेना बन नहीं सकता है, अर्थात् जो पुण्यपापको प्रत्यक्षसे जान लेवेगा, वह संपूर्ण पदार्थोंका जाननेवाला अवश्य है क्योंकि सब पदार्थोंके जानने पर ही अत्यन्त सूक्ष्म पुण्य, पाप, आकाश, आदि पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो सका है।

संवृत्या सकलार्थः प्रत्यक्षः साध्य इत्युन्मत्तभाषितं स्फुटं तस्य तथाभावासिद्धौ कस्यचित्प्रमाणतानुपपत्तेः।

यदि यहां कोई यों कहै कि " केवल कल्पितव्यवहारमें प्रशंसा करनेके लिये ही सर्वज्ञके सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनापन साध्य किया जाता है। वस्तुतः सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेवाला ही कोई नहीं है "। यह कहना तो पागलोंकी बकवाद है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंका केवलज्ञानद्वारा विशदरूपसे उस प्रकार प्रत्यक्ष होना यदि सिद्ध न करोगे तो सूक्ष्मपरिणमनोंसे सहित किसी भी पदार्थके जाननेमें प्रमाणता नहीं आसकती है। यः सर्वज्ञः स सर्ववित् इत्यादि श्रुतियोंका मीमांसक लोग ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंकी प्रशंसा (तारीफ) करना ही अर्थ करते हैं कि हे ज्योतिष्टोम !

तुम सबको जानते हो, तभी तो यष्टाको स्वर्गमें पहुंचा देते हो और हे पुत्रेष्टियाग ! तुम भी सबको जानते हो। तभी तो नानायोजनाओंसे पुत्रको पैदा करा देते हो। इसी प्रकार हिंसा, झूंठ बोलना, आदिसे जन्य पापकर्म भी नरक, तिर्यञ्चोंके स्थान और कारणोंको जानते हैं। तभी तो वे जीवोंको उन कुगतियोंमें पहुंचा देते हैं। अनेक वादियोंको इस प्रकार कर्मकी स्तुति करनेवाले वेदके सर्वज्ञ बोधक वाक्योंके अर्थमें जैसे संशय है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष किये विना सूक्ष्म पदार्थोंके जाननेमें भी संशय ही रहेगा। उस वेदसे सूक्ष्म आदिके ज्ञानमें प्रमाणता नहीं आसकती है। सम्भवतः पुण्य पापको कहनेवाले वाक्य भी अर्थवाद यानी स्तुतिवाक्य हों॥

न हेतोः सर्वथैकांतैरनेकांतः कथञ्चन।
श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात्तेषां दृष्टेष्टबाधनात्॥ ११॥
स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते।
तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि॥ १२॥

यदि कोई कह बैठे कि सर्व प्रकारसे कूटस्थ नित्यरूप या क्षणिकत्वरूप ही धर्मके एकांत तथा सर्वथा एक अनेकपनेरूप एकांतोंमें भी हम मीमांसक और बौद्ध आदिके द्वारा अभिमत होरहे शास्त्रोंके ज्ञानसे जाना गयापनरूप हेतु विद्यमान है, किंतु जैनोंके मतानुसार वे असत् एकांत किसी न किसीके प्रत्यक्ष नहीं हैं। अतः हेतुके रह जानेसे और साध्यके वहां न रहनेसे आपके सर्वज्ञसाधक अनुमानमें व्यभिचार दोष हुआ। ऐसा कहनेपर आचार्य कहते हैं कि हमारे अनुमानमें किसी भी प्रकार व्यभिचार नहीं है। क्योंकि आपके माने हुए शास्त्रोंके द्वारा जो नित्यत्व आदिक एकांत धर्म पुष्ट किये जाते हैं वे सम्पूर्ण एकांत विचारे प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित हो जाते हैं अतः वे वस्तुभूत पदार्थ नहीं हैं। वास्तवमें सच्चे श्रुतज्ञानका लक्षण हम आगेके ग्रंथमें यह कहेंगे कि जो तीनों स्थानोंमें विसंवाद करनेवाला न होवे अर्थात् जिसको जाने उसीमें प्रवृत्ति करे और उसीको प्राप्त करे ऐसे ज्ञानको अविसंवादी ज्ञान कहते हैं। स्वभाव, देश और कालसे व्यवहित होरहे परमाणु आदि पदार्थोंको निर्दोषरूपसे श्रुतज्ञान जानता है। ऐसे श्रुतज्ञानके द्वारा परोक्ष-रूपसे जाना गयापन हेतु सम्पूर्ण वस्तुभूत पदार्थोंमें ठहर रहा सिद्ध हो जाता है। अपरमार्थभूत सर्वथा एकांत धर्मोंमें हेतु रहता नहीं है।

ततः प्रकृतहेतोरव्यभिचारिता पक्षव्यापकता च सामान्यतो बोद्धव्या।

इस कारणसे श्रुतज्ञानसे जाना गयापन हेतु व्यभिचारी नहीं है। जब कि सर्वथा एकान्त कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है तो घोडोंके सींगके समान वे अविसंवादी श्रुतज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं अतः हेतुके न रहनेसे साध्यके न रहनेपर व्यभिचारी नहीं हुआ। और श्रुतज्ञान द्वारा जानागयापन हेतु

सूक्ष्म परमाणु, देशव्यवहित सुमेरु आदि, पदार्थोंरूप पक्षमें सामान्यरूपसे व्याप्त होकर रह जाता है, यह भी समझ लेना चाहिये जिससे कि असिद्ध आदि दोषोंकी सम्भावना नहीं है।

यतश्चैवं सर्वज्ञसाधनमनवद्यम् ।

ततोऽसिद्धं परस्यात्र ज्ञापकानुपलम्भनम् ॥
नाभावसाधनायालं सर्वतत्त्वार्थवेदिनः ॥ १३ ॥

जिस कारणसे कि इस उक्त प्रकारसे दिया गया सर्वज्ञसाधक हमारा अनुमान निर्दोष सिद्ध हो चुका है उस कारण इस सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेके लिए दिया गया दूसरे मीमांसकोंका सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका नहीं दीखनारूप हेतु सर्वज्ञरूप–पक्षमें नहीं रहता है अतः असिद्ध हेत्वाभास है। वह हेतु सर्व तत्त्वरूप पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेके लिए समर्थ नहीं है। जब कि सर्वज्ञकी सिद्धि कर रहे निर्दोष अनुमान प्रमाण विद्यमान है।

स्वयं सिद्धं हि किञ्चित्कस्यचित्साधकं नान्यथाऽतिप्रसङ्गात् ॥

जो कोई हेतु वादीको स्वयं सिद्ध हो चुका है वह तो नियमसे किसी न किसी साध्यका साधक हो सकता है। अन्यप्रकार नहीं, जैसे कि धूम अग्निको सिद्ध कर देता है। किंतु जो स्वयं सिद्ध नहीं है वह साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता है। यदि नहीं सिद्ध किया गया हेतु भी साध्योंको सिद्ध करने लगे तो अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् खरविषाण आदि हेतु भी साध्योंको सिद्ध करने लगेंगे, या चाक्षुषत्व हेतु भी शब्दको अनित्यत्व सिद्ध कर देवेगा। किंतु यह अन्याय है।

सिद्धमपि ।

आप मीमांसकोंके कथनमात्रसे ज्ञापक प्रमाणोंका न दीखनारूप हेतुको कथञ्चित् थोडी देरके लिए सिद्ध मान भी लेवें तो (देखिये कितने दोष आते हैं)

स्वसंवधि यदीदं स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः ॥
अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥ १४ ॥

हम जैन आप मीमांसकोंसे पूंछते हैं कि सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण केवल आपको ही नहीं प्रतीत होता है ? अथवा सब जीवोंके पास सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण नहीं है ? यदि केवल आपको अपनी ही आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले ज्ञापक प्रमाणोंका न दीखनारूप हेतु सर्वज्ञके अभावका साधक माना जावेगा तो आपका यह हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है, क्योंकि समुद्रके सम्पूर्ण

पानीका घडा, पुरु, लोटा, गिलास आदि बर्तनोंसे मापनेकी संख्याका परिमाण हो सकता है किन्तु आपको तो यह ज्ञान नहीं है कि पूरे समुद्रमें कितने घडे पानी है। अतः पानीकी घडोंके द्वारा विद्यमान परन्तु नहीं जानी जारही संख्यामें ज्ञापकानुपलम्भन हेतु रह गया और नास्तित्व साध्य तो वहां नहीं है। अर्थात् समुद्रके पानीमें घडोंकी संख्याका परिमाण है किंतु आपके पास उनका ज्ञापक प्रमाण नहीं है, इस कारण आपका हेतु व्यभिचारी है।

न हि पयोनिधेरम्भःकुम्भादिसंख्यानानि स्वयं परैरज्ञायमानतयोपगतानि न सन्ति येन तैर्व्यभिचारि ज्ञापकानुपलम्भनं न स्यात्। समुद्राम्भःकुम्भादिसंख्यानं बहुम्भस्त्वात् कूपाम्भोवदित्यनुमानात् न तेषामज्ञायमानतेति चेत्, नातो विशेषेणासिद्धेस्तत्संख्यातमात्रेण व्यभिचाराचोदनात्।

समुद्रके जलकी घडोंसे मापनेकी संख्याको आप मीमांसकोंने स्वयं नहीं जानने योग्य (लायक) पनेसे स्वीकार किया है। इतने स्वीकार करने मात्रसे समुद्रके जलकी घडोंसे संख्या नहीं हो सकती है, यह नहीं मानना चाहिये। जिससे कि आपका ज्ञापकानुपलम्भन हेतु घडोंकी संख्याओंसे व्यभिचारी न हो सके, आपका न जानना किसीके अभावका साधक नहीं हो सकता है। स्यात् (शायद) आप अनुमान द्वारा यह कहे कि समुद्रका जल घडे आदिककी मापसे गिना जा सकता है क्योंकि उसमें बहुतसा पानी है जैसे कि कुएंका जल घडोंसे या पुरोंसे मापा जाता है। इस अनुमानसे समुद्रके जलका घडोंसे माप किया जा सकता है अतः हमारे पास समुद्रके जलकी संख्या करनेका अनुमानरूप ज्ञापक प्रमाण है। न जानागयापन नहीं है। इस कारण हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त अनुमानसे आपने केवल घडोंकी सामान्य संख्याको सिद्ध किया है। विशेषरूपसे संख्या सिद्ध नहीं हुयी है। हमने आपके ज्ञापकानुपलम्भन हेतुका समुद्रके जलकी विशेष रूपसे ठीक ठीक (अन्यूनातिरिक्त) संख्याओंसे व्यभिचार दिया था, सामान्य घडोंकी केवल अटकल पच्चूकी संख्यास प्रेरित व्यभिचार नहीं दिया था। इस कारण आपका केवल अपनी आत्मामें सर्वज्ञज्ञापक प्रमाणोंका न जाननारूप हेतु व्यभिचारी ही हुआ। गणितके जाननेवाले घडेकी लम्बाई, चौडाई, ऊंचाईका घनफल निकालकर और समुद्रका घनफल निकालकर विशेषरूपसे भी समुद्रके पानीकी घडोंसे संख्या कर लेते हैं। लवणसमुद्रके पानीकी घडोंसे क्या किन्तु (बल्कि) रोमाओंसे भी ठीक ठीक संख्या निकाली जा सकती है किन्तु लालसमुद्र, बंगालकी खाडी आदि उपसमुद्रकी ऊंची नीची भूमियोंका तथा लहरोंकी या पानीकी ऊंचाई नीचाईका आप ठीक ठीक खातफल नहीं निकाल सकते हैं। अतः आपकी ठेकेदारीमें पडा हुआ ज्ञापकानुपलम्भन हेतु समुद्रके जलकी विशेष

करके घडोंकी ठीक ठीक संख्याओंमें चले जानेसे और वहां नास्तित्वरूप साध्यके न रहनेसे व्यभिचारी हुआ ही।

एतेनार्थापत्त्युपमानाभ्यां ज्ञायमानता प्रत्युक्ता, चोदनातस्तत्प्रसिद्धिरिति चेत्, न, तस्याः कार्यार्थादन्यत्र प्रमाणतानिष्टेः, परेषां तु तानि सन्तीत्यागमात्प्रतिपत्तेर्युक्तं तैर्व्यभिचारचोदनम्।

अर्थापत्ति और उपमानप्रमाणसे समुद्रजलके घडोंकी संख्याओंका ज्ञान होता है, अतः ज्ञापकप्रमाणका उपलम्भ है। मीमांसककी यह बात भी इसी पूर्वोक्त कथनसे खण्डित होजाती है क्योंकि समुद्रजलका विशेषरूपसे घडोंके द्वारा संख्या ज्ञात करना अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे नहीं हो सकता है।

यदि आप मीमांसक कहेंगे कि विधिलिङ्वाले आगम प्रमाणरूप वेदवाक्योंसे समुद्रके जल की घडोंके द्वारा नाप प्रसिद्ध होजावेगी, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपने ज्योतिष्टोम यज्ञ, आदि कर्मकाण्डरूप अर्थके सिवाय वेदके प्रेरकवाक्योंका प्रमाणपना स्वीकार नहीं किया है। नहीं तो वेदमें सर्वज्ञबोधक भी प्रेरक वाक्य है। और दूसरे हम जैनोंके यहां तो सर्वज्ञद्वारा कहे हुए आगमसे यह निश्चित कर लिया जाता है कि अमुक समुद्रकी लम्बाई, चौडाई और गहराई इतनी है। अथवा इस समुद्रमें इतने घडे पानी है, इतनी घडोंकी संख्यायें हैं। यह बात सत्यवक्ता पुरुषोंके द्वारा भी निर्णीत हो जाती है। अतः सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करनेमें दिये गये मीमांसकोंके ज्ञापक प्रमाणका न दिखनारूप हेतु समुद्रजलकी घडोंसे ठीक ठीक संख्याओं करके हमारी तरफसे व्यभिचारदोषकी प्रेरणा करना युक्तही है।

सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते॥
सर्ववोद्धास्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते?॥ १५॥

यदि आप मीमांसक दूसरा पक्ष लेंगे कि सर्वसंसारके जीवोंके पास सर्वज्ञको ज्ञापन करनेवाला प्रमाण नहीं है। इसपर हम जैन कहते हैं कि थोडेसे ज्ञानवाले पुरुषोंके द्वारा यह बात नहीं जानी जा सकती है कि सब जीवोंके पास सर्वज्ञका कोई ज्ञापक प्रमाण नहीं है। सम्भव है किसी के पास सर्वज्ञसाधक प्रमाण होय जैसा कि जैन, नैयायिक, वैशेषिक मानते हैं। यदि आप किसी जीवको ऐसा मानते हो कि वह सब जीवोंका प्रत्यक्ष ज्ञान कर यह समझ लेता है कि सबके पास सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण नहीं पाया जा रहा है तब तो सबको जाननेवाले सर्वज्ञका आप निषेध क्यों करते हैं? जो सब जीवोंको जानता है और उन जीवोंके सर्वज्ञको न जाननेवाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका प्रत्यक्ष कर रहा है वही तो सर्वज्ञ है।

सर्वसम्बन्धि तदज्ञातासिद्धं, किंचिज्ज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात्, न च सर्वज्ञस्तद्बोद्धास्ति तत्प्रतिषेधविरोधात् ।

मीमांसकोंका सब जीवोंके सम्बन्ध होरहे ज्ञापक प्रमाणका न दीखनारूप हेतु वादी प्रतिवादीके द्वारा जाना नहीं जा सकता है । अतः अज्ञात होकर असिद्ध हेत्वाभास है । कुछको जानने वाले अल्पज्ञ संसारी जीवोंके द्वारा सब जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञापकोंका अनुपलम्भ जाना नहीं जा सकता है । यदि आपने सब जीवोंके प्रमाणोंका प्रत्यक्ष करनेवाला कोई ज्ञाता माना है, यह तो ठीक नहीं है क्योंकि इससे तो सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है और आप सर्वज्ञको मानकर फिर उसका निषेध करेंगे तो आपके वचनोंमें पूर्वापरविरोध हो जावेगा ।

षड्भिः प्रमाणैः सर्वज्ञो न वार्यत इति चायुक्तम् । यस्मात्—

यदि मीमांसक यों कहें कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, उपमान और अभाव इन छह प्रमाणोंसे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान करनेवाले सर्वज्ञका खण्डन हम नहीं करते हैं । अनुमान या आगमसे अनेक विद्वान् परोक्षरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लेते हैं यह कोई कठिन बात नहीं है, किंतु एक मुख्यप्रत्यक्षद्वारा युगपत् सर्व जगत्को विशदरूपसे प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञको हम नहीं मानते हैं । आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकका कहना युक्तियोंसे रहित है । कारण कि—

सर्वसम्बन्धिसर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् ।
न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥ १६ ॥

एक केवलज्ञानरूप प्रत्यक्षके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञका नास्तिपन सिद्ध करनेके लिये दिया गया सब जीवोंके पास ज्ञापकप्रमाणोंका अनुपलम्भरूप हेतु विचारा चक्षु, मन आदि इंद्रियोंसे तो जाना नहीं जाता है । क्योंकि सर्वज्ञके ज्ञापकोंका नहीं दीखना अतीन्द्रिय विषय है । जैसे कि पुण्य, पाप, इंद्रियोंसे नहीं दीखते हैं । अतः आप मीमांसकोंके हेतुकी सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो हो नहीं सकती है, विना हेतुके जाने साध्यको नहीं जान सकते हैं ।

नानुमानादलिंगत्वात्कार्थापत्त्युपमागतिः ।
सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः ॥ १७ ॥

आपके ज्ञापकानुपलम्भन हेतुको कोई अनुमान से भी नहीं जान सकता है क्योंकि उस हेतुको साध्य बनाकर जाननेके लिये अविनाभाव रखनेवाला कोई दूसरा हेतु नहीं है । अतीन्द्रिय साध्यके साथ व्याप्तिका ग्रहण करना कठिन है । जब ज्ञापकानुपलम्भन-हेतु अनुमानसे ही नहीं

जाना गया तो अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे तो क्या जाना जावेगा ?। जिसके विना जो न हो सके, ऐसे अदृष्ट पदार्थके जाननेको अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे कि मोटे पुष्ट देवदत्तको देखकर दिनमें खानेकी बाधा उपस्थित होजानेपर रात्रिमें भोजन करना अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है तथा सदृश पदार्थके देखनेपर सादृश्यज्ञानका स्मरण करते हुए इसके सदृश वह है ऐसे ज्ञानको आपने उपमान प्रमाण माना है, जैसेकि रोझकी सदृशता गौमें है। जबकि यहां संपूर्ण जीवोंको अन्यथा न होनेवाले और सदृशता रखनेवाले पदार्थोंकी सिद्धि नहीं है। ऐसी दशामें अतीन्द्रिय हेतुको जाननेके लिये अर्थापत्ति और उपमानप्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात्।
केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य तत् ?॥ १८॥

" ज्ञापकानुपलम्भन " हेतुके जाननेमें सम्पूर्ण प्रमाताओंके संबंधी होरहे (सम्बन्धः षष्ठ्यर्थः) प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणोंकी प्रवृत्तिका निवारण होगया तो मीमांसकोंके यहां केवल आगमसे उस ज्ञापकानुपलम्भका जानना कैसे सिद्ध होसकेगा ?। कारण कि—

कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य संमतम्।
तस्य स्वरूपसत्तायां तन्नैवातिप्रसंगतः॥ १९॥

जिन मीमांसकोंके यहां प्रेरक वेदवाक्यसे जन्य ज्ञानको कर्मकाण्डके प्रतिपादन करनेरूप अर्थमें ही प्रमाण—ठीक माना है, उन मीमांसकोंने स्वरूपकी सत्तारूप परब्रह्मके कहनेवाले वेदवाक्योंको भी प्रमाण नहीं माना है, क्योंकि " एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म " ब्रह्माद्वैतवादियोंके अतिप्रसंग दोष होजायगा। "एकही ब्रह्म है दूसरा कोई नहीं है " ऐसे वेदवाक्योंको यदि मीमांसक प्रमाण मानें तो " अन्नाद्वै पुरुषः " "अन्नसे पुरुष पैदा होता है " ऐसे वेदवाक्योंको भी प्रमाण मानना पडेगा। तथाच चार्वाकमतका प्रसंग हो जायगा। अतः कर्मकाण्डके प्रतिपादक वाक्योंको ही मीमांसक प्रमाण मानते हैं। ज्ञापकानुपलम्भनके सिद्ध करनेवाले वेदवाक्योंको वे प्रमाण नहीं मानते हैं। अतः आगमसे भी ज्ञापकानुपलम्भन हेतुकी सिद्धि नहीं हुयी, जोकि उनने सर्वज्ञाभावको साधनेमें प्रयुक्त किया था।

तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः।
साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः॥ २०॥

यदि मीमांसक अभाव प्रमाणसे उस सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भका अभाव सिद्ध

करेंगे, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि उस अभाव प्रमाणकी भी सभी स्थानों (जगह) में प्रवृत्ति नहीं होती है।

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥ २१ ॥

जिन भाट्ट मीमांसकोंने छट्टा अभाव प्रमाणके प्रवर्त्तनकी यह योजना बतलायी है कि अभावके आधारभूत वस्तुके सद्भावको जानकर और जिसका अभाव सिद्ध किया गया है उस प्रतियोगिका स्मरण करके बहिरंग इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षासे केवल अंतरग मन इन्द्रियके द्वारा नास्तिपनका ज्ञान होता है। जैसे कि भूतलमें घटका अभाव जाना जाता है। इस समय भूतलका चक्षुसे या स्पर्शन इन्द्रियसे प्रत्यक्ष है ही और पहिले देखे हुए घटका स्मरण है ऐसी दशामें मन इन्द्रियसे घटाभावका ज्ञान हुआ है।

तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके क्षणे।
जायते नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा ॥ २२ ॥

जैनसिद्धांतमें और नैयायिकोंके यहां तो अभावका ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे हो जाता है। मीमांसकोंकी उक्त सामग्री अभावके जाननेमें अपेक्षणीय नहीं है। किन्तु मीमांसक लोग अभावके जाननेमें निषेध करने योग्य (लायक) पदार्थका स्मरण और निषेधके आधारवस्तुका प्रत्यक्ष करना या दूसरे प्रमाणोंसे निर्णीत कर लेना आवश्यक मानते हैं। उन मीमांसकोंको सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भका नास्तित्व मन इन्द्रियसे तभी ज्ञात हो सकेगा जब कि वहां आधारभूत सम्पूर्ण मनुष्योंका ज्ञान किया जाय और उस समय ज्ञापकप्रमाणोंका स्मरण किया जाय। इसके सिवाय दूसरी तरहसे आप ज्ञापक प्रमाणोंकी नास्तिताका ज्ञान कैसे भी नहीं कर सकते हैं।

न वाशेषनरज्ञानं सकृत्साक्षादुपेयते।
न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः ॥ २३ ॥

मीमांसकोंके अभाव प्रमाणकी उत्पत्तिमें अधिकरणका जानना आवश्यक है। प्रकृतमें सम्पूर्ण आत्माओंमें ज्ञापकप्रमाणके उपलम्भका अभाव जानना है, अतः अभावके आधारभूत सम्पूर्ण आत्माओंका एक बार ही एक समयमें प्रत्यक्ष हो जाना तो आप स्वीकार नहीं करते हैं और क्रम क्रमसे भी अन्य सम्पूर्ण आत्माओंका प्रत्यक्ष होना आपको अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अपनी आत्माके सिवाय अन्य आत्माओंका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? सर्वज्ञको आप मानते हैं।

यदा च क्वचिदेकत्र तदेतन्नास्तिता मतिः ।
नैवान्यत्र तदा सास्ति कैवं सर्वत्र नास्तिता ? ॥ २४ ॥

जिस समय किसी एक आत्मामें इस ज्ञापकोपलम्भकी नास्तिताका ज्ञान होगा उस समय दूसरी आत्माओंमें उसके नास्तिपनका आपको ज्ञान नहीं हो सकेगा । ऐसी अवस्थामें सभी आत्माओंमें ज्ञापकोपलम्भका नास्तिपन कहां सिद्ध हुआ ? । क्रम क्रमसे जिस आत्माको जानते जावोगे उसीमें नास्तिपन सिद्ध कर सकोगे ।

प्रमाणान्तरतोऽप्येषां न सर्वपुरुषग्रहः ।
तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात् सहोदीरितदूषणात् ॥ २५ ॥

इन मीमांसकोंके यहां ज्ञापकोपलम्भरूप निषेध्यके आधारभूत सम्पूर्ण पुरुषोंका ग्रहण अन्य अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणोंसे भी नहीं हो सकता है क्योंकि उनके अविनाभाव, सादृश्य आदि गुणोंको रखनेवाले हेतु आदिक सिद्ध नहीं हैं । अनेक पुरुषोंको क्रमसे प्रत्यक्ष जाननेमें जो दूषण आते हैं वेही दोष उन पुरुषोंको जाननेमें जो हेतु या सादृश्य दिये जावेंगे उनमें भी साथ साथ आवेंगे । अर्थात् अनेक पुरुषोंके साथ व्याप्ति रखनेवाला निर्दोष कोई हेतु आपके पास नहीं है, सादृश्य आदि भी नहीं हैं ।

तज्ज्ञापकोपलम्भोऽपि सिद्धः पूर्वं न जातुचित् ।
यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमञ्जसा ॥ २६ ॥

अभावप्रमाणकी उत्पत्तिमें प्रतियोगीका स्मरण करना भी आपने कारण माना है । मीमांसकोंके मतमें सर्वज्ञके उन ज्ञापकप्रमाणोंका उपलम्भ होना पहिले कभी सिद्ध नहीं हो चुका है जिसका कि स्मरण करनेपर ज्ञापकोपलम्भकी नास्तिताका ज्ञान ठीक ठीक हो जावे । अर्थात् पूर्वकालमें जाने हुएका ही हम वर्तमानमें स्मरण कर सकते हैं । मीमांसकोंको ज्ञापकप्रमाण ज्ञात ही नहीं हैं तो अभाव जानते समय उनका स्मरण भी नहीं हो सकता है ।

तदेवं सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकवदभावप्रमाणमपि न सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भस्य सर्वप्रमातृसंबंधितो संभवसाधनं, तत्र तस्योत्थानसामग्र्यभावात् ।

उस कारण इस प्रकार अब तक सिद्ध हुआ कि पदार्थोंकी सत्ताको जाननेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, और अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति ज्ञापकानुपलम्भन हेतुके जाननेमें जैसे सिद्ध नहीं हुई उसी प्रकार अभावप्रमाण भी सम्पूर्ण प्रमाताओंमें सम्बन्धित होरहे सर्वज्ञ

ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भके अभावको सिद्ध नहीं कर सकता है—असम्भव है। क्योंकि अभावप्रमाणके उत्पन्न होनेमें आधारका ग्रहण और प्रतियोगीका स्मरण आवश्यक है, उसकी सामग्री वहां है नहीं। अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्योंका ज्ञान और सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका स्मरण है नहीं, विना कारणके कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ?।

ननु च विवादापन्नेष्वशेषप्रमातृषु तदुपगमादेव सिद्धः सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भो नास्तीति साध्यते ततो नाभावप्रमाणस्य तत्रोत्थानसामग्र्यभाव इत्यारेकायां परोपगमस्य प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोर्दूषणमाह ।

यहां मीमांसक और भी स्वपक्षकी अवधारणा करते हैं कि सर्वज्ञको माननेवाले बौद्ध, जैन, नैयायिक आदि हैं और सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसक, चार्वाक आदि हैं। जब कि विवादमें पडे हुए जैन और नैयायिक सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंका उपलम्भ करते हैं तो उनके मन्तव्यके अनुसार सर्वज्ञज्ञापकके उपलम्भको हम थोडी देरके लिये कल्पनासे सिद्ध मानते हैं। बादमें प्रामाणिक अभाव प्रमाणसे ज्ञापक प्रमाणोंके उपलम्भका उन ही विवादग्रस्त सम्पूर्ण आत्माओंमें अभाव है ऐसा सिद्ध कर देते हैं। उस कारणसे वहां अभावप्रमाणकी उत्पत्ति करानेवाली सामग्रीका अभाव नहीं है। सर्वज्ञवादियोंने जिन आत्माओंमें सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका उपलम्भ माना है उनके स्वीकार करनेसे ही हमने निषेध्यके आधार सम्पूर्ण आत्माओंका ज्ञान कर लिया है और उनके जाने हुए ज्ञापकोपलम्भका स्मरण भी अभाव प्रमाणको उत्पन्न करते समय हमको होजाता है। इस प्रकार मीमांसकोंकी शंका होनेपर दूसरे सर्वज्ञवादियोंका मन्तव्य मीमांसकोंको प्रमाण है या अप्रमाण ! ऐसा पक्ष उठाकर उनमें आचार्य महाराज स्पष्टरूपसे दूषण कहते हैं।

परोपगमतः सिद्धस्स चेन्नास्तीति गम्यते ।
व्याघातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योऽन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा ॥ २७ ॥

यदि आप मीमांसक हम दूसरे सर्वज्ञवादियोंके स्वीकार करनेसे सर्वज्ञ ज्ञापक प्रमाणोंको सिद्ध मानकर पुनः ज्ञापकोपलम्भका नास्तिपना अभावप्रमाणसे यों जान लेते हो तब तो ऐसी दशामें हम पूंछते हैं कि उन (हम) सर्वज्ञवादियोंके ज्ञापकोपलम्भका स्वीकार करना यदि आपको प्रमाण है तब तो आपके कथनमें परस्परमें व्याघातदोष है। अर्थात् सर्वज्ञवादीके मतको प्रमाण माननेपर आप ज्ञापकोपलम्भका नास्तिपन सिद्ध नहीं कर सकते हैं और यदि ज्ञापकोपलम्भनका नास्तिपन सिद्ध करते हो तो सर्वज्ञवादीके अभ्युपगमको प्रमाण नहीं मान सकते हैं। दोनोंके माननेमें वदतो व्याघात दोष है। भावार्थ—न सन् और न असन् के समान उस पूर्वापर विरुद्ध या तुल्यबल विरुद्ध बातको बोलनेवालेका अपनेसे ही अपना घात हुआ जाता है। अन्यप्रकारसे यदि सर्वज्ञवादियोंके मन्तव्यको

आप प्रमाण नहीं मानेंगे तो संपूर्ण आत्माओंका ज्ञान और ज्ञापकोपलम्भनका स्मरण होनारूप सामग्रीके न होनेसे उस अभावप्रमाणका उत्थान नहीं हो सकता है। एवं च अभावप्रमाणसे ज्ञापकानुपलम्भन–हेतुको जब न जान सके तब सर्वज्ञका अभाव भी अनुमानसे सिद्ध नहीं कर सकते हो ॥

नहि प्रमाणात्सिद्धे सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भे परोपगमोऽसिद्धो नाम यतस्तन्नास्तितासाधनेऽन्योन्यं व्याघातो न स्यात्, प्रमाणमन्तरेण तु स न सिद्धयत्येवेति तत्सामग्र्यभाव एव।

जब कि सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंकी उपलब्धि प्रमाणसे सिद्ध हो चुकी है। ऐसी दशामें दूसरे सर्वज्ञवादियोंका अनेक आत्माओंको सर्वज्ञ स्वीकार करना मीमांसकोंके लिये कैसे भी असिद्ध नहीं है, जिससे कि उस सर्वज्ञका नास्तिपन सिद्ध करनेमें मीमांसकोंके परस्पर पूर्वापरविरुद्ध वचनोंमें व्याघात दोष न हो सके। अर्थात् हमारे कहनेके अनुसार सर्वज्ञ–आत्माओंको आपने थोडी देरके लिये कल्पित माना था। जब वह प्रमाणसे सिद्ध हो चुका तब उसके विरुद्ध स्वयं बोलनेमें मीमांसकोंके ऊपर व्याघात हो जाता है। प्रमाणके विना तो सर्वज्ञके ज्ञापकोंका उपलम्भ सिद्ध होता नहीं है किन्तु जब होगा प्रमाणसे ही होगा। इस प्रकार मीमांसकोंके यहां अभावप्रमाणके उत्पन्न होनेकी कारणकूटरूप सामग्रीका अभाव ही है। प्रमाणके विना आपका ज्ञापकानुमान हेतु भी सिद्ध नहीं होता है। अतः सर्वज्ञका अभाव तो सिद्ध नहीं हुआ किंतु उलटा अभावप्रमाणकी सामग्रीका अभाव होगया " सेयमुभयतःपाशा रज्जुः " रस्सी में दोनों तरफ फांसे हैं, इस न्यायसे मीमांसकोंको दोनों तरहसे सर्वज्ञ मानना पडता है। सर्वज्ञका नास्तिपन अभाव प्रमाणसे सिद्ध करें तो भी सर्वज्ञ मानना पडता है और सर्वज्ञका अभाव न करें तब तो सर्वज्ञ स्वयं सिद्ध है ही।

नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम्।
सिद्धो निषिध्यते जैनैरिति चोद्यं न धीमताम् ॥ २८ ॥

यहां मीमांसक शंका करते हुए कटाक्ष करते हैं कि, जैनोंने सर्वथा एकान्तका निषेध किया है वह कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि स्याद्वादी विद्वान् भी सर्वप्रकारसे कूटस्थ नित्यपन या एकक्षणमें पैदा होकर द्वितीयक्षणमें सर्वथा ध्वंस हो जानारूप अनित्यपन–एकांतोंका अभाव मानते हैं। वह भी तो आप दूसरे सांख्य, बौद्ध, आदिके स्वीकार किये गये ही एकांतोंका अभाव सिद्ध करते हैं। हम भी यहां कह सकते हैं कि यदि सांख्य, बौद्धोंका मन्तव्य आपको प्रमाणसे सिद्ध है और फिर आप जैन उनके माने हुए एकांतोंका अभाव सिद्ध करते हो तब तो आपके कथनमें भी परस्परव्याघात दोष हुआ और यदि आप सांख्य, बौद्ध आदिके मन्तव्योंको प्रमाण नहीं मानते हैं तो विना एकान्तोंकी विधिके उनका निषेध कैसे कर सकते हैं!" संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रति-

षेध्यादृते क्वचित् " आपके यहां भी प्रतिषेध्यके विना संज्ञीका निषेध हो जाना नहीं माना है। भावार्थ—हमारे सर्वज्ञके निषेध न कर सकनेके समान आप जैन भी सर्वथा एकान्तोंका निषेध नहीं कर सकते हैं। यहां आचार्य कहते हैं कि मीमांसकोंका यह प्रेरित कटाक्ष प्रतिभाशाली स्याद्वादियोंके ऊपर नहीं चलता है। क्योंकि एकान्तोंके अभावको हम अनेकान्त नहीं मानते हैं किंतु अनेकांत भावरूप पदार्थ है, एकके समान अनेक शब्द भी भावोंको कह रहा है। अनेक धर्मवाले पदार्थ प्रत्यक्ष–आदिप्रमाणोंसे ही सद्भावरूप सिद्ध हो रहे हैं। अशेषका अर्थ मूलरूपसे सम्पूर्ण होता है।

न हि स्वोपगमतः स्याद्वादिनां सर्वथैकान्तः सिद्धोऽस्तीति निषेध्यो न स्यात् सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भवत्। तदेतदचोद्यम्।

मीमांसकोंके द्वारा सर्वज्ञके अभाव सिद्ध करने में दिया गया ज्ञापकानुपलम्भन हेतु अभावरूप है और साध्य भी अभावरूप है। अतः साध्यके और हेतुके जाननेमें जिसका अभाव किया जाय ऐसे निषेध्यरूप प्रतियोगीके जाननेकी आवश्यकता है। किंतु स्वयं स्याद्वादियोंके मतसे सर्वथा एकान्तोंके निषेधसे अनेकान्त सिद्ध नहीं होता है जिससे कि निषेध करने योग्य न होता, यानी यदि ऐसा होता तो सर्वज्ञज्ञापकोंके उपलम्भकी तरह सर्वथा एकान्तका भी निषेध नहीं कर सकते थे। स्याद्वादी विद्वानोंने दूसरोंके माने हुएको स्वयं स्वीकार करके सर्वथा एकान्तकी सिद्धि मानी नहीं है। जो वस्तु सर्वथा है ही नहीं, उसके निषेध करने या विधि करनेका किसी प्रमाताके पास अवसर नहीं है, सर्वज्ञके द्वारा भी जो कुछ ज्ञात होरहा है वह अनेक धर्मात्मक ही है अतः अश्वविषाण के समान एकान्तोंका निषेध करना हमको आवश्यक नहीं है। इस कारण जैनों के ऊपर मीमांसकोंका यह कुचोद्यरूपी दोष नहीं है।

प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते।
को दोषः सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवबाधने॥ २९॥

अग्नि में दाह करना, पाक करना, शोषण करना आदि धर्म पाये जाते है। इसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मोंके आधारस्वरूप निर्बाध होकर अपने आप प्रमाणसे सिद्ध प्रतीत होरहे हैं। ऐसी दशामें श्रेष्ठ प्रमाणनयकी प्रक्रिया, और सप्तभंगीकी घटनाको जाननेवाले विद्वानोंके द्वारा सर्वथा एकान्तोंके तुच्छ उपद्रवको बाधा देनेमें क्या दोष संभावित है? अर्थात् कोई दोष नहीं है। जैसे तीव्र आतपसे सन्तप्त पुरुषको छायामें स्फुलिंग दीखते हैं, उनका निषेध कर दिया जाता है। यानी शुद्ध छायाका प्रत्यक्ष होना ही दृष्टिदोषसे हुये अनेक असत् धर्मोंका निषेध करना है। वास्तवमें वहां निषेध कुछ नहीं, केवल शुद्ध छायाका विधान है।

सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणेऽपि ह्यनेकान्तात्मनि वस्तुनि दृष्टिमोहोदयात्सर्वथैकान्ताभिप्रायः कस्यचिदुपजायते, स चोपप्लवः सम्यग्नयैर्बाध्यते इति न कश्चिद्दोषः प्रतिषेध्याधिकरणाप्रतिपत्तिलक्षणः प्रतिषेध्यासिद्धिलक्षणो वा ?

यह है कि सम्पूर्ण वस्तुएँ (पक्ष) परमार्थरूपसे, यथार्थ सिद्धांतनिश्चयसे अनेक धर्म स्वरूप है (साध्य) क्योंकि अनेक धर्मोंकी सिद्धिमें बाधा करनेवाले प्रमाणोंका न मिलना अच्छी तरहसे निश्चित है। (हेतु) इस प्रकार प्रमाणसे सिद्ध होनेपर भी दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे किसी एक मिथ्यादृष्टि जीवके सर्व प्रकारोंसे नित्यत्व या अनित्यपनरूप एकधर्मके माननेका आग्रह उत्पन्न हो जाता है और स्याद्वादी विद्वान् लगे हाथ समीचीननयोंसे उस उपद्रवका बाधन कर देते हैं। जैसे कि प्रचण्ड (तेज) धूपमेंसे चले आये हुए पुरुषको मकानमें चमकते हुए पीले पीले तिलमिले दीखते हैं किंतु विश्रांन्ति लेनेसे समीचीनदृष्टिके हो जानेपर उस चकाचौंधका निषेध कर दिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भावस्वरूप अनेकांतके सिद्ध करनेमें भी कोई दोष नहीं है। यदि सर्वथा एकांतोंका अभावरूप अनेकांत माना जाता तब तो एकांतोंके अभाव जाननेमें निषेध करने योग्य, (लायक) एकांतोंके अधिकरणोंका न जाननास्वरूप अथवा प्रतियोगीके स्मरणार्थ करने योग्य सर्वथा एकांतोंकी असिद्धिस्वरूप दोष सम्भावित था, किंतु अनेकांतसिद्धिमें उक्त वार्त्ता है नहीं।

मिथ्यादृशस्तदधिकरणस्य वचनाद्यनुमानात्सिद्धिसद्भावात्तदभिप्रायस्य च तदनुपलम्भनान्निषेधे साध्ये कुतो न दोष इति न वाच्यम्।

मीमांसक कहते हैं कि जिस आत्मामें सर्वथा एकांत माना जा रहा है उस कल्पित एकांतोंके अधिकरणरूप मिथ्यादृष्टीकी हम कुगुरु, कुदेव, कुतत्त्वोंके श्रद्धानसे या मिथ्यात्वप्रयुक्त वचनों आदिसे अनुमानद्वारा सिद्धि कर लेते हैं और मिथ्यादृष्टियोंके स्वीकार करनेसे उनके अभिप्रेत एकांतोंकी भी कल्पना कर लेते हैं, किंतु उन सर्वथा एकांतोंका वस्तुतः उपलम्भन न होनेसे निषेध सिद्ध कर दिया जाता है। अतः एक प्रकारसे अभाव जाननेकी सामग्री भी बन गयी, ऐसा होनेपर एकांतोंके अनुपलम्भसे एकांतोंका अभाव सिद्ध करनेमें आप जैनोंके ऊपर वह दोष कैसे नहीं होता है ? जैसे कि आपने हम मीमांसकोंको दोष दिया था वह दोष तो आपको भी लगेगा। अब आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंको कहना नहीं चाहिये कारण कि—

अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम्।
तद्विधिस्तन्निषेधश्च यतो नैवान्यथा मतिः ॥ ३० ॥

जैनसिद्धान्तमें नैयायिकोंका माना गया तुच्छ अभाव नहीं इष्ट किया है। एकान्तोंके न दीखनेसे सर्वथा एकान्तोंका अभाव हम नहीं मानते हैं किंतु वस्तुभूत अनेक धर्मोंमें विज्ञान हो जाना ही एकान्तोंका न दीखना है। इसी प्रकार अनेक धर्मोंका जो विधान है वही एकान्तोंका निषेध माना गया है। नैयायिक या मीमांसकोंके समान दूसरे प्रकारोंसे अभावका ज्ञान होना हम नहीं मानते हैं। समझे।

अनेकान्तोपलब्धिरेव हि प्रतिपत्तुरेकान्तानुपलब्धिः प्रसिद्धैव स्वसम्बधिनी सा चैकान्ताभावमन्तरेणानुपपद्यमाना तत्साधनीया।

वस्तुमें तादात्म्यसम्बन्धसे रहनेवाले अनेक धर्मोंका सर्वदा ज्ञान होते रहना ही सर्वथा एकान्तोंका अनुपलम्भ है, यह बात प्रमाता विद्वानको अपनी आत्मामें सम्बन्धित हो रही अच्छी तरहसे प्रमाणसिद्ध हो चुकी है। जैसे कि केवल भूतलका ही दीखना घटका अनुपलम्भ है। मात्र रीते भूतलका उपलम्भ घटाभावके विना सिद्ध नहीं हो सकता है। उसी प्रकार वस्तुमें वह अनेक-धर्मोंका उपलम्भ होना भी एकान्ताभावके विना सम्पन्न नहीं होता है। इस अविनाभावसे उन एकान्तोंका अभाव सिद्ध कर लेना चाहिये। अर्थमें निषेध्यके आधारका ज्ञान या निषेध्यके स्मरणकी आवश्यकता नहीं है।

नन्वनेकान्तोपलम्भादेवानेकान्तविधिरभिमतः स एव चैकान्तप्रतिषेध इति नानुमानतः साधनीयस्तस्य तत्र वैयर्थ्यात्, सत्यमेतत्, कस्यचित्तु कुतश्चित्साक्षात्कृतेऽप्यनेकान्ते विपरीतारोपदर्शनात्तद्व्यवच्छेदोऽनुपलब्धेः साध्यते, ततोऽस्याः साफल्यमेव।

मीमांसकोंका प्रश्न है कि आप जैन सर्वथा एकान्तोंके अभावसे तो अनेकान्तका उपलम्भ मानते नहीं हैं किंतु आप जैनियोंने वस्तुभूत बहुतसे धर्मोंके देखनेसे ही अनेकान्तका विधान इष्ट किया है। उस अनेकान्तके विधानको ही आपने सर्वथा एकान्तोंका निषेध स्वीकृत किया है! ऐसी दशामें आपको एकान्तोंका निषेध अनुमानसे सिद्ध नहीं करना चाहिये। क्योंकि जब वे दोनों एक ही हैं तब एकान्तके जाननेमें अनुमान करना व्यर्थ है। इसपर आचार्य कहते हैं कि आपका कहना ठीक है किंतु किसी एक मनुष्यको किन्हीं अनेक अर्थक्रियाओंके द्वारा वस्तुमें अनेक धर्मोंका प्रत्यक्ष होनेपर भी उन अनेक धर्मोंसे प्रतिकूल एकान्तपनेकी कल्पना कर लेना देखा जाता है अतः ऐसी दशामें सर्वथा एकान्तोंका न दीखनारूप हेतुसे उस विपरीत कल्पनाका निवारण दिया जाता है जैसे कि केवल भूतलका देखना ही घटाभावका ज्ञान है। फिर भी कोई भ्रमी (बहमी) पुरुष घटकी संभावना कर बैठता है तब इस भूतलमें घट नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह नहीं दीखता है। (हेतु) इस अनुमानसे घटका निषेध कर देते हैं। इसी प्रकार यहां भी झूटी कल्पना करने-

वाले पुरुषोंके लिये एकान्तोंका अभाव सिद्ध कर दिया है जिस कारण इस अनुपलब्धि हेतुसे किया गया अनुमान सफल ही है।

प्रमाणसंप्लवोपगमाद्वा न दोषः।

एक अर्थको अनेक प्रमाणोंसे विशेषविशेषांशों करके जानना रूप प्रमाणसंप्लव भी हम जैनोंने स्वीकृत किया है, अतः अनेकांतोंको प्रत्यक्ष जान लेना भी एकांतोंके निषेधका ज्ञान है और अनुपलब्धि हेतुसे एकांतोंका अभाव जानना भी दूसरा इसी विषयको जाननेवाला अनुमान प्रमाण हैं। इस कारण अनुमानसे दुबारा सिद्ध करनेमें कोई दोष नहीं है।

परस्याप्ययं न्यायः समानः,

यहां मीमांसक कहते हैं कि इसी प्रकार हम भी सर्वज्ञके अभावको सिद्ध कर लेवेंगे जैसे आपने एकांतोंका अभाव सिद्ध कर दिया है। वहां प्रतियोगीके स्मरण और निषेध्यसम्बन्धी आधारके प्रत्यक्षकी जिस प्रकार आपको आवश्यकता नहीं पडी है। यही तर्कणारूप न्याय दूसरे हमको सर्वज्ञाभाव सिद्ध करनेमें भी समान है, न्यायमें पक्षपात नहीं होना चाहिये।

इति चेत्:—

इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि:—

नैवं सर्वस्य सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम्।
सिद्धं तद्दर्शनारोपो येन तत्र निषिध्यते ॥ ३१ ॥

मीमांसकोंका उक्तकथन ठीक नहीं है। कारण कि जैसे हमको सब वस्तुओंमें (जगह) अनेकांतोंकी उपलब्धिरूप एकांतोंका अदर्शन सिद्ध है। इस कारण यदि किसीको भ्रमवश एकांत की कल्पना भी हो जाती है तो वह खण्डित कर दी जाती है। उसी प्रकार सब पुरुषोंके सर्वज्ञज्ञापक प्रमाणोंका न दीखना आपको सिद्ध नहीं है जिससे कि वहां वस्तुतः निषेध कर देते। भावार्थ—यदि न दीखना सिद्ध होजाता तो एक दो मनुष्योंको सर्वज्ञज्ञापकके कल्पित उपलम्भ करनेका आप निषेध भी कर सकते थे। किंतु सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंका अभाव आप नहीं कर सकते हैं। भला हमारा और आपका अर्थपरीक्षणस्वरूप न्याय समान कहां रहा ?

सर्वसम्बन्धिनि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भे हि प्रतिपत्तुः स्वयं सिद्धे कुतश्चित्कस्यचित्सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भसमारोपो यदि व्यवच्छेद्येत तदा समानो न्यायः स्यान्न चैवं सर्वज्ञाभाववादिनां तदसिद्धेः।

यदि ज्ञाता मीमांसकको सम्पूर्णपुरुषोंमें सम्बन्धित होरहे सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंका अनुपलम्भ अपने आप सिद्ध होता और बादमें किसी एक आध सर्वज्ञवादी व्यक्तिको किसी कारण से उसके विपरीत सर्वज्ञके ज्ञापकका उपलम्भरूप आरोप (कल्पना) हो जाता, पुनः इस आरोपको आप निवारण करते तब तो हमारे एकान्ताभावका और आपके सर्वज्ञाभावका न्याय समान होता किन्तु इस प्रकार सर्वज्ञाभाववादियोंके मतमें सम्पूर्ण आत्माओंमें सर्वज्ञके उन ज्ञापक प्रमाणोंका नहीं दीखना सिद्ध नहीं है। और हमारे यहां अनेकान्तोंका दर्शनरूप एकान्तोंके ज्ञापक-का अनुपलम्भ सिद्ध है। अतः हमारा और आपका न्याय सदृश नहीं है।

आसन् सन्ति भविष्यन्ति बोद्धारो विश्वदृश्वनः।
मदन्येऽपीति निर्णीतिर्यथा सर्वज्ञवादिनः ॥ ३२ ॥
किंचिज्ज्ञस्यापि तद्वन्मे तेनैवेति विनिश्चयः।
इत्ययुक्तमशेषज्ञसाधनोपायसंभवात् ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रत्यक्ष कर चुकनेवाले सर्वज्ञको जाननेवाले मेरेसे अतिरिक्त दूसरे पुरुष पहिले यहां हो चुके हैं उस समय भी अन्य क्षेत्रोंमें प्रत्यक्ष करनेवाले और यहां आगम, अनुमानसे जाननेवाले सर्वज्ञवेत्ता पुरुष वर्तमान हैं तथा भविष्यकालमें भी सर्वज्ञको जाननेवाले अनेक होवेंगे इस प्रकारका निर्णय जैसे सर्वज्ञवादीको है, उसीके समान मुझ मीमांसकको भी अच्छी तरह इस बातका विशेषरूपेस निश्चय है कि पहिले कालोंमें भी सम्पूर्ण लोग अल्पज्ञ थे और इस समय भी अल्पज्ञ हैं तथा अब आगे भी सम्पूर्ण जन अल्पज्ञ रहेंगे सर्वज्ञ और सर्वज्ञको जाननेवाला न कोई था, न है न होगा। सम्पूर्ण मनुष्य अल्पज्ञोंको ही जाननेवाले थे, हैं, और होंगे भी। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकका कहना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि सर्वज्ञके सिद्ध करनेका समीचीन उपाय विद्यमान है। प्रमाणसे सम्भव रही वस्तुका असम्भव कहते रहना उचित नहीं है।

स्वयमसर्वज्ञस्यापि सर्वविदो बोद्धारो वृत्ता वर्त्तन्ते मत्तोऽन्येऽपीति युक्तं वक्तुम्, तत्सिद्ध्युपायघटनात्। न पुनरसर्वज्ञवादिनस्ते पूर्वं नासन्न सन्ति न भविष्यन्तीति प्रमाणाभावात्।

इस समय स्वयं अल्पज्ञ होकर भी हम जैन इस बातको युक्तिसहित कह सकते हैं कि हमसे अतिरिक्त पुरुष भी भूतकालमें सर्वज्ञके जाननेवाले थे, हैं, और वर्तमानमें भविष्यमें होंगे। क्योंकि उस सर्वज्ञकी सिद्धिका उपाय अनुमानप्रमाण चेष्टासहित बना हुआ है। किंतु सर्वज्ञको न माननेवाले मीमांसकोंके यहां सर्वज्ञ न थे, न हैं, और न होंगे इस बातका कोई प्रमाण नहीं है।

कथम् ?।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वह सर्वज्ञका ज्ञापक प्रमाण हम असर्वज्ञ लोगोंको किस प्रकार है यह दिखलाते हैं।

यथाहमनुमानादेः सर्वज्ञं वेद्मि तत्त्वतः
तथान्येऽपि नराः सन्तस्तद्बोद्धारो निरंकुशाः ॥ ३४ ॥

जैसे कि मैं अनुमान, आगम, आदि प्रमाणोंसे सर्वज्ञको वास्तविकरूपसे जान लेता हूं उसी प्रकार दूसरे विचारशील सज्जन पुरुष भी बाधक प्रमाणोंसे रहित होकर उस सर्वज्ञको जान लेते हैं।

सन्तः प्रशस्याः प्रेक्षावन्तः पुरुषास्ते मदन्येऽप्यनुमानादिना सर्वज्ञस्य बोद्धारः प्रेक्षावत्त्वात् यथाहमिति ब्रुवतो न किंचिद्बाधकमस्ति। न च प्रेक्षावत्त्वं ममासिद्धं निरवद्यं सर्वविद्यावेदकप्रमाणवादित्वात्। यो हि यत्र निरवद्यं प्रमाणं वक्ति स तत्र प्रेक्षावानिति सुप्रसिद्धम्।

लोकमें सद्गुणोंसे जो पूज्य हैं वे सज्जन हैं अर्थात् मुझसे अतिरिक्त जो विचारशील पुरुष हैं वे भी अनुमान आदि प्रमाणोंके द्वारा सर्वज्ञको जान रहे हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे पुरुष समीचीन तर्कणासे हिताहितको विचारनेवाले हैं, (हेतु) जैसे कि मैं विचारवाला होकर प्रमाणोंसे सर्वज्ञको जान रहा हूं। (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार कहते हुए मुझ सर्वज्ञवादीके अभिमतका कोई बाधक नहीं है। मुझको विचारशालिनी बुद्धिसे सहितपना असिद्ध नहीं हैं। क्योंकि मैं निर्दोषरूपसे संपूर्ण विद्याओंके ज्ञान करानेवाले प्रमाणोंको स्वीकार करनेवाला वादी हूं। जो वादी जिस विषयमें निर्दोषरूपसे निश्चय करके प्रमाणोंको कह रहा है वह वादी उस विषयमें अवश्य विचारशील सत्पुरुष माना जाता है जैसे कि सच्चा वैद्य, यह व्याप्ति लोकमें अच्छी तरहसे प्रसिद्ध है।

यथा मम न तज्ज्ञप्तेरुपलम्भोऽस्ति जातुचित्।
तथा सर्वनृणामित्यज्ञानस्यैव विचेष्टितम् ॥ ३५ ॥
हेतोर्नरत्वकायादिमत्त्वादेर्व्यभिचारतः।
स्याद्वादिनैव विश्वज्ञमनुमानेन जानता ॥ ३६ ॥

यहां मीमांसक कहता है कि जैसे मुझको उस सर्वज्ञ की ज्ञप्तिका उपलम्भ कभी नहीं होता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण मनुष्योंको भी सर्वज्ञका ज्ञान नहीं हो सकता है। इस प्रकार मीमांसकोंका कहना अज्ञानपूर्वक ही क्रिया करना है कारण यह है कि आप सम्पूर्ण मनुष्योंको सर्वज्ञका ज्ञान नहीं है। इसका यही अनुमान करेंगे कि " सम्पूर्ण मनुष्योंमें कोई भी मनुष्य सर्वज्ञको नहीं जानते

हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे सभी पुरुष है (हेतु) या वे सभी शरीर, इन्द्रिय आदिसे विशिष्ट हैं। (दूसरा हेतु) अथवा वे वक्ता हैं। (तीसरा हेतु) जो जो पुरुष हैं या शरीर आदिके धारी हैं तथा व्याख्याता हैं वे वे कोई भी सर्वज्ञको नहीं जानते हैं। जैसे कि मैं, (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानमें दिये गये मनुष्यत्व, शरीरित्व आदि हेतुओंका अनुमानके द्वारा सर्वज्ञको जाननेवाले जैन स्याद्वादी विद्वानसे ही व्यभिचार है अर्थात् स्याद्वादी विद्वान् पुरुष हैं, शरीरधारी हैं और अच्छे वक्ता भी हैं किंतु वे सर्वज्ञको भली प्रकार जानते हैं। हेतु रह गया और साध्य नहीं रहा, अतः आप मीमांसकोंके हेतु व्यभिचारी हैं।

मदन्ये पुरुषाः सर्वज्ञज्ञापकोपलम्भशून्याः पुरुषत्वात्कायादिमत्त्वाद् यथाहमिति वचस्तमोविलसितमेव; हेतोः स्याद्वादिनानैकान्तात्।

उक्त दो वार्तिकोंका अर्थ यह है। मीमांसक यदि यह कहें कि "मेरेसे अतिरिक्त संसारके मनुष्य सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंसे रीते हैं पुरुष होनेसे, या शरीर आदिका धारीपना होनेसे जैसे कि मैं" इस अनुमानमें मीमांसकने अन्वयदृष्टान्त बनानेके लिये अपनेसे अतिरिक्त सर्व जीवोंको पक्षकोटिमें डाला है और दृष्टान्त बनानेके लिये आपको दण्डा दिया है। क्योंकि अन्वयदृष्टान्त पक्षसे भिन्न हुआ करता है। ये मीमांसकोंके वचन अत्यन्त गाढ अन्धकारके कोरे खिलवाड ही हैं। क्योंकि उन हेतुओंका स्याद्वादी विद्वानसे व्यभिचार है।

तस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत्, न, पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानबाधप्रसक्तेः। सर्वज्ञवादिनो हि सर्वज्ञज्ञापकमनुमानादि स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रतिवादिनश्च तद्वचनविशेषोत्थानुमानसिद्धं सर्वपुरुषाणां सकलवित्साधनानुभवनशून्यत्वं बाधते हेतुश्चातीतकालः स्यादिति नासर्वज्ञवादिनां सर्वविदो बोद्धारो न केचिदिति वक्तुं युक्तम्।

यहां मीमांसक यह कहें कि, व्यभिचारस्थल माने गये स्याद्वादी-लोगोंको भी पक्षकोटिमें कर लिया जावेगा इस कारण कोई दोष नहीं है। अर्थात् स्याद्वादियोंको भी सर्वज्ञका ज्ञान नहीं है, वे झूंठी दम भरते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि तब तो आपके पक्षको प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाणसे बाधा होनेका प्रसंग हो जावेगा। कारण कि सर्वज्ञवादीने सर्वज्ञका ज्ञान करानेवाले अनुमान आदि प्रमाण स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जान लिये हैं और प्रतिवादीको उन पूर्वापर अविरुद्ध वचनविशेषोंसे पैदा हुए अनुमानके द्वारा सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका ज्ञान करा दिया जाता है। अतः स्वसंवेदन और अनुमानसे सिद्ध किये वे सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाण मीमांसकोंके बनाये हुए उक्त अनुमानको बाधा देते हैं अतः सम्पूर्ण पुरुष सर्वज्ञसाधक अनुभवोंसे रहित हैं। इस अनुमानमें दिया गया हेतु-बाधित हेत्वाभास होजाता है क्योंकि सर्वज्ञके साधक अनुभवोंके सिद्ध

होजानेपर पश्चात्कालमें आपका अनुमान बोला गया है। इस प्रकार सर्वज्ञको जाननेवाले कोई नहीं हैं यह असर्वज्ञवादी मीमांसक नहीं कह सकते हैं अर्थात् सर्वज्ञका या सर्वज्ञको जाननेवालोंका निषेध करना उचित नहीं है।

ज्ञापकानुपलम्भोऽस्ति तन्न तत्प्रतिषेधतः।
कारकानुपलम्भस्तु प्रतिघातीष्यतेऽग्रतः ॥ ३७ ॥

हेतु दो प्रकारके होते हैं। एक ज्ञापक हेतु, दूसरे कारक हेतु, जैसे कि अग्निका धूम ज्ञापक हेतु है और धूमका कारक हेतु अग्नि है। यहां मीमांसकों करके कहा गया सर्वज्ञके ज्ञापक प्रमाणोंका अनुपलम्भ तो सिद्ध नहीं हुआ है क्योंकि हमने सर्वज्ञके ज्ञापकप्रमाणोंको सिद्ध करके उस अनुपलम्भका निषेध कर दिया है और सर्वज्ञको बनानेवाले कारकहेतुओंके अनुपलम्भ होनेका भी आगे विघात करनेवाले हैं। अर्थात् तपस्या, समाधि, पूर्ण श्रुतज्ञान आदिके द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षयसे सर्वज्ञपन बनना इष्ट है। भावार्थ—कर्मोंके क्षयसे विशुद्ध आत्मामें स्वाभाविक केवलज्ञान प्रगट होजाता है अतः कारकहेतुओंका अनुपलम्भ भी नहीं है।

तदेवं सिद्धो विश्वतत्त्वानां ज्ञाता, तदभावसाधनस्य ज्ञापकानुपलम्भस्य कारकानुपलम्भस्य च निराकरणात्।

इस कारण इस प्रकार अब तक सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण पदार्थोंका एक साथ प्रत्यक्ष करनेवाला सर्वज्ञ अवश्य है। क्योंकि उस सर्वज्ञके अभावको सिद्ध करनेके लिये मीमांसकोंकी ओरसे दिये गये ज्ञापकप्रमाणोंके अनुपलम्भका और कारककारणोंके अनुपलम्भका खण्डन कर दिया गया है। दूसरी कारिकामें कहे गये प्रमेयको पुष्ट करनेके लिये—सर्वज्ञताको सिद्ध कर चुकनेपर अब पापोंका क्षय करना प्रसिद्ध करते हैं सुनिये!

कल्मषप्रक्षयश्चास्य विश्वज्ञत्वात्प्रतीयते।
तमन्तरेण तद्भावानुपपत्तिप्रसिद्धितः ॥ ३८ ॥

इस सर्वज्ञके ज्ञानावरण आदि पापकर्मोंका क्षय हो जाना तो सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञातापनसे ही निर्णीत कर लिया जाता है। क्योंकि उसके विना यानी पापोंका क्षय किये विना उसके सद्भाव यानी सर्वज्ञताकी सिद्धि नहीं होती हैं। यह प्रमाणसे सिद्ध है।

सर्वतत्त्वार्थज्ञानं च कस्यचित्स्यात् कल्मषप्रक्षयश्च न स्यादिति न शंकनीयं तद्भाव एव तस्य सद्भावोपपत्तिसिद्धेः।

दूसरी वार्त्तिकमें सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंके ज्ञानरूप कार्यको हेतु बनाया है और कर्मोंके ध्वंसरूप कारणको साध्य बनाया है। उस प्रकरणका यहां उपसंहार किया जा रहा है। यहां कोई शंका करे कि आपके उक्त अनुमानमें अनुकूल तर्क नहीं है अर्थात किसी एक अनादि ईश्वरके सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंका ज्ञान हो और सदा शुद्ध हो रहे ईश्वरके पापोंका क्षय न हो इसमें क्या बाधा है? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उस पापोंके क्षय होनेपर ही उस आत्माको सब पदार्थोंका जानना बन सकता है। जैसे कि वह्निसाधक प्रसिद्ध अनुमानमें कोई शंका करे कि धूम हो और वह्नि न हो तो इसमें क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यही है कि कार्यकारणभावका भंग हो जावेगा। विना कारणके धूम नहीं हो सकता है। उसी तरहसे यहां भी कार्यकारणभावका भंग न होना ही उक्त शंकाका बाधक है।

जायते तद्विधं ज्ञानं स्वेऽसति प्रतिबन्धरि।
स्पष्टस्वार्थावभासित्वान्निर्दोषनयनादिवत् ॥ ३९ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंको हस्तामलकवत् युगपत् जाननेवाला वैसा ज्ञान (पक्ष) अपने विघ्न कर रहे ज्ञानावरण आदि प्रतिपक्षियोंके नष्ट हो जानेपर ही पैदा होता है (साध्यदल) क्योंकि वह स्पष्ट रूपसे सम्पूर्ण अपने विषयोंको प्रकाश कर रहा है (हेतु) जैसे कि चाकचक्य, कामल, पाण्डु, आदि दोषोंसे सहित चक्षु आदि इन्द्रियां अपने विषयोंका स्पष्ट प्रकाश करती हैं। (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमान द्वारा सर्वज्ञके ज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मोंका विनाश सिद्ध किया है।

सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वं प्रतिबन्धकं कल्मषं तस्मिन्नसत्येव तद्भवति स्पष्टस्वविषयावभासित्वात् निर्दोषचक्षुरादिवदित्यत्र नासिद्धं साधनं प्रमाणसद्भावात्।

पूर्वमें सर्वज्ञके विज्ञानका स्वाभाविकशक्तिसे बिगाडने वाला अपना पापकर्म था, उस पापके ध्वंस होनेपर ही सबको जाननेवाला वह विशद ज्ञान पैदा होता है क्योंकि वह स्पष्टरूपसे अपने विषयोंका प्रकाशक है। जो स्पष्टरूपसे अपने विषयोंके प्रकाशक होते हैं वह अपने प्रतिबन्धकोंके नष्ट होनेपर ही उत्पन्न होते हैं। जैसे कि काच कामल आदि दोषोंसे रहित चक्षु आदिक इन्द्रियां या उन इंद्रियोंसे पैदा हुए घट, पटके प्रत्यक्ष ज्ञान। यों इस अनुमानमें हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि पक्षमें हेतुका रहना सिद्ध करनेवाले अनुमान और आगमप्रमाण विद्यमान हैं।

नन्वामूलं कल्मषस्य क्षये किं प्रमाणमिति चेदिमे ब्रूमहे—

किसीकी यहां शंका है कि हम लोगोंके ज्ञानावरण आदि कर्म कुछ नष्ट भी हो जाते हैं और अनेक कर्म आत्मामें विद्यमान रहते हैं किन्तु आपने सर्वज्ञके ज्ञानावरण आदि कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्षय माना है। अतः कर्मोंके जडसे ही पूरी तरह क्षय हो जानेमें क्या प्रमाण है ? बताओ, ऐसी शंका होनेपर यहां ये हम जैन सहर्ष यह कहते हैं कि:—

क्षीयते क्वचिदामूलं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम्।
समग्रक्षयहेतुत्वाल्लोचने तिमिरादिवत् ॥ ४० ॥

आत्माके स्वाभाविक ज्ञानगुणका आवरण करनेवाला प्रतिबन्धक कर्म (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें मूलसे शिखा तक पूरी तरहसे नष्ट हो जाता है (साध्य) क्योंकि उस आत्मामें ज्ञानावरणकर्मके पूर्णरूपसे क्षय होनेके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र उत्पन्न हो गये हैं (हेतु) जैसे कि अञ्जन, सुरमा, ममीरा आदि कारणोंसे नेत्रमें तमारा, चकाचौंध, कामल, आदि दोष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। (अन्वय दृष्टान्त)

समग्रक्षयहेतुकं हि चक्षुषि तिमिरादि न पुनरुद्भवद्दृष्टं तद्वत्सर्वविदो ज्ञानप्रतिबन्धकमिति।

जैसे कि तमारा, रतौंध आदि दोषोंके सर्वथा नाश करनेवाले कारणोंके उपयोग करनेपर नेत्रमें तमारा आदि दोष फिर पैदा होता हुआ नहीं देखा गया है। उसीप्रकार एकत्ववितर्क अवीचार नामके ध्यानसे सम्पूर्ण घातियोंका क्षय हो जानेपर सर्वज्ञके केवलज्ञानको आवरण करनेवाला कर्म पुनः उत्पन्न नहीं हो पाता है।

ननु क्षयमात्रसिद्धावप्यामूलक्षयोऽस्य न सिद्धयेत् पुनर्नयने तिमिरमुद्भवद्दृष्टमेवेति चेन्न, तदा तस्य समग्रक्षयहेतुत्वाभावात्, समग्रक्षयहेतुकमेव हि तिमिरादिकमिहोदाहरणं नान्यत्, न चानेन हेतोरनैकान्तिकता, तत्र तदभावात्।

मीमांसकोंकी ओरस नेत्रके दृष्टांतको लेकर यहां शंका है कि पूर्वोक्त अनुमानसे कर्मोंका केवल क्षय सिद्ध हुआ। फिर भी जडमूलसे इन कर्मोंका क्षय तो सिद्ध नहीं होता है क्योंकि नेत्रोंमें एकबार तमोरे आदिके नष्ट होजानेपर फिर भी तमारा, रतौंध आदि दोष पैदा होते हुए देखे गये हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञके भी पुनः ज्ञानावरणदोषका बन्ध होना सम्भव है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि संसारी जीवों के ज्ञानावरण आदि कर्मोंका पूर्णरूपसे नष्ट करनेवाला रत्नत्रय उत्पन्न नहीं हुआ है। इस कारण कतिपय कर्मोंका क्षयोपशम होजाता है। पुनः बन्ध भी होजाता है। किंतु सर्वज्ञके कर्मोंका अनन्त काल तक के लिये क्षय करनेवाले कारण पूर्ण संवर और निर्जरा होगये हैं। इसी प्रकार नेत्रों में एक बार उपशम होनेपर भी पुनः तमारा, रतौंध दोष पैदा हो जाता है। वहां भी उस दोषका पूर्णरूपसे क्षय करनेके कारण अञ्जन आदिकक-

उस समय सेवन नहीं किया है। हमने यहां सम्पूर्णरूपसे दोषोंके नाश करनेवाले कारणोंसे सर्वथा नष्ट हो चुके तमारा आदि दोषोंको ही दृष्टान्त किया है। कुछ देरके लिये दब गये अन्य रतौंध आदिको दृष्टान्त नहीं बनाया है। इस कारण कुछ दिनके लिये उपशमको प्राप्त हुये इस तमारा दोषसे हमारे हेतुका व्यभिचार नहीं है। क्योंकि वहां दबे हुए कामल आदि नेत्रदोषों में " सम्पूर्ण रूपसे क्षय करनेका कारण विद्यमान है " वह हेतु रहता नहीं है। फिर व्यभिचारदोष कैसा ?।

किं पुनः केवलस्य प्रतिबन्धकं यस्यात्यन्तपरिक्षयः क्वचित्साध्यत इति नाक्षेप्तव्यम्।

यहां किसीका उपहास करते हुए आक्षेप है कि नेत्रके दृष्टान्तसे दोषोंका सम्पूर्ण रूपसे क्षय हो जाना मान भी लिया जाय, फिर भी आप यह बतलाइये कि उन दोषोंके केवलज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाला दोष कौन है ? जिसका कि अनन्त कालतक के लिये पूर्ण रूपसे नष्ट होजाना किसी एक आत्मामें सिद्ध किया जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि—इस प्रकार आक्षेप नहीं करना चाहिये। कारण कि—

मोहो ज्ञानदृगावृत्यन्तरायाः प्रतिबन्धकाः।
केवलस्य हि वक्ष्यन्ते तद्भावे तदनुद्भवात् ॥ ४१ ॥

मोहनीय, तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, ये पौद्गलिक कर्म केवलज्ञानके निश्चय करके प्रतिबन्धक हैं। मूलसूत्रकार इस बातको आगे दशमें अध्याय में कहेंगे उन कर्मोंके होने पर वह केवलज्ञान नहीं पैदा होता है। यहां अन्वयव्याप्ति है। कि—

यद्भावे नियमेन यस्यानुद्भवस्तत्तस्य प्रतिबन्धकं यथा तिमिरं नेत्रविज्ञानस्य, मोहादिभावोऽस्मदादेश्चक्षुर्ज्ञानानुद्भवश्च केवलस्येति मोहादयस्तत्प्रतिबन्धकाः प्रवक्ष्यन्ते, ततो न धर्मिणोऽसिद्धिः।

जिसके विद्यमान रहनेपर जो नियमसे पैदा नहीं होता है, वह उसका प्रतिबन्धक माना जाता है। जैसे कि नेत्रोंके द्वारा ठीक ठीक विज्ञान होनेका प्रतिबन्ध करनेवाले तमारा, कामल आदि दोष हैं। हम आदि लोगोंके मोहनीय कर्म और ज्ञानावरण आदि कर्म विद्यमान हैं। जैसे तिमिरादि दोषके विद्यमान होनेपर पूरा चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं पैदा होता है। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। इस हेतुसे मोहादिक कर्म उस केवलज्ञानके आवरण करनेवाले सिद्ध होते हैं। केवलज्ञानके बिगाडने वाले कर्मोंका स्पष्टरूपसे निरूपण अन्तिम अध्यायमें करेंगे, इस कारण ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्म (पक्ष) किसी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आत्मा में मूलसे नष्ट हो जाते हैं (साध्य) पूर्णरूपसे क्षयका कारण विद्यमान होनेसे (हेतु) इस अनुमानमें प्रतिबन्धक कर्म–रूपी धर्मी (पक्ष) की असिद्धि नहीं हुयी ।

कः पुनरेतत्क्षयहेतुः समग्रो यद्भावाद्धेतुसिद्धिरिति चेत् ।

फिर यहां प्रश्न है कि मोहनीय आदि कर्मोंके पूर्णरूपसे क्षयका कारण कौन है ? जिसके विद्यमान होनेसे जैनोंका हेतु सिद्ध कहा जावे बताओ, यदि ऐसा कहोगे तो आचार्य उत्तर देते हैं कि–

तेषां प्रक्षयहेतू च पूर्णे संवरनिर्जरे ।
ते तपोतिशयात्साधोः कस्यचिद्भवतो ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

उन मोहनीय आदि कर्मोंके वर्तमान और भविष्यके भी सम्बन्धको रोकते हुए बढिया क्षय करनेके कारण वे पूर्ण संवर और निर्जरा किसी किसी निकटसिद्ध साधुके उत्कृष्ट तपके माहात्म्यसे निश्चय कर पैदा होजाते हैं ।

तपो ह्यनागतौघप्रवर्तननिरोधनम्।
तज्जन्महेतुसंघातप्रतिपक्षयतो यथा ॥ ४३ ॥
भविष्यत्कालकूटादिविकारौघनिरोधनम् ।
मंत्रध्यानविधानादि स्फुटं लोके प्रतीयते ॥ ४४ ॥

जिस तपके द्वारा संवर और निर्जरा दोनों हो जाते हैं, उस तपके उत्पन्न होनेके कारण तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र हैं । बहिरंगमें दीक्षा, तपस्या, कायक्लेश आदि भी हैं । वह तप ही भविष्यमें आनेवाले पापोंके समुदायकी प्रवृत्तिको रोकता रहता है तथा वर्तमानकालमें भी उस पापका सम्बन्ध नहीं होने देता है । कर्मोंके उत्पन्न होनेका कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगोंका समुदाय है । उसको सम्यग्दर्शन आदि सामग्रीसे नाश करता हुआ तप किसी साधुके उत्पन्न होजाता है । जैसे कि यह बात लोकमें स्पष्टरूपसे प्रतीत होरही है कि काटे हुए या जहर खानेवाले मनुष्यके शरीरमें विषका प्रभाव मन्त्रसे और ध्यानकी विधि आदिसे वर्तमानमें भी नष्ट कर दिया जाता है और भविष्यकालमें भी उस तीक्ष्ण विष या बावले कुत्तेके काटने, और पागल शृगालके काटनेके विकारोंके समुदाय रोक दिये जाते हैं । इसी प्रकार तपके द्वारा वर्तमान और भविष्यके लिये कर्मबन्ध नष्ट कर दिये जाते हैं ।

नृणामप्यघसम्बन्धो रागद्वेषादिहेतुकः
दुःखादिफलहेतुत्वादतिभुक्तिविषादिवत् ॥ ४५ ॥

वर्तमान संसारी जीवोंके भी राग, द्वेष, अज्ञान, प्रमाद, आदि कारणोंसे पापोंका सम्बन्ध अवश्य है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह दुःख, अज्ञान, उत्साहका न होना, परतन्त्र होना, आदि फलोंका कारण है (हेतु) जैसे कि भूखसे अत्यधिक खानेपर या विष, कच्चा पारा आदि भक्षण करनेसे उस पुद्गलके सम्बन्ध द्वारा आत्मामें नाना क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं। (अन्वयदृष्टान्त) उसी प्रकार संसारीमनुष्योंके विचित्र प्रकारके आधि, व्याधि, उपाधिरूप अनेक दुःख देखे जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि आत्माके विभावभावोंका कारण विजातीय पुद्गल पापद्रव्यका सम्बन्ध हो रहा है।

तद्विरोधि विरागादिरूपं तप इहोच्यते।
तदसिद्धावतज्जन्मकारणप्रतिपक्षता ॥ ४६ ॥

जिन रागद्वेष, अज्ञान आदि विभावोंसे कर्मोंका बन्ध होता है, उन रागादिकोंसे विरोध करनेवाले वैराग्य, आत्मज्ञान, भेदविज्ञान, स्वाध्याय, कायक्लेश, धर्मध्यान आदि स्वरूप यहां प्रकरणमें तप कहा जाता है। क्योंकि धर्मध्यान, वैराग्य आदि तपके सिद्ध न होनेपर उन पापोंकी उत्पत्तिके कारण हो रहे अविरति, कषाय आदिका विरोध करना नहीं बनता है। इसकारण वीतराग विज्ञान आदि ही ज्ञानावरण आदि पौद्गलिककर्मोंके और रागद्वेष आदि भावकर्मोंके विरोधी सिद्ध हो जाते हैं।

तदा दुःखफलं कर्म संचितं प्रतिहन्यते
कायक्लेशादिरूपेण तपसा तत्सजातिना ॥ ४७ ॥
स्वाध्यायादिस्वभावेन परप्रशममूर्तिना।
बद्धं सातादिकृत्कर्म शक्रादिसुखजातिना ॥ ४८ ॥

जिस समय मुनिमहाराजके उत्कृष्ट तप हो जाता है उस समय दुःख, रोग, संक्लेश हैं फल जिनके ऐसे पूर्व जन्ममें इकट्ठे किये गये कर्म तो प्रतिपक्ष हो रहे कायक्लेश, प्रायश्चित्त उपवास, व्युत्सर्ग आदि तपोंके द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। और इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदिके सुखोंको प्राप्त करानेवाले या उसी जातिके दूसरे नीरोगता, सत्कुलीनता, यशस्विता, राजलोकमान्यता, जयशालिनी विद्वत्ता आदि लौकिक सुखोंको देनेवाले सातावेदनीय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति, सुभग, आदि लौकिक सुखसाताको करनेवाले पुण्यकर्मको आत्मामें बंधे हुए हैं। उन शुभकर्मोंका विनाश तो परम उत्कृष्ट शान्तिकी मूर्ति स्वरूप स्वाध्याय, शुक्लध्यान, आदि आत्माके स्वाभाविक परिणामरूप तपसे हो जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

केवलप्रतिबन्धकस्यानागतस्य संचितस्य वात्यन्तिकक्षयहेतु समग्रौ संवरनिर्जरे तपोऽतिशयात् कस्यचिदवश्यं भवत एवेति प्रमाणसिद्धं तस्य समग्रक्षयहेतुत्वसाधनं यतः-

केवलज्ञानका प्रतिबन्ध करनेवाले भविष्यके कर्म और पूर्व जन्मके एकत्रित कर्मोंका अत्यंतरूपसे क्षय करनेके कारण पूर्ण संवर तथा पूर्ण निर्जरा किसी न किसी विशुद्ध साधुके तपके माहात्म्यसे अवश्य उत्पन्न हो जाते ही हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त शंकाकारको मोहनीय आदि समग्र कर्मोंके पूर्णरूपसे क्षयके हेतुका विद्यमान रहनारूपी ज्ञापक साधन-प्रमाणोंसे सिद्ध कर दिया गया है, जिस कारणसे कि कर्मोंके क्षय करनेवाला हेतु सिद्ध होगया।

ततो निःशेषतत्त्वार्थवेदी प्रक्षीणकल्मषः।
श्रेयोमार्गस्य नेतास्ति स संस्तुत्यस्तदर्थिभिः॥ ४९॥

इस कारणसे यह भी सिद्ध हो गया कि जिसके सम्पूर्ण पाप प्रकृष्टपनेसे ध्वस्त हो गये हैं वह पुरुष ही सम्पूर्ण पदार्थोंके जाननेका स्वभाववाला है और वही मोक्षमार्गका प्राप्त करानेवाला पथप्रदर्शक नायक है। तथा वही उस मोक्षके अभिलाषी भव्यजीवों करके अच्छा स्तवन करने योग्य है। यहां तक दूसरी वार्तिकके संदर्भका उपसंहार हुआ।

ननु निःशेषतत्त्वार्थवेदित्वे प्रक्षीणकल्मषत्वे च चारित्राख्ये सम्यग्दर्शनाविनाभाविनि सिद्धेऽपि भगवतः शरीरित्वेनावस्थानासंभवान्न श्रेयोमार्गोपदेशित्वं, तथापि तदवस्थानेशरीरित्वाभावस्य रत्नत्रयनिबन्धनत्वाविरोधात् तद्भावेऽप्यभावात्। कारणान्तरापेक्षायां न रत्नत्रयमेव संसारक्षयनिमित्तमिति कश्चित्।

यहां किसी की शंका है कि स्याद्वादियोंके कथनानुसार जिनेन्द्र भगवान्के सम्यग्दर्शन गुणके साथ व्याप्ति रखनेवाले सम्पूर्ण पदार्थोंका जानलेनापन तथा चारित्रमोहनीय आदि चार घातिकर्मोंका बढिया क्षय होजानारूप चारित्रनामके गुणके सिद्ध होजाने पर भी रत्नत्रयवाले भगवान्का शरीरसहित होकर ठहरना सम्भव नहीं है, क्योंकि तीनों गुणोंके पैदा होजानेपर वे शीघ्र ही द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे विमुक्त होकर सिद्धलोकको प्राप्त हो जावेंगे। अतः मोक्षमार्गका उपदेशदायकपन नहीं बन सकेगा, फिर भी रत्नत्रय हो जानेपर आप उन जिनेन्द्रभगवान्का संसारमें उपदेश देनेके लिये स्थूलशरीर-सहित स्थित रहना मानोगे तो आत्माके शरीरसहितपनेके अभावरूप मोक्षमें रत्नत्रयकी कारणताका विरोध होगा अर्थात् रत्नत्रयसे आत्माके स्थूल, सूक्ष्म शरीरोंका अभाव न हो सका, क्योंकि रत्नत्रयके उत्पन्न होनेपर भी उपदेशार्थ ठहरना पडा शरीरका अभाव नहीं हुआ है। यदि शरीररूप उपाधिके नाश करनेके लिये रत्नत्रयके अतिरिक्त दूसरे कारणों-

की अपेक्षा करोगे तो पूर्ण रत्नत्रयही ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म, या अज्ञान, क्रोध, राग आदि भावकर्म, और शरीर, इन्द्रिय, आदि नोकर्मस्वरूप संसारके क्षयका कारण है। यह सिद्धान्तवचन न बन सकेगा। कारणसे कार्य होनाही चाहिये। कार्यकारणभाव कोई बच्चोंका खेल नहीं है, चाहे जहां कार्य करलिया और कहीं कार्य न होसका। इस प्रकार किसी एक नैयायिक मतके अनुसार चलनेवाले वादीका कुचोद्य है।

सोऽपि न विपश्चित्, यस्मात्–

ग्रन्थकार कहते हैं कि वह शंकाकार भी विचारशाली पण्डित नहीं है। जिस कारणसे कि—

तस्य दर्शनशुद्ध्यादिभावनोपात्तमूर्तिना।
पुण्यतीर्थंकरत्वेन नाम्ना संपादितश्रियः॥ ५०॥
स्थितस्य च चिरं स्वायुर्विशेषवशवर्तिनः।
श्रेयोमार्गोपदेशित्वं कथंचिन्न विरुध्यते॥ ५१॥

उस जिनेन्द्रदेवने पूर्वजन्ममें या इस जन्ममें दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके भावनेसे अत्यंत पुण्यशालिनी पौद्गलिक नामकर्मकी तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध किया है तथा उस तीर्थंकरप्रकृतिके साथ नियमरूपसे होनेवाली अनेक पुण्यप्रकृतियोंका ग्रहण किया है। उन पुण्यप्रकृतियोंके उदय आनेपर सम्पादित हुई समवसरण आदि बहिरंगलक्ष्मीको प्राप्त करनेवाले जिनेंद्रदेव उत्कृष्टपनेसे कुछ अन्तर्मुहूर्तोंसे अधिक पौनेनौ वर्ष कमती एक कोटी पूर्ववर्ष और जघन्यपनेसे कतिपय अन्तर्मुहूर्त अपने विशेष आयुष्यकर्मके अधीन होकर वर्ताव करनेवाले भगवान् बहुत देर तक या बहुत वर्षोंतक संसारमें ठहरते हैं। यों चार अघातिया कर्मोंके अधीन संसारमें स्थित रहनेवाले अनन्तचतुष्टयधारी भगवान्के तीर्थंकर प्रकृतिके उदय होनेपर मोक्षमार्गका उपदेश देनापन किसी भी तरहसे विरुद्ध नहीं है।

तस्य निःशेषतत्त्वार्थवेदिनः समुद्भूतरत्नत्रयस्यापि शरीरित्वेनावस्थानं स्वायुर्विशेषवशवर्तित्वात्, न हि तदायुरपवर्तनीयं येनोपक्रमवशात् क्षीयेत, तदक्षये च तदविनाभाविनामादिकर्मत्रयोदयोऽपि तस्यावतिष्ठते, ततः स्थितस्य भगवतः श्रेयोमार्गोपदेशित्वं कथमपि न विरुध्यते।

सम्पूर्ण तत्त्वार्थके जाननेवाले उस प्रसिद्ध जिनेन्द्र भगवान्के रत्नत्रय भले ही प्रगट हो गये हैं फिर भी अपनी विशेष आयुके अधीन होनेसे जिनेन्द्र देवका उपदेशके उपयोगी शरीरसे सहित

होकर संसारमें ठहर जाना बन जाता है। तीर्थंकर भगवान्‌की आयु विष, वेदना, रक्तक्षय, आदि कारणोंसे मध्यमें ही छिन्न होनेके योग्य है नहीं, जिससे कि उपक्रमके अधीन आयुः कर्मकी उदीरणा होकर औपक्रमिकनिर्जरा हो जाती। अर्थात् साधारण कर्मभूमियां मनुष्य तिर्यञ्चोंकी या गुरुदत्त, पाण्डव आदि सामान्यकेवलियों या अन्तकृत केवलियोंकी भी आयुका अपवर्त्तन हो जाता है किंतु तीर्थंकरोंकी आयुका मध्यमें किसी कारणसे क्षय नहीं हो पाता है। वे भुज्यमान पूर्ण आयुष्यको भोगते हैं और जब उस आयुष्यकर्मका क्षय नहीं हुआ तो उससे अविनाभाव रखनेवाले नाम, गोत्र, तथा वेदनीय इन तीन कर्मोंका उदय भी तीर्थङ्कर जिनेंद्रदेवके विद्यमान रहता है, तिस कारण चार अघातिया कर्मोंके वशवर्ती भगवान् संसारमें ठरहते हैं और अपने अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, तीर्थंकरत्व, स्वरनामकर्म तथा मन, वचन, कायके योग तथा भव्यजीवोंके पुण्यविशेषको निमित्त पाकर मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। यह बात कैसे भी विरुद्ध नहीं पडती है।

कुतस्तर्हि तस्यायुःक्षयः शेषाघातिकर्मक्षयश्च स्याद्यतो मुक्तिरिति चेत्–

यहां शंकाकार पूंछता है कि तो फिर उन भगवान्‌के आयुकर्मका क्षय तथा बाकी बचे हुए वेदनीय, गोत्र और नामकर्मका क्षय किस कारणसे होगा ? बताओ जिससे कि सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेपर भगवान् को मोक्ष होसके, ऐसा कहनेपर तो आचार्य उत्तर देते हैं। सुनिये।

फलोपभोगादायुषो निर्जरोपवर्णनादघातिकर्मत्रयस्य च शेषस्याधिकास्थितेर्दण्डकपाटादिकरणविशेषादपकर्षणादिकर्मविशेषाद्वेति ब्रूमः।

आयुष्य कर्मकी निर्जरा तो संसारमें उतने दिनतक ठहरना रूप उसके फलके उपभोग करनेसे ही मानी गयी है और बाकीके तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति यदि आयुकर्मके बराबर है, तब तो आयुकर्मके साथ साथ उन तीनों कर्मोंका भी फल देकर क्षय होजाता है। किन्तु आयुसे वेदनीय आदि कर्मोंकी स्थिति यदि अधिक है तो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणरूप विशेष क्रिया करनेसे या आत्मीयपरिणामोंसे होनेवाले अपकर्षणविधान आदि क्रियाविशेषसे निर्जरा कर दी जाती है ऐसा हम जैन साटोप कहते हैं। भावार्थ— जैसे कि नींद कम आनेपर जंभाईसे शरीरका आलस्य कम होजाता है, जंभाई अकडनके लिये हम चलाकर प्रयत्न नहीं करते हैं। उसी प्रकार विना इच्छा, प्रयत्नके जिनेन्द्र देवके आयुकर्मके बराबर शेष तीन कर्मोंकी स्थिति करनेके लिये केवलिसमुद्घात होता है। उसमें सात समय लगते हैं। प्रथम समयमें आत्माके प्रदेश दण्डके समान हो जाते हैं। पूर्वमुख या उत्तरमुख पद्मासन बैठे हुए या खडे हुए केवलीके शरीरविन्यासके अनुसार शरीरबराबर मोटी सात राजू लम्बी आत्मा हो जाती है। दूसरे समयमें वे प्रदेश किवाडके आकार होकर सात राजू लम्बे, सात राजू चौडे और शरीरकी मोटाईके अनुसार मोटे होकर

फैल जाते हैं। तीसरे समयमें वातवलयोंको छोडकर सर्व लोकमें वे प्रदेश व्याप्त हो जाते हैं और चौथे समयमें वातवलय भी भर जाते हैं इसको लोकपूरण कहते हैं। आत्मा लोकाकाशके बराबर हो जाता है, यह प्रसारणविधि है। बादमें पूर्वके समान संकोचन होता है। पांचवे समयमें प्रतर और छट्ठेमें पुनः कपाट फिर दण्डके अनुसार प्रदेशरचना होकर आठवें समयमें पूर्वशरीरके अनुसार आत्मा हो जाता है। इस केवलिसमुद्घातसे तीन अघाती कर्मोंकी स्थिति आयु के बराबर हो जाती है। इसके कई अन्य भी लौकिक दृष्टांत हैं।

न चैवं रत्नत्रयहेतुता मुक्तेर्व्याहन्यते निश्चयनयादयोगकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य मुक्तेर्हेतुत्वव्यवस्थिते :।

कोई आक्षेप करे कि इस प्रकार माननेपर तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको मोक्षकी कारणताका व्याघात होता है क्योंकि चौथेसे सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके विद्यमान होनेपर करणत्रय करके अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन हो जानेपर पुनः करणत्रयसे दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय हो जानेसे क्षायिकसम्यक्त्व हो चुका है, और दशमे गुणस्थानके अंतमें चारित्रमोहनीयका अविकलध्वंस हो जानेपर क्षायिक चारित्रगुण भी बारहवें गुणस्थानके आदि समयमें प्रकट हो चुका है, तथा बारहवें गुणस्थानके अंतमें ज्ञानावरणके नाश हो जानेसे तेरहवेंकी आदिमें क्षायिक केवलज्ञान भी उत्पन्न हो गया है, फिर क्या कारण है कि रत्नत्रय होनेपर भी मोक्ष नहीं होपाती है ? ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि व्यवहारनयसे यद्यपि तीनों रत्न पूर्ण हो चुके हैं, फिर भी चारित्रगुणमें अघातिकर्मोंके निमित्तसे आनुषंगिक दोष आ जाते हैं। परमावगाढ सम्यग्दर्शन चौदहवें गुणस्थानके अंतमें माना है तथा पूरा चारित्र व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान भी चौदहवेंके अंतसमयमें माना है। निश्चयनयसे चौदहवें गुणस्थानके अंतसमयमें योगरहित केवलज्ञानीके होनेवाले रत्नत्रयको मोक्षका कारणपना व्यवस्थित किया गया है। तब वे एक क्षण भी संसारमें नहीं ठहरते हैं। चौदहवेंके अंतमें रत्नत्रयकी पूर्णता कर उसके उत्तरक्षणमें स्वाभाविक ऋजुगतिसे ऊर्ध्व गमन कर लोकके सबसे ऊपर तनुवातवलयमें स्थित पैतालीस लाख योजन लम्बे चौडे और पांचसौ पच्चीस धनुष ऊंचे थालीके आकार गोल सिद्धलोकमें वे अनंत काल तकके लिये विराजमान हो जाते हैं।

ननु स्थितस्याप्यमोहस्य मोहविशेषात्मकविवक्षानुपपत्तेः कुतः श्रेयोमार्गवचनप्रवृत्तिरिति च न मन्तव्यम्। तीर्थकरत्वनामकर्मणा पुण्यातिशयेन तस्यागमलक्षणतीर्थकरत्वश्रियः सम्पादनात्तीर्थकरत्वनामकर्म तु दर्शनविशुद्ध्यादिभावनाबलभावि विभावयिष्यते।

यहां शंका है कि जिनेन्द्र भगवान् आयुकर्मके अधीन होकर संसारमें स्थित रहते हैं यह तो ठीक है किंतु जब भगवान्के मोहनीय कर्मका नाश पहिले ही होगया है तो विशेष मोहनीय

कर्मके उदयसे होनेवाली बोलनेकी इच्छा तो मोहरहितभगवान्के बन नहीं सकती है, फिर कैसे इच्छाके विना भगवान्के मोक्षमार्गके प्रतिपादन करनेवाले वचनोंकी प्रवृत्ति होसकेगी ? बताओ। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं मानना चाहिये, क्योंकि तीर्थकरत्वनामका नामकर्म अत्यंत चमत्कारी पुण्य है। उस बहिरंगकारणके द्वारा उस अनंतचतुष्टयधारी भगवान्ने द्वादशांग आगमरूप तीर्थ बनानेकी लक्ष्मीको प्राप्त किया है। अर्थात् अनेक दुःखोंसे निकालकर भव्यजीवोंको मोक्षधाममें पहुंचानेके लिये श्रेष्ठ आगम द्वादशांग वाणीरूपी घाट संसारसमुद्रसे पार होनेके लिये बना दिया है। वह आगमरूपी घाटके बनानेमें निमित्त कारण तीर्थंकरत्वसंज्ञावाला नामकर्म तो दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंके बलसे भव्यजीवोंके चौथे गुणस्थानसे लेकर आठवेंके छट्ठे भाग तक बधंको प्राप्त हो जाता है। इस बातका भविष्यग्रंथमें अच्छी तरहसे विचार कर निर्णय कर देवेंगे।

न च मोहवति विवक्षानान्तरीयकत्वं वचनप्रवृत्तेरुपलभ्य प्रक्षीणमोहेऽपि तस्य तत्पूर्वकत्वसाधनं श्रेयः, शरीरित्वादेः पूर्वसर्वज्ञत्वादिसाधनाद्युपगात्, वचोविवक्षानान्तरीयकत्वासिद्धेश्चेति निरवद्यं सम्यग्दर्शनादित्रयहेतुकमुक्तिवादिनां श्रेयोमार्गोपदेशित्वम्।

मोहयुक्त संसारी जीवोंमें बोलनेकी इच्छाके विना न होनेवाली अर्थात् बोलनेकी इच्छापूर्वक ही होनेवाली वचनप्रवृत्तिको देखकर मोहरहित जिनेन्द्रदेवके भी उन वचनोंका विवक्षापूर्वकपन सिद्ध करना अच्छा नहीं है। अन्यथा यों तो केवलज्ञानीके शरीरधारीपन, वक्तापन आदि हेतुओंसे पूर्वके समान असर्वज्ञता भी सिद्ध हो जावेगी, " अर्हन् असर्वज्ञः शरीरधारित्वात्, वक्तृत्वात्, अध्यापकवत्, " मिट्टीका विकार होनेसे घटके समान सर्पकी वामी भी कुम्हारकी बनाई हुयी नहीं सिद्ध होती है। " वल्मीकं कुम्भकारकृतं मृद्विकारत्वाद् घटवत्, " उसी प्रकार सामान्य संसारीजीवोंके वचनोंमें बोलनेकी इच्छाको कारण देखकर सर्वज्ञदेवके वचनोंके अव्यवहित पूर्वमें भी बोलनेकी इच्छाका सिद्ध करना ठीक नहीं है। तथा वचनका विवक्षाके साथ अविनाभावीपन सिद्ध भी नहीं है। क्योंकि सोते समय और मूर्च्छा आदिमें विवक्षाके विना भी वचन बोल दिये जाते हैं। कभी कभी बोलनेकी इच्छा अन्य होती है और मुखसे दूसरा ही शब्द निकल जाता है। ऐसे गोत्रस्खलनमें इच्छाके नहीं होते हुए भी शब्दप्रवृत्ति हो जाती है, " न अन्तरे भवतीति नान्तरीयकः " इसका अर्थ अविनाभाव होता है। विवक्षाका और वचनप्रवृत्तिका अविनाभावसम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अब तक निर्दोष रूपसे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनको मोक्षका कारण माननेवाले स्याद्वादियोंके मतमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके स्वांशोंमें पूर्णता होनेपर भी तथा चारित्रके अंशोंमें पूर्णता होनेके पहिले जिनेन्द्रदेवके मोक्षमार्गका उपदेशकपन बन जाता है।

ज्ञानमात्रात्तु यो नाम मुक्तिमभ्येति कश्चन ।
तस्य तन्न ततः पूर्वमज्ञत्वात्पामरादिवत् ॥ ५२ ॥
नापि पश्चादवस्थानाभावाद्वाग्वृत्त्ययोगतः ।
आकाशस्येव मुक्तस्य कोपदेशप्रवर्तनम् ॥ ५३ ॥

जो कोई कपिलमतानुयायी भला तीनको मुक्तिका कारण न मानकर अकेले ज्ञानसे ही मोक्ष होना स्वीकार करता है, उसके मतमें वह मोक्षमार्गका उपदेश कैसे भी नहीं बन सकता है। क्योंकि उस पूर्णज्ञान उत्पन्न होनेके प्रथम तो वह अज्ञानी है। अतः गंवार, छोकरा, आदिके समान मोक्षका उपदेश नहीं दे सकता है और पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे वह शीघ्र ही मोक्षमें चला जावेगा। संसारमें ठहरता नहीं है क्योंकि, कारणसे तत्काल कार्यका होना आवश्यक (जरूरी) है " कारण-विलम्बाद्धि कार्याणि विलम्बन्ते " कारणोंकी देरीसे कार्य उपजनेमें देर हो सकती है अन्यथा नहीं। इस कारण उसके वचनोंकी प्रवृत्तिका होना सम्भव नहीं है। जब पूर्णज्ञान होनेपर उत्तरक्षणमें मोक्ष हो जाती है तो शरीर, कण्ठ, तालु आदिसे रहित मुक्त आत्माके मोक्षमार्गके उपदेश देनेमें प्रवृत्ति करना हो सकता है ? जैसे कि आकाश उपदेश नहीं दे सकता है। वैसे ही मुक्त आत्मा भी शरीर आदि कारणोंके विना उपदेशरूप वचन नहीं बोल सकता है। यों मुक्तजीवकी उपदेश देनेमें प्रवृत्ति कहां हुई ?

साक्षादशेषतत्त्वज्ञानात्पूर्वमागमज्ञानबलाद्योगिनः श्रेयोमार्गोपदेशित्वमविरुद्धमज्ञत्वासिद्धेरिति न मन्तव्यम्, सर्वज्ञकल्पनानर्थक्यात्, परमतानुसरणप्रसक्तेश्च ।

यदि सांख्यमतानुयायी यह कहें कि सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रत्यक्षज्ञानसे पहिले योगीको पूर्ण शास्त्रका ज्ञान हो जाता है, उस शास्त्रज्ञानके बलसे योगीके मोक्षमार्गका उपदेश देना बन जावेगा, इसमें कोई विरोध नहीं है। जब उसके पूर्ण श्रुतज्ञान है तो गंवार, या छोकरोंके समान अज्ञानीपन भी सिद्ध नहीं है। बादमें पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान होनेपर वह साधु तत्काल मोक्षको चला जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कापिलोंका मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जब श्रुतज्ञानसे ही मोक्ष आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान हो जावेगा तो सर्वज्ञकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। आगमके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंका उपदेश देना माननेपर आप सांख्यको दूसरे मीमांसकमतके अनुसरण (नकल करने) का प्रसंग आ जावेगा। जो कि आपको अनिष्ट है। प्रत्यक्ष किये विना शास्त्रोंमें प्रमेय लिखा नहीं जा सकता वचनरूप आगम कोई नित्य नहीं है।

योगिज्ञानसमकालं तस्य तदित्यप्यसारं तत्त्वज्ञानपूर्वकत्वविरोधात्तदुपदेशस्य तत्त्वज्ञानात्पश्चात्तु मुक्तेः खस्येव वाग्वृत्त्यघटनात् शरीरित्वेनावस्थानासंभवाद्दूरे सन्मार्गोपदेशः ।

उक्त दोषके परिहारकी इच्छासे आप सांख्य यदि यह कहोगे कि पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानके समान कालमें ही वह योगी उस मोक्षमार्गका उपदेश देता है। यह भी आपका विचार साररहित है क्योंकि वह मोक्षमार्गका उपदेश सर्वज्ञतापूर्वक होता है। यदि आप सर्वज्ञता उत्पन्न होनेके ठीक उसी समय मोक्षका उपदेश मानेंगे तो सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रत्यक्षज्ञान होनेपर पश्चात् (बादमें) मोक्षका उपदेश हुआ करता है इस सिद्धान्तका विरोध हो जावेगा, कार्यकारणभाव पूर्वापर-क्षणवर्ती पदार्थोंमें होता है। टेडे और सीधे गौके सींग समानसमयवालों में नहीं होता है। सर्वज्ञ ज्ञानके पीछे अव्यवहित उत्तर क्षणमें तो मुक्त होनेवाला है। क्या एक ही समयमें मोक्षमार्गका उपदेश दे देवेंगे ऐसे उपदेशको सुननेके लिये कौन कहांसे आवेगा, और एक समयमें उपदेश भी क्या हो सकेगा ? तथा प्रत्यक्ष तत्त्वज्ञानके पीछे शीघ्र ही मुक्ति हो जावेगी तो आकाशके समान शरीररहित मुक्तजीवके वचनोंका प्रवर्तन होना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि शरीरधारीपनसे अवस्थित रहना जब असम्भव है तो श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देना तो बहुत दूरकी बात है।

संस्कारस्याक्षयात्तस्य यद्यवस्थानमिष्यते।
तत्क्षये कारणं वाच्यं तत्त्वज्ञानात्परं त्वया ॥ ५४ ॥

यदि आप यह कहें कि जैसे जैनलोग केवलज्ञान होने पर भी आयुकर्मके अधीन होरहे सर्वज्ञकी संसारमें स्थिति मानते हैं। उसी प्रकार हम भी पूर्वके आयु नामक संस्कार का क्षय न होनेसे उस कपिल ऋषिका संसारमें स्थित रहना और स्थित होकर सज्जनोंको मोक्षमार्गका उपदेश देना इष्ट करते हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसी दशामें तुमको उस संस्कारके क्षय करनेमें तत्त्वज्ञानसे निराला कोई अन्य कारण कहना पडेगा, तभी तो मोक्ष हो सकेगा।

न हि तत्त्वज्ञानमेव संस्कारक्षये कारणमवस्थानविरोधस्य तदवस्थत्वात्।

तत्त्वज्ञानको ही आयु नामक संस्कारके क्षयका कारण आप सांख्य नहीं मान सकते हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञान नामक कारण होनेपर उससे अतिशीघ्र आयुका भी नाश हो जावेगा, तब तो संसारमें कुछ दिन ठहरनेका फिर भी विरोध बना ही रहेगा अर्थात् उपदेश देनेके लिये वे संसारमें नहीं ठहर सकेंगे।

संस्कारस्यायुराख्यस्य परिक्षयनिबन्धनम्।
धर्ममेव समाधिः स्यादिति केचित्प्रचक्षते ॥ ५५ ॥
विज्ञानात्सोऽपि यद्यन्यः प्रतिज्ञाव्याहतिस्तदा।
स चारित्रविशेषो हि मुक्तेर्मार्गः स्थितो भवेत् ॥ ५६ ॥

" यहां चित्तका एक अर्थमें कुछ देरतक स्थिर रहनारूप समाधि नामका धर्म ही आयु संज्ञक संस्कारके पूर्ण क्षयका कारण है " ऐसा कोई सांख्य विद्वान् स्पष्टरूपसे कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह समाधि यदि-प्रकृति पुरुष भेदज्ञान-स्वरूप तत्त्वज्ञानसे भिन्न है, तब तो आपकी अकेले तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होनेकी प्रतिज्ञाका व्याघात होता है क्योंकि एक तो तत्त्वोंका प्रत्यक्षज्ञान और दूसरा वही समाधिरूप विशेष चारित्र इन दोनोंको मोक्षका मार्गपन आपके कथनानुसार स्थित हो सका है।

तत्त्वज्ञानादन्यत एव संप्रज्ञातयोगात्संस्कारक्षये मुक्तिसिद्धिस्तत्त्वज्ञानान्मुक्तिरिति प्रतिज्ञा हीयते, समाधिविशेषश्च चारित्रविशेषः स्याद्वादिनां मुक्तिमार्गो व्यवस्थितः स्यात्।

सांख्य लोगोंने दो प्रकारके योग माने हैं। एक संप्रज्ञात, दूसरा असंप्रज्ञात। पूर्णज्ञान-कालमें साधुके संप्रज्ञातयोग होता है। इच्छापूर्वक विषयोंका ज्ञान होता रहता है। तब तक आयु वर्तमान रहती है और बादमें होनेवाले निर्बीज समाधिरूप असंप्रज्ञातयोगसे आयु का भी क्षय हो जाता है उस समय मोक्ष हो जाती है। यदि सांख्य लोग तत्त्वज्ञानसे भिन्न मानी गयी संप्रज्ञात समाधिसे संस्कारका क्षय होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति मानेंगे तो ज्ञानसे ही मोक्ष होती है, यह उनकी एकान्तप्रतिज्ञा नष्ट होती है। हां, स्याद्वादियोंने व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामके ध्यानविशेषको पूर्ण चारित्र माना है। आपको भी उस प्रकार मुक्तिका मार्ग व्यवस्थित करना पडा। सम्यग्दर्शन तो ज्ञानका सहभावी ही है, तथाच सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको ही मोक्षमार्गपना निर्णीत हो सकता है।

ज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति चेन्मतम्।
तस्य प्रधानधर्मत्वे निवृत्तिस्तत्क्षयाद्यदि ॥ ५७ ॥
तदा सोऽपे कुतो ज्ञानादुक्तदोषानुषंगतः।
समाध्यन्तरतश्चेन्न तुल्यपर्यनुयोगतः ॥ ५८ ॥
तस्य पुंसः स्वरूपत्वे प्रगेव स्यात्परिक्षयः।
संस्कारस्यास्य नित्यत्वान्न कदाचिदसंभवः ॥ ५९ ॥

यदि आप तत्त्वज्ञानसे समाधिको भिन्न नहीं मानकर बहुत देर तक एकसे स्थिर रहनेवाले ज्ञानको ही समाधि मानोगे तो हम पूंछते हैं कि वह स्थिर हुआ ज्ञान क्या सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्यअवस्थारूप प्रकृतिका धर्म है? बताओ। यदि उस प्रकृतिके विकारसे आयु नामक संस्कारका क्षय मानोगे तब तो आपके यहां मोक्ष नहीं हो सकती है। क्योंकि आपने सर्वज्ञ कही गयी प्रकृतिका संसर्ग छोडकर केवल उदासीनता, चैतन्य, भोक्तापन को ही प्राप्त कर लेना आत्माकी मोक्ष मानी है। अतः

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिस स्थिर ज्ञानरूप प्रकृतिसे आयुष्य संस्काररूप प्रकृतिका नाश हो जाता है उस स्थिर ज्ञानरूप प्रकृतिका नाश करना भी आवश्यक है। वह किस ज्ञानसे होगा ? और उस स्थिरीभूत प्राकृतिक ज्ञानके संसर्गका भी नाश करनेके लिए आपको अन्य तीसरे आदि समाधिरूप धर्मका अवलम्ब करना पडेगा। उसमें भी पूर्वोक्त दोषोंका प्रसंग आता है। क्योंकि चौथे, पांचमें, ज्ञानकी धारा मानते हुए पूर्वके समान ही चोद्य होता चला जावेगा एवं अनवस्था होगी। अतः उन ज्ञानोंसे प्रधानके सम्बन्धका क्षय करना नहीं मान सकते हो, अथवा समाधिको प्रकृतिका धर्म मानोगे तो प्रकृतिके क्षयसे मोक्ष प्राप्ति हो सकेगी, उस ज्ञानरूप प्रकृतिका क्षय भी अन्यज्ञानरूप या अज्ञान-रूप प्राकृतिक विचारसे ही माना जावेगा तो समान चोद्य और वही उत्तर, पुनः चोद्य और पुनः उत्तर ऐसे होते रहनेसे अनवस्था दोष आवेगा। क्या अपने ही आप कोई अपना नाश कर सकता है ? कभी नहीं। यदि उस स्थिरज्ञानको प्राकृतिक न मानकर आत्माका स्वरूप मानोगे तब तो आयु नामके संस्कारका क्षय पहिलेसे ही हो जाना चाहिये था। क्योंकि आत्मा अनादि कालसे नित्य है। उस आत्मासे तादात्म्य संबन्ध रखनेवाले इस स्थिरज्ञानरूप विरोधीके सदा उपस्थित रहनेपर कभी भी आयुनामका संस्कार उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। तथा च आत्माकी सर्वदासे ही मोक्ष हो जानी चाहिये।

आविर्भावतिरोभावावपि नात्मस्वभावगौ।
परिणामो हि तस्य स्यात्तथा प्रकृतिवच्च तौ ॥ ६० ॥
ततः स्याद्वादिनां सिद्धं मतं नैकान्तवादिनाम्
बहिरन्तश्च वस्तूनां परिणामव्यवस्थितेः ॥ ६१ ॥

सांख्यमतमें उत्पाद और विनाश नहीं माने गये हैं वे सत्कार्यवादी हैं। कार्य अनादिसे कारणमें विद्यमान हैं। कार्य नष्ट हो जाता है इसका अर्थ है कि कारणमें यह कार्य छिप जाता है। कार्य उत्पन्न हो गया इसका अभिप्राय यह है कि कारणमेंसे कार्य प्रगट होगया है जो कि पहिलेसे विद्यमान (मौजूद) था। अतः वे आविर्भाव और तिरोभावको ही परिणाम मानते हैं। प्रकृतमें आचार्य महाराज कापिलोंके प्रति कहते हैं कि, स्थिर ज्ञान और आयु नामक संस्कारके आविर्भाव, तिरोभावको भी आप आत्माके स्वभावमें प्राप्त हुए नहीं मानते हैं। यदि वे छिपना और प्रकट होना भी आत्माके स्वभाव हो जावेंगे तो प्रकृतिके समान आत्माके भी दोनों परिणाम होना स्वीकार करना पडेगा। तिस कारणसे प्रकृति और आत्माको भी परिणामी माननेपर स्याद्वादि-योंका सिद्धान्त ही प्रसिद्ध होता है। आत्मा या पदार्थोंको सर्वथा नित्य ही एकान्तसे कहनेवाले कापिलोंका मत सिद्ध नहीं हो पाता है। क्योंकि बहिरंग घट, पट, पृथ्वी, आकाश द और अन्तरंग बुद्धि,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अहंकार, आत्मा, मन आदि पदार्थोंका परिणामीपन युक्तियोंसे निर्णीत हो जाता है। जो कि कथञ्चित् नित्यानित्यात्मक अर्थोंको माननेपर ही सिद्ध होता है।

न स्थिरज्ञानात्मकः संप्रज्ञातो योगः संस्कारक्षयकारणमिष्यते यतस्तस्य प्रधानधर्मत्वात्तत्क्षयान्मुक्तिः स्यात्। सोपि च तत्क्षयो ज्ञानादज्ञानाद्वा समाधेरिति पर्यनुयोगस्य समानत्वादनवस्थानमाशंक्यते, नापि पुरुषस्वरूपमात्रं समाधिर्येन तस्य नित्यत्वान्नित्यं मुक्तिरापाद्यते, तदाविर्भावतिरोभावादन्यथा प्रधानवत्पुंसोऽपि परिणामसिद्धेः सर्वः परिणामीति स्याद्वादाश्रयणं प्रसज्येत, किं तर्हि ? विशिष्टं पुरुषस्वरूपमसंप्रज्ञातयोगः संस्कारक्षयकारणम्। न च प्रतिज्ञाव्याघातस्तत्त्वज्ञानाज्जीवन्मुक्तेरास्थानान्तकाले तत्त्वोपदेशघटनात्परमनिश्रेयसस्य समाधिविशेषात्संस्कारक्षये प्रतिज्ञानात्।

स्याद्वादियोंकी उक्त पांच कारिकाओंके अन्तिम निकाले हुये मन्तव्यको स्वीकार करनेमें कपिल मतानुयायी आनाकानी करते हैं। उनका कहना है कि हम स्थिरज्ञानस्वरूप संप्रज्ञात योगको आयु नामक संस्कारके क्षयका कारण नहीं मानते हैं। जिससे कि उस संप्रज्ञात योगको प्रधानका विवर्तपना हो जानेके कारण उस प्राकृतिक संप्रज्ञानके क्षय हो जानेसे मोक्ष होना माना जावे और प्रधानकी पर्यायरूप उस संप्रज्ञातयोगका क्षय भी प्रकृतिके ज्ञान अथवा अज्ञानरूप समाधिपरिणामसे क्षय होना स्वीकार करते करते इसी प्रकार चोथकी समानतासे आकांक्षायें बढनेपर अनवस्था दोषकी शंका की जावे, तथा हम उस समाधिको केवल पुरुषस्वरूप भी नहीं मानते हैं। जिससे कि पुरुषके कूटस्थ अनादि नित्य होनेसे मोक्षके नित्य होनेका भी हम पर आपादन (कटाक्ष) किया जावे तथा हम आत्माके आविर्भाव और तिरोभावको भी नहीं मानते हैं। अन्यथा यानी यदि मानते होते तो प्रकृतिके समान पुरुषके भी पर्यायोंका होना सिद्ध हो जाता " और सब पदार्थ परिणामी हैं " ऐसे स्याद्वादियोंके कथनको स्वीकार या आश्रय करनेका भी प्रसंग हमारे ऊपर जड दिया जाता, तब तो तुम्हारा मत क्या है ? कुछ कहो भी, उसका उत्तर यह है कि आत्माका विलक्षण स्वरूप ही असंप्रज्ञात योग है। जैसे कि जैन लोग चौदहवें गुणस्थानमें होनेवाले विशिष्ट आत्माके व्युपरतक्रियानिवृतिरूप परिणामको मोक्षका कारण मानते हैं। उसी प्रकार हम भी तेरहवें गुणस्थानके समान संप्रज्ञात योगके बाद होनेवाले असंप्रज्ञात योगको आयु नामक संस्कारके क्षयका कारण मानते हैं, ऐसा माननेपर ज्ञानसे ही मोक्ष होती है, इस हमारी प्रतिज्ञाका घात नहीं होता है क्योंकि तत्त्वज्ञानसे जीवन्मुक्तिका होना हमको नितांत इष्ट है। मोक्ष दो प्रकारकी है एक अपर मोक्ष, दूसरी परमोक्ष,। प्रथम–अपर मोक्ष यह है कि सर्वज्ञ होकर थोडीसी प्रकृतिका संसर्ग रहते हुए संसारमें जीवित रहना और दूसरी परममुक्त यह है कि सर्वथा प्रकृतिका संसर्ग छूट

जानेपर आत्माका केवल चैतन्यस्वभावमें स्थिर हो जाना। तत्त्वज्ञानसे जब जीवन्मुक्ति हो जाती है उस समय योगी संसारमें कुछ दिनोंतक ठहरते हैं जबतक ठहरते हैं। तबतक मोक्षके उपयोगी तत्त्वोंका उपदेश देना बन जाता है और जीवन्मुक्तिके अंतसमयमें अतिशययुक्त समाधिसे आयु, ज्ञान, विचार, आदि संस्कारोंका नाश होजानेपर परममोक्षको प्राप्त हो जाते हैं। यह हमारी तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होनेकी प्रतिज्ञाका अर्थ है। यही हमारा विश्वास है।

इति वदन्नन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेन स्याद्वादिदर्शनं समाश्रयतीत्युपदर्श्यते।

पूर्वोक्त प्रकारसे कहता हुआ सांख्य " अन्धसर्प-बिलप्रवेश " न्यायसे स्याद्वादियोंके भले सिद्धान्तका ही आश्रय लेरहा है अर्थात् जैसे कि अन्धा साप इन्द्रियलोलुपतासे इधर उधर घूमना चाहता है किन्तु घातक जीवोंके भयसे शीघ्र ही अपने बिलमें प्रवेश कर जाता है। यदि वह सूझता होता तो इधर उधर कोई निष्कण्टक मार्ग भी दीख जाता, अतः निर्दोष और भयरहित अपने बिलके समान उस सर्पको दूसरा अवलम्बमार्ग ही नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान और समाधिरूप-चारित्रसे ही मोक्ष माननेपर सांख्यको भी रत्नत्रयकी शरण लेना आवश्यक हो जाता है। इसी बातको दिखलाते हैं।

मिथ्यार्थाभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन वर्जितम्।
यत्पुंरूपमुदासीनं तच्चेद्ध्यानं मतं तव ॥ ६२ ॥
हन्त रत्नत्रयं किं न ततः परमिहेष्यते।
यतो न तन्निमित्तत्वं मुक्तेरास्थीयते त्वया ॥ ६३ ॥

सांख्यके शोधन किये गये उक्तकथनसे यह बात प्रतीत होती है कि पदार्थोंके मिथ्याश्रद्धान-से और मिथ्याज्ञानसे रहित होरहा जो उपेक्षा स्वरूप उदासीन पुरुषका धर्म है वही समाधिरूप ध्यान है। यदि तुम्हारा यह मन्तव्य है तब तो खेदके साथ कहना पडता है कि अकेले तत्त्वज्ञानसे ही मोक्षके होनेका आग्रह आपने व्यर्थ पकड रखा है। आपके उक्तकथनसे तो ज्ञानसे अतिरिक्त श्रद्धान और चारित्र भी कारण बन जाते हैं। इस प्रकार यहां उत्कृष्ट रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग सिद्ध होता है। अतः आप रत्नत्रयको ही मोक्षका मार्ग क्यों नहीं अभीष्ट करते हैं! जिससे कि तुम्हे उस रत्नत्रयके निमित्तसे मुक्तिकी श्रद्धा स्वीकार न करनी पडे अर्थात् रत्नत्रय ही मोक्षका कारण व्यवस्थित हुआ यह आपको विश्वासमें लाना चाहिये।

ननु च मिथ्यार्थाभिनिवेशेन वर्जितं पुरुषस्य स्वरूपं न सम्यग्दर्शनं तस्य तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणत्वात्। नापि मिथ्याज्ञानेन वर्जितं तत्सम्यग्ज्ञानं तस्य स्वार्थव्यवसायलक्षणत्वात्।

उदासीनं च न पुंरूपं सम्यक्चारित्रं तस्य गुप्तिसमितिव्रतभेदस्य बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमलक्षणत्वात् येन तथाभूतरत्नत्रयमेव मोक्षस्य कारणमस्माभिरास्थीयते । मिथ्याभिनिवेशमिथ्याज्ञानयोः प्रधानविवर्ततया समाधिविशेषकाले प्रधानसंसर्गाभावे पुरुषस्य तद्वर्जितत्वेपि स्वरूपमात्रावस्थानात् । तदुक्तं " तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् " इति कश्चित् ।

यहां कपिलमतानुयायी सांख्य जैनोंके उक्त कथनका अनुवाद करते हुए अपनेही आग्रहको पुष्ट करते हैं कि हम आपके माने हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रको आत्मस्वरूप नहीं मानते हैं । वे तो प्रकृतिकी पर्याय हैं । अतः अर्थोंके मिथ्याश्रद्धानसे रहित हो रहा पुरुषका स्वरूप आपके माने हुए सम्यग्दर्शनरूप नहीं पडता है क्योंकि उस सम्यग्दर्शनका लक्षण तो तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना है । तत्त्वार्थोंका श्रद्धान करना प्रकृतिका काम है आत्माका नहीं, और मिथ्याज्ञानसे रहित हुआ पुरुषका स्वाभाविक वह चैतन्य स्वरूप भी हमने आपके द्वारा माने हुए सम्यग्ज्ञानरूप नहीं इष्ट किया है क्योंकि आपके सम्यग्ज्ञानका लक्षण अपनेको और अर्थको निश्चित कर लेना है। यह काम भी प्रकृतिका ही है । इसी तरह हमारी आत्मस्वरूप मानी हुयी उदासीनता भी आपके सम्यक्चारित्ररूप नहीं है। क्योंकि आपने उस चारित्रके गुप्ति, समिति और महाव्रत ये भेद माने हैं। तथा बहिरंग और अन्तरंग विशेष क्रियाओंके त्यागको चारित्रका लक्षण माना है यह भी प्राकृतिक है । जिससे कि इस प्रकारका रत्नत्रयही मोक्षका कारण हम लोगोंसे व्यवस्थित किया जाता, अर्थात् जब ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्माके स्वरूप ही नहीं हैं तो इन तीनोंको ही मोक्षका कारणपना हम कैसे विश्वस्त कर सकते हैं ? मिथ्याश्रद्धान और उसके पर्युदासनिषेधसे किया गया सम्यग्दर्शन ये दोनों ही भाव हमारे यहां प्रकृतिके माने गये हैं । मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान भी प्रकृतिके परिणाम हैं। हां, असंप्रज्ञात नामक विशेष समाधिके समय प्रकृतिका संसर्ग सर्वथा छूट जाता है । ऐसा होनेपर प्रसज्यनिषेधसे उन मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानसे रहितपना पुरुषका स्वरूप है । किसी प्राकृतिकभाव–पदार्थरूप नहीं, तथापि मुक्तावस्थामें आत्मकी केवल अपने स्वरूपमें स्थिति रह जाती है । जब कि वैसा हमारे दर्शनसूत्रमें लिखा हुआ है कि मोक्षावस्थामें चेतयिता द्रष्टा आत्माका अपने स्वभावोंमें अवस्थान हो जाता है । इस प्रकार कोई कपिलमतानुयायी कह रहा है ।

तदसत् संप्रज्ञातयोगकालेऽपि तादृशः पुंरूपस्य भावात्परमनिःश्रेयसप्रसक्तेः ।

आचार्य कहते हैं कि उसका कहना प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंको जानते हुए संप्रज्ञात समाधिके समयमें भी मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानसे रहित होरहा पुरुषके स्वरूपका सद्भाव है ही । कारण कि मिथ्याश्रद्धान, ज्ञानोंसे सहितपना या सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदिसे

सहितपना प्रकृतिका धर्म है। कूटस्थ नित्य आत्मा तो सदासे ही मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञानोंसे रहित है। यदि प्रकृतिके संसर्गसे आनुषङ्गिक मिथ्यादर्शनज्ञानसहितपना आत्मामें कुछ कुछ आभी जाता था अब तो प्रकृतिकी सर्वज्ञता होनेपर वह भी आनुषङ्गिक मिथ्यादर्शनसहितपना आत्मामें नहीं आसकता है। अतः संप्रज्ञात-योगकालमें ही पुरुषका मिथ्यादर्शन आदिसे रहितपना स्वरूप बन गया है तो उसी समय आत्माकी परम मोक्ष हो जानी चाहिये थी।

तदा वैराग्यतत्त्वज्ञानाभिनिवेशात्मकप्रधानसंसर्गसद्भावान्नासंप्रज्ञातयोगोऽस्ति, यतः परममुक्तिरिति चेत्तर्हि रत्नत्रयाज्जीवन्मुक्तिरित्यायातः प्रतिज्ञाव्याघातः।

यहां कापिल कहते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अच्छी तरह जाननेवाले जीवके उस संप्रज्ञात समाधिके समयमें वैराग्य, तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धान स्वरूप प्रकृतिका संसर्ग आत्माके साथ विद्यमान हो रहा है। इस कारण उस समय निर्बीज समाधिरूप प्रकृतिका उपयोगरहित अभिन्न ज्ञान, श्रद्धान, चारित्रस्वरूप असंप्रज्ञात योग नहीं है। जिससे कि परममोक्ष प्राप्त हो जावे अर्थात् असंप्रज्ञातयोग परम मुक्तिका कारण है। वैराग्य, तत्त्वज्ञान, और तत्त्वश्रद्धानरूप प्रकृतिका संसर्ग जब तक है तब तक जीवन्मुक्ति है, परममुक्ति नहीं। आचार्य कहते हैं कि यदि आप ऐसा कहोगे तब तो आपके कहनेसे ही सिद्ध होता है कि रत्नत्रयसे ही जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यों तो अकेले तत्त्वज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त होजानेकी आपकी प्रतिज्ञाका व्याघात आगया। तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति होना यह जैन सिद्धांत है।

परमतप्रवेशात् तत्त्वार्थश्रद्धानतत्त्वज्ञानवैराग्याणां रत्नत्रयत्वात्ततो जीवन्मुक्तेरार्हत्यरूपायाः परैरिष्टत्वात्।

वैराग्य, तत्त्वज्ञान और तत्त्वाभिनिवेशरूप प्रधानके संसर्गसे जीवन्मुक्ति माननेवाले आप सांख्योंके "पोतकाक" न्यायसे जैनमतमें प्रवेश करना ही न्याय्यप्राप्त होता है। क्योंकि तत्त्वार्थोंका श्रद्धान और जीव आदि तत्त्वोंका ज्ञान तथा इष्ट, अनिष्ट पदार्थोंमें रागद्वेष न करना रूप वैराग्यको ही जैनमतमें रत्नत्रय माना गया है। उन तीन रत्नोंसेही अनन्तचतुष्टय, समवसरण आदि लक्ष्मीसे युक्त मोक्षके उपदेष्टा तीर्थंकर भगवान्की अर्हन्त अवस्थारूप जीवन्मुक्तिका उत्पन्न होना दूसरे स्याद्वादियोंने स्वीकार किया है।

यदपि द्रष्टुरात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं ध्यानं परममुक्तिनिबन्धनं तदपि न रत्नत्रयात्मकतां व्यभिचरति, सम्यग्ज्ञानस्य पुंरूपत्वात्, तस्य तत्त्वार्थश्रद्धानसहचरितत्वात्, परमौदासीन्यस्य च परमचारित्रत्वात्।

और जो आपने अपने दर्शनसूत्रका प्रमाण देकर यह कहा था कि द्रष्टा आत्माका अपने स्वरूपमें स्थित हो जानारूप ध्यान परममुक्तिका कारण है। वह आपका कहना भी आत्माके

रत्नत्रय-स्वरूपका व्यभिचार नहीं करता है किन्तु अविनाभावी है। सूत्रमें द्रष्टुः स्वरूपे, और अवस्थान, ये तीन पद हैं। वहां पुरुषका स्वरूप ज्ञानचेतनामय ही है। द्रष्टा कहनेसे सम्यग्दृष्टिपन प्राप्त होजाता है और अवस्थितिसे आत्मामें स्थितिरूप चारित्र आजाता है अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान-के साथ रहने वाला सम्यग्ज्ञान आत्माका अभिन्न स्वरूप है और उत्कृष्ट उदासीनता ही परमचारित्र है तथा च मोक्ष अवस्थामें आत्माकी तीनों रूप हो जाना परिणति है।

पुरुषो न ज्ञानस्वभाव इति न शक्यव्यवस्थम्। तथाहि,—

सांख्य लोग ज्ञानको प्रकृतिका विकार मानते हैं। आत्मामें चैतन्य मानते हैं जो कि ज्ञानसे भिन्न है। अतः वे कहते हैं कि आत्माका स्वभाव ज्ञान नहीं है। इसपर आचार्यका कहना है कि उक्त बातको आप अच्छी तरह प्रमाणोंसे निर्णीत नहीं कर सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण आगेकी वार्त्तिकमें कहते हैं।

यद्यज्ञानस्वभावः स्यात्कपिलो नोपदेशकृत्।
सुषुप्तवत्प्रधानं वाऽचेतनत्वाद् घटादिवत्॥ ६४॥

आपका माना हुआ कपिल ऋषि यदि ज्ञानस्वभाववाला नहीं है तो गाढ सोते हुए पुरुषके समान मोक्षका उपदेश नहीं कर सकता है तथा कपिलकी आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हुई प्रकृति भी उपदेश नहीं कर सकती है क्योंकि वह अचेतन है। जैसे कि घट, पट आदि अचेतन पदार्थ उपदेश नहीं देते हैं।

यथैव हि सुषुप्तवत्तत्त्वज्ञानरहितः कपिलोऽन्यो वा नोपदेशकारी परस्य घटते तथा प्रधानमपि स्वयमचेतनत्वात्कुटादिवत्।

जैसे ही सोते हुए मनुष्यके समान तत्त्वज्ञान और वक्तृत्वकलासे रहित कपिल या दूसरे कोई वाचस्पतिमिश्र, ईश्वरभट्ट, आदि विद्वान् भी मोक्षके उपदेश करनेवाले आप दूसरे सांख्योंके यहां नहीं घटित होते हैं। उसी प्रकार जड प्रकृति भी उपदेश नहीं कर सकती है। क्योंकि वह अपने मूलस्वभावसे अचेतन मानी गयी है। जैसे कि घट, पट, मृतशरीर आदि स्वयं अचेतन होकर व्याख्यान नहीं कर सकते हैं। जो स्वयं चेतन होकर स्वाभाविक ज्ञानके तादात्म्यवाला है वही उपदेष्टा हो सकता है। किन्तु सांख्योंके यहां विषम घटना है उनका आत्मा चेतन तो है। ज्ञानवान् नहीं और प्रकृति ज्ञानवती मानी है किन्तु चेतनात्मक नहीं।

तत्त्वज्ञानसंसर्गाद्योगी ज्ञानस्वभाव इति चेत्।

यदि कापिल यों कहें कि " प्राकृतिक तत्त्वज्ञानके साथ सम्बन्ध होनेसे योगविशिष्ट आत्मा भी ज्ञानस्वभाव हो जाता है " ऐसा कहने पर तो,

ज्ञानसंसर्गतोऽप्येष नैव ज्ञानस्वभावकः
व्योमवत्तद्विशेषस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ६५ ॥

यह आपका माना हुआ अतिशयोंसे रहित कूटस्थ आत्मा अन्य सम्बन्धी ज्ञानके संसर्गसे भी ज्ञानस्वभाववाला नहीं माना जा सकता है। जैसे कि प्रकृतिके बने हुए ज्ञानके मात्र संसर्गसे आकाश बिचारा ज्ञानी नहीं हो जाता है। आपके यहां प्रकृति व्यापक (व्यापिका) मानी गयी है। उसका सम्बन्ध जैसा ही आत्माके साथ है वैसा ही आकाशके साथ भी है। सभी प्रकारोंसे यानी किसी भी प्रकारसे प्रकृतिके साथ होनेवाले आत्माके सम्बन्धमें और आकाशके साथ हुये उसके सम्बन्धमें आप विशेषता (फर्क) को सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

यस्य सर्वथा निरतिशयः पुरुषस्तस्य ज्ञानसंसर्गादपि न ज्ञानस्वभावोऽसौ गगनवत्। कथमन्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति न विरुध्यते? ततो न कपिलो मोक्षमार्गस्य प्रणेता येन संस्तुत्यः स्यात्।

जिस सांख्यके यहां आत्मा सर्वथा निरतिशय माना गया है अर्थात् आत्मोऽनाधेयाप्रहेयातिशय है अर्थात् कूटस्थ नित्य है सर्वदा वह का वही रहता है, दूसरोंके सम्बन्ध होनेपर भी न कुछ विशेषताओंको लेता है और न अपनी पुरानी विशेषताओंको छोडता ही है, परिणामी नहीं है, उस सांख्यके यहां ज्ञानके सम्बन्धसे भी ज्ञानस्वभाववाला वह आत्मा नहीं हो सकता है। जैसे कि सर्वथा जडस्वरूप आकाश ज्ञानस्वभावी नहीं है। अन्यथा यानी यदि आप आत्माको ज्ञानस्वभाव मान लोगे तो " पुरुषका स्वरूप चैतन्य है " इस ग्रंथका विरोध कैसे नहीं होगा ? अवश्य होगा, तिस कारणसे स्वयं ज्ञानरहित कपिल ऋषि मोक्षमार्गका प्रणयन करनेवाला नहीं सिद्ध होपाता है। जिससे कि शिष्यजनोंके द्वारा भले प्रकार उसकी स्तुति की जावे, अर्थात् जो मोक्षमार्गका विधान नहीं करता है उसकी प्रशंसा स्तुति भी कोई नहीं करता है।

एतेनैवेश्वरः श्रेयःपथप्रख्यापनेऽप्रभुः।
व्याख्यातोऽचेतनो ह्येष ज्ञानादर्थान्तरत्वतः ॥ ६६ ॥

अपनेसे भिन्न पडे हुए प्राकृतिक ज्ञानके सम्बन्धसे ज्ञानी होकर भी जैसे कपिल मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं दे सकते हैं, उसी प्रकार उक्त कथनसे ही यह भी व्याख्यान कर दिया गया है कि अपनेसे सर्वथा भिन्न ज्ञानका सम्बन्ध रखनेवाला नैयायिक, वैशेषिकोंके द्वारा माना हुआ यह

ईश्वर भी मोक्षमार्गके निरूपण करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होजानेके कारण ईश्वर भी अचेतन ही है। घट, पट आदिके समान अचेतन पदार्थ क्या उपदेश देवेगा ?

नेश्वरः श्रेयोमार्गोपदेशी स्वयमचेतनत्वादाकाशवत्। स्वयमचेतनोऽसौ ज्ञानादर्थान्तरत्वात् तद्वत्। नात्राश्रयासिद्धो हेतुरीश्वरस्य पुरुषविशेषस्य स्याद्वादिभिरभिप्रेतत्वात्। नापि धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षस्तद्ग्राहिणा प्रमाणेन तस्य श्रेयोमार्गोपदेशित्वेनाप्रतिपत्तेः।

ईश्वर (पक्ष) मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला नहीं है (साध्य) क्योंकि वह अपने स्वभावसे स्वयं अचेतन है (हेतु) जैसे कि आकाश। (अन्वयदृष्टान्त) यहां कोई नैयायिक अचेतनपन हेतुको असिद्ध (स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास) करता है। उसको दूर करनेके लिये आचार्य दूसरा अनुमान कहते हैं कि आपका माना हुआ वह ईश्वर अचेतन है (प्रतिज्ञा) क्योंकि ज्ञानगुणसे ईश्वरात्मारूप गुणी आपने सर्वथा भिन्न माना है (हेतु) उसी आकाशके समान। (अन्वय उदाहरण) यानी जैसे कि आकाश ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण अचेतन है जब कि जैनजन स्रष्टा, गोप्ता, हर्ता, ईश्वरको नहीं मानते हैं और फिर ईश्वरको पक्ष बनाते है तो उनका हेतु आश्रयासिद्ध हो जायगा इस कटाक्ष पर आचार्य महाराज कहते हैं कि उक्त अनुमानमें ईश्वररूपी पक्ष असिद्ध नहीं है, जिससे कि हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास होजावे, जबकि हम स्याद्वादी विद्वान् किसी विशिष्ट पुरुषको ईश्वर स्वीकार करते हैं। हां महान् देव माने गये उस पुरुषमें मोक्षमार्गके उपदेश देनेका अभाव सिद्ध करते हैं। यदि यहां कोई नैयायिक कहें कि जिस प्रमाणसे आप ईश्वरको जानेंगे, उस प्रमाणसे मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला ही ईश्वर सिद्ध होगा। तथाच ईश्वररूप पक्षके जानते समय ही उसके मोक्षमार्गका उपदेशकपन भी ज्ञात हो जाता है। पुनः आपका मोक्षमार्गके उपदेशका अभाव सिद्ध करना पक्षके ग्राहक प्रमाणसे ही बाधित हो जावेगा और तब तो आपका हेतु बाधित नामका हेत्वाभास बन बैठेगा। आचार्य कहते हैं कि यह भी नैयायिकोंका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि श्रेयोमार्गके उपदेश देनेवाले उस ईश्वरका अद्यापि निर्णय नहीं हुआ है। केवल सामान्य मनुष्योंके समान अथवा कुछ लौकिक विद्याओं और चमत्कारोंसे युक्त महादेव, ब्रह्मा, ईश्वर, कृष्ण, व्यास, परशुराम, कपिल, बुद्ध आत्माओंको हम स्वीकार करते हैं किंतु उस ईश्वरको व्यापक, कर्त्ता, हर्त्ता, भर्त्ता, मोक्षमार्गका उपदेष्टा, सर्वज्ञ आदि विशेषणोंसे सहित नहीं मानते हैं। अतः हमारा अचेतनत्व हेतु बाधाओंसे रहित होकर सद्धेतु है।

परोपगमतः साधनाभिधानाद्वा न प्रकृतचोद्यावतारः सर्वस्य तथा तद्वचनाप्रतिक्षेपात्।

अथवा दूसरी बात यह है कि अन्य नैयायिकोंके मन्तव्यके अनुसार हमने ईश्वरको पक्ष स्वीकार कर लिया है और उसमें उनसे माने हुए अचेतनत्व हेतुसे मोक्षमार्गके उपदेशीपनका अभाव सिद्ध कर दिया है। इस कारण यहां इस समय प्रकरणमें दिये गये नैयायिकोंके कुत्सित दोष नहीं

आते हैं, यदि अपने अपने मतके अनुसार माने गये धर्मीके ग्राहकप्रमाणोंसे ही साध्यकी बाधा उपस्थित की गयी तब तो कोई वादी दूसरे प्रतिवादीके प्रति अनुमानसे नई बातको सिद्ध न कर सकेगा। जैसे कि शब्दको अनित्य सिद्ध करनेवाले नैयायिकके प्रति मीमांसक कह देवेगा कि जिस प्रमाणसे नैयायिक शब्दको जानेंगे उस प्रमाणसे नित्यतासहित ही शब्द जाना जावेगा। अतः धर्मीके ग्राहक प्रमाणसे ही साध्यकी बाधा उपस्थित हो जावेगी। तथाच नैयायिक शब्दको अनित्य सिद्ध नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार सर्व ही वादी वैसे ही उन प्रतिवादियोंके वचनका खण्डन न कर सकेंगे, किंतु खण्डनमण्डन व्यवहार प्रसिद्ध है। अतः दूसरोंके मन्तव्यको लेकर ही सब लोग पक्ष और हेतुको बोल सकते हैं, कोई दोष नहीं है।

विज्ञानसमवायाच्चेच्चेतनोऽयमुपेयते।
तत्संसर्गात्कथं न ज्ञः कपिलोऽपि प्रसिद्ध्यति ॥ ६७ ॥

यदि नैयायिक यहां यह कहें कि भिन्न होनेपर भी गुणगुणीका तो समवायसम्बन्ध हो जाता है इस कारण बुद्धिरूप चेतनाके समवायसम्बन्धसे यह ईश्वर भी चेतन मान लिया जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा स्वीकार करनेपर तो सांख्यके मतमें भी प्रकृतिकी बनी हुयी उस बुद्धिके संसर्गसे कपिलदेव भी ज्ञाता (ज्ञान-स्वभाववाले) क्यों नहीं प्रसिद्ध हो जावेंगे ?। न्याय समान होना चाहिये।

यथेश्वरो ज्ञानसमवायाच्चेतनस्तथा ज्ञानसंसर्गात्कपिलोऽपि ज्ञोऽस्तु। तथापि तस्याज्ञत्वे कथमीश्वरश्चेतनो यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्।

जिस प्रकार नैयायिकोंके मतमें भिन्न ज्ञानके समवायसे ईश्वरको चेतन माना जाता है उसी प्रकार सर्वथा भिन्न ज्ञानके संसर्गसे सांख्योंका कपिल भी ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हो जाओ। यदि फिर वैसा ज्ञानका संसर्ग होनेपर भी उस कपिलको अज्ञ मानोगे तो आपका ईश्वर भी दूसरेके संसर्गसे कैसे चेतनात्मक हो सकता है ?, जिससे कि हमारा हेतु असिद्ध हो जावे अर्थात् ईश्वरको मोक्षमार्गके उपदेशकत्वका अभाव सिद्ध करनेमें दिया गया अचेतनत्व हेतु सिद्ध ही है। न्यायमार्गमें पक्षपात नहीं करना चाहिये।

प्रधानाश्रयि विज्ञानं न पुंसो ज्ञत्वसाधनम्।
यदि भिन्नं कथं पुंसस्तत्तथेष्टं जडात्मभिः ॥ ६८ ॥

यदि यहां नैयायिक यह कहें कि सांख्योंके मतसे आधारभूत प्रधानमें रहनेवाला विज्ञान तो सर्वथा भिन्न होकर पुरुषका ज्ञातापन सिद्ध नहीं कर सकता है तो हम जैन भी नैयायिकोंके

प्रति कहते हैं कि स्वभावसे जडस्वरूप आत्माको माननेवाले जड नैयायिकोंने उस अपनी द्रव्य स्वरूप आत्माको सर्वथा भिन्न होरही गुणस्वरूप बुद्धिके संसर्गसे कैसे चेतन मान रखा है ? बताओ।

प्रधानाश्रितं ज्ञानं नात्मनो ज्ञत्वसाधनं ततो भिन्नाश्रयत्वात्पुरुषान्तरसंसर्गिज्ञानवदिति चेत्, तर्हि न ज्ञानमीश्वरस्य ज्ञत्वसाधनं ततो भिन्नपदार्थत्वादनीश्वरज्ञानवदिति किं नानुमन्यसे ?

कपिलमतका खण्डन करनेके लिये नैयायिकका यह अनुमान है कि " आश्रय रूप प्रकृतिका आधेय होकर रहता हुआ विज्ञानरूप परिणाम तो आत्माका ज्ञातापन सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि वह ज्ञान उस आत्मासे सर्वथा भिन्न होरही प्रकृतिका आश्रित धर्म है। जैसे कि दूसरे पुरुष यानी देवदत्तमें रहनेवाला सिद्धांतविषयका ज्ञान जिनदत्तमें सम्बन्ध नहीं कर सकता है और जिनदत्तको स्वयं अपने रूपसे सिद्धांतज्ञानी भी नहीं बना सकता है "। आचार्य कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तब तो हम भी कपिलमतकी तरफसे कह सकते हैं कि " ज्ञान भी ईश्वर को ज्ञाता सिद्ध नहीं कर सकता है, क्योंकि वह ज्ञानगुण उस ईश्वरसे सर्वथा भिन्न पदार्थ है। जैसे कि ईश्वरसे न्यारे अन्य साधारण जीवका ज्ञान सर्वथा भिन्न होनेके कारण ईश्वरको अपने समवायसे अल्पज्ञानी नहीं बना पाता है "। इस बातको तुम ही क्यों नहीं मानते हो ?। कुत्सित हठको छोड देना चाहिये।

ज्ञानाश्रयत्वतो वेधा नित्यं ज्ञो यदि कथ्यते।
तदेव किं कृतं तस्य ततो भेदेपि तत्त्वतः ॥ ६९ ॥

यदि नैयायिक यह कहेंगे कि ईश्वर अनादिकालसे ज्ञानका आधार होनेसे नित्यज्ञाता है, किसी समय बाहिरसे ज्ञान आवे फिर ज्ञानसमवायी बने ऐसा नहीं है। तो हम जैन आपसे पूंछते हैं कि वास्तवमें उस ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होने पर भी उस ईश्वरके वह नित्य-ज्ञातापन आपने किस तरहसे हुआ सिद्ध किया है ? इसका उत्तर दीजिये।

स्रष्टा ज्ञो नित्यं ज्ञानाश्रयत्वात्। यस्तु न ज्ञः स न नित्यं ज्ञानाश्रयो यथा व्योमादिः, न च तथा स्रष्टा ततो नित्यं ज्ञ इति चेत्। किं कृतं तदा स्रष्टुर्ज्ञानाश्रयत्वं ज्ञानाद्भेदेऽपि वस्तुत इति चिन्त्यम्।

उक्त कारिकाकी व्याख्या करते हैं। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, शरीर, इंद्रिय आदिका बनाने वाला ईश्वर, (पक्ष) सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है (साध्य) क्योंकि वह अनादिसे अनन्त काल तक नित्य ही ज्ञानका अधिकरण है। (हेतु) जो ज्ञाता स्वरूप नहीं है वह सर्वदासे ज्ञानका आधार

भी नहीं है। जैसे आकाश, काल आदि ये व्यतिरेकदृष्टांत हैं। नित्य ही ज्ञानका आश्रय न होवे ऐसा आकाश आदिके समान सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे नित्य ही ज्ञाता है। (निगमन) इस पांच अवयववाले अनुमानसे आप वैशेषिक यों ज्ञानापन सिद्ध करोगे तब तो आप इस बातका दीर्घकाल तक विचार करें कि वह परमार्थरूपसे ज्ञानसे भेद होने पर भी सृष्टिनिर्माता ईश्वर ही ज्ञानका आश्रय कैसे कर दिया गया है ? आकाश, घट, पट आदि भी ज्ञानाधार क्यों न बन जावें ?, ईश्वरमें ही क्या विलक्षणता है ? जिससे कि वही ज्ञानका आधार माना जाता है। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है इस बातका आप बहुत दिन तक सोचकर उत्तर देना।

समवायकृतमिति चत् समवायः किमविशिष्टो विशिष्टो वा ? प्रथविकल्पोऽनुपपन्नः कस्मात्—

यदि नैयायिक यह कहें कि समवायसम्बन्ध होनेसे ईश्वरके ही ज्ञानकी आश्रयता कर दी जाती है तो हम जैन पूंछते है कि वह समवाय क्या विशेषतारहित सामान्य समवाय ही लिया है ? या ईश्वरमें रहनेवाला कोई विलक्षण समवाय है ? बताओ, यदि आप पहिला पक्ष लोगे, तब तो ईश्वरमें ही ज्ञानकी अधिकरणता सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि—

समवायो हि सर्वत्र न विशेषकृदेककः।
कथं खादीनि संत्यज्य पुंसि ज्ञानं नियोजयेत् ॥ ७० ॥

आपने सब जगह एक ही समवाय माना है, वह शुद्ध अकेला किसीके साथ पक्षपात करके कोई विशेषता नहीं कर सकता है। अतः एक वही समवाय निकटवर्ती आकाश, काल आदिको नितान्त छोडकर उस भिन्न पडे हुये ज्ञानगुणका आत्मामें ही संबन्ध करा देनेमें नियुक्त होजाय, यह कैसे हो सकता है ? विचारिये।

यस्मात् " सर्वेषु समवायिष्वेक एव समवायस्तत्त्वं भावेन व्याख्यातम् " इति वचनात्। तस्मात्तेषां विशेषकृन्न नाम येन पुंस्येव ज्ञानं विनियोजयेदाकाशादिपरिहारेण इति बुद्ध्यामहे।

जिस कारणसे कि यौगोंने रूप, रस, शब्द, ज्ञान, परिणाम, आत्मत्व, घटत्व, हलन, चलन आदि गुण, जाति, क्रियाओंके समवाय-सम्बन्धवाले पृथ्वी, आत्मा, आकाश आदि सम्पूर्ण समवायियोंमें तत्त्वरूपसे एक ही समवाय माना है। तभी तो आपके कणाद ऋषिके बनाये हुए वैशेषिक दर्शनमें परमार्थरूप तत्त्वदृष्टिसे या सत्ताके एकपन सिद्ध करनेसे एक ही समवायतत्त्वका

व्याख्यान किया है। उस कारणसे उन पदार्थोंमें रहनेवाले समवायकी विशेषता करनेवाला भला कोई अतिशय नहीं है जिससे कि आकाश, आदिको छोडकर वह अतिशयधारी समवाय आत्मामें ही ज्ञानका सम्बन्ध करा देता, इस बातको हम भले प्रकार समझते हैं।

सत्तावदेकत्वेऽपि समवायस्य प्रतिविशिष्टपदार्थविशेषणतया विशेषकारित्वमिति चेत् तर्हि विशिष्टः समवायः प्रतिविशेष्यं सत्तावदेव इति प्राप्तो द्वितीयः पक्षः तत्र चः—

नैयायिक या वैशेषिक बोलते हैं कि जैसे सत्ताजाति एक है फिर भी वह भिन्न भिन्न द्रव्य, गुण, कर्मोंमें रहती हुयी द्रव्यकी सत्ता, गुणकी सत्ता, कर्मकी सत्ता इस प्रकार विशेषता कर देती है। उसी प्रकार समवायके एक होनेपर भी प्रत्येक विशिष्ट–पदार्थोंमें रहनेवाला "विशेष्यके भेद होनेसे विशेषणमें भी भेद हो जाता है" इस नियमके अनुसार भेद रखता है। वह आकाश आदिकको छोडकर ईश्वरमें ही ज्ञानका सम्बन्ध करा देना रूप विशेषताको कर देता है। जैन कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो सामान्यसे समवाय मानना यह आपका पहिला पक्ष गया। प्रत्येक विशेष्यमें सत्ताजातिके समान विशिष्टप्रकारका समवाय है। इस प्रकार आपने दूसरे पक्षका आलम्बन किया है और उसमें हमारा यह कहना है सुनिये—

विशिष्टः समवायोऽयमीश्वरज्ञानयोर्यदि।
तदा नानात्वमेतस्य प्राप्तं संयोगवन्न किम् ॥ ७१ ॥

नैयायिक यदि ईश्वरका और ज्ञानका विलक्षण प्रकारका यह दूसरा विकल्परूप समवाय सम्बन्ध मानेंगे तब तो संयोगसम्बन्धके समान समवायको भी नानापन क्यों नहीं प्राप्त होगा? देखिये, भूतलमें घटका संयोग न्यारा है, पटका संयोग न्यारा है। इसीके समान घटके साथ रूपका समवाय भिन्न है और आकाशके साथ शब्दका समवाय पृथक् है। तथा आत्माका ज्ञानके साथ समवायसम्बन्ध अतिरिक्त है। एवं अनेक समवायसम्बन्ध हुए जाते हैं। इस तरह अपने सिद्धान्तके विरुद्ध कहनेपर आपको अपसिद्धान्त नामका निग्रहस्थान प्राप्त होता है।

न हि, संयोगः प्रतिविशेष्यं विशिष्टो नाना न भवति दण्डपुरुषसंयोगात् पटधूपसंयोगस्याभेदाप्रतीतेः।

आचार्य संयोग नामक दृष्टान्तको पुष्ट करते हैं। प्रत्येक विशेष्यमें विलक्षण होकर विद्यमान संयोगसम्बन्ध अनेक नहीं होता है यह कथमपि नहीं समझना चाहिये अर्थात् संयोगसम्बन्ध अनेक हैं। पुरुषका दण्डके साथ संयोग न्यारा है और कपडेमें बंधी हुयी सुगन्धित धूपका कपडेसे संयोग निराला है। वे दोनों संयोग एक नहीं दीख रहे हैं। इस देवदत्तका छत्रीके साथ हो रहे

संयोगसे जिनदत्तका पगडीके साथ हो रहा संयोग सम्बन्ध भिन्न है। दण्डपुरुषके संयोगसे पट और धूपका संयोग अभिन्न नहीं प्रतीत हो रहा है।

संयोगत्वेनाभेद एवेति चेत्, तदपि ततो यदि भिन्नमेव तदा कथमस्यैकत्वे संयोगयोरेकत्वम् ? तन्नाना संयोगोऽभ्युपेयोऽन्यथा स्वमतविरोधात्।

अनेक संयोगगुणोंमें रहनेवाली संयोगत्वजाति एक है। यदि उस जातिकी अपेक्षासे संयोगका अभेदही मानोगे तो भी सम्पूर्ण संयोग एक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उन संयोग नामक गुणोंमें रहनेवाली वह संयोगत्वजाति भी यदि आपने आधारभूत उन संयोगोंसे सर्वथा भिन्न ही मानी है तब तो उस भिन्न जातिके एक होनेपर भी इन दो संयोगोंमें या अनेक संयोगोंमें एकपना कैसे आ सकता है? बताओ। इस कारणसे संयोग अनेक मानने चाहिये और संयोगोंको अनेक मानते भी हैं। यदि न मानोगे तो आपका अपने सिद्धान्तसे विरोध हो जावेगा। क्योंकि आपके दर्शनमें संयोगगुण अनेक माने गये हैं। दार्ष्टान्तको बिगाडनेके लिये अभीष्ट दृष्टान्तको बिगाडने चले हैं। अलं वावदूकतया।

तद्वत्समवायोऽनेकः प्रतिपद्यताम्, ईश्वरज्ञानयोः समवायः, पटरूपयोः समवाय इति विशिष्टप्रत्ययोत्पत्तेः।

बस, उन संयोगोंके समान समवायसम्बन्ध भी अनेक मानने या समझ लेने चाहिये। ईश्वर का ज्ञानसे समवायसम्बन्ध भिन्न है तथा पटका और रूपका समवाय निराला है इसी प्रकार नीबूसे रसका समवाय अतिरिक्त है, इत्यादि विलक्षण ज्ञानोंके होनेसे समवाय भी अनेक सिद्ध होजाते हैं। यह युक्तियोंसे साधा गया सिद्धान्त है।

समवायिविशेषात्समवाये विशिष्टः प्रत्यय इति चेत्, तर्हि संयोगिविशेषात्संयोगे विशिष्टप्रत्ययोऽस्तु। शिथिलः संयोगो, निबिडः संयोग इति प्रत्ययो यथा संयोगे तथा नित्यं समवायः कदाचित्समवाय इति समवायेऽपि।

नैयायिक कहता है कि प्रतियोगितासम्बन्धसे समवायसम्बन्धके आधार, रूप, ज्ञान, रस आदि अनेक हैं और अनुयोगितासंबन्धसे समवायके अधिकरण भी घट, आत्मा, नीबू आदि अनेक हैं। अतः उन समवायवाले आश्रयोंके अनेक हो जानेसे उनमें रहनेवाले एक समवायमें भी विलक्षण विलक्षण रूपके ज्ञान होजाते हैं। जैसे कि मेघजलके एकसा होनेपर भी उसकी तदाश्रय अनेक वृक्षों में भिन्न भिन्न परिणति होजाती है। इसी तरह समवायवालोंकी विशेषतासे ज्ञान नाना हो जाते हैं किन्तु समवाय एक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तबतो संयोगसम्बन्धको भी एक ही मान लेना चाहिये। वहां भी प्रतियोगितासम्बन्धसे संयोगके आश्रय

होरहे दण्ड, छत्र, धूम आदि अनेक हैं और अनुयोगितासम्बन्धसे संयोगके अधिकरण पुरुष, देवदत्त वस्त्र, आदि बहुत हैं। अतः संयोगवालोंके भिन्न भिन्न होनेसे ही संयोगमें भी विलक्षणताको जाननेवाला ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। संयोगगुण लाघव होनेसे एक ही मान लिया जावे। यदि आप वैशेषिकोंका यह भाव होय कि देवदत्तके गलेमें जंजीरका ढीला संयोग है और अंगुलीमें अंगूठीका कडा संयोग है, चटाईमें तृणोंका शिथिल संयोग है और किवाडों में गर्भकीलकका घनिष्ठ संयोग है। इस तरह संयोगकी प्रतीतियां तो अनेक प्रकारकी देखी जाती हैं, तो हम जैन भी कहते हैं कि आत्माका परिमाणके साथ और आकाशका एकत्वसंख्याके साथ नित्य ही समवाय है तथा घटका काले, लाल रूपके साथ और जीवात्माका घटज्ञान पटज्ञानके साथ कभी कभी होनेवाला समवाय है। इस प्रकार समवायसम्बन्धमें भी अनेकपन दीखरहा है, तो फिर समवाय सम्बन्ध भी अनेक मान लेने चाहिये। न्यायप्राप्तमें पुनः विपरीत पक्षपात नहीं करना चाहिये।

समवायिनोर्नित्यत्वकादाचित्कत्वाभ्यां समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ संयोगिनोः शिथिलत्वनिबिडत्वाभ्यां संयोगे तथा प्रत्ययः स्यात्।

समवायसम्बन्धके आधारभूत आकाश, आत्माके नित्य होनेसे समवायमें भी वह नित्यपन कल्पित जान लिया जाता है और समवायी माने गये ज्ञान, काला, लाल, रूपके अनित्य होनेसे समवायमें भी अनित्यपनका ज्ञान उपज जाता है। ऐसा नैयायिकोंके कहनेपर हम जैन भी कह सकते हैं कि संयोग सम्बन्धवाले चटाई, किवाड, कील, रुई आदिके ढीले, कडे हो जानेसे संयोगमें भी ढीले, कठिनका इस प्रकार व्यवहारज्ञान कर लिया जायगा, किन्तु संयोगको एक ही मानो।

स्वतः संयोगिनोर्निबिडत्वे संयोगोऽनर्थक इति चेत्, स्वतः समवायिनोर्नित्यत्व समवायोऽनर्थकः किं न स्यात्।

संयोगियोंको अपने आप ही कडा, ढीला माननेपर तो संयोगसम्बन्ध मानना व्यर्थ पडता है। क्योंकि भिन्न भिन्न प्रकारके संयोगोंने ही उन संयोगियोंको कडा, ढीला बना दिया था और अब आप संयोगियोंको स्वतः ही कडा, ढीला मानते हो फिर संयोग माननेकी क्या आवश्यकता है? यदि आप वैशेषिक यों कहोगे तब तो स्वयं मूलमें समवायियोंके नित्य और कभी कभी होनेसे आपका समवाय भी व्यर्थ पडेगा। कारण कि समवायके द्वारा ही सदा (हमेशा) समवेत रहना और कभी कभी समवेत रहना परिणाम, ज्ञान, रूप, आदिकोंमें माना गया था किंतु जब आप समवायोंको स्वभावसे ही नित्यपना और अनित्यपना मानते हैं तो आपका समवाय मानना भी व्यर्थ क्यों न होगा? उत्तर दो।

इहेदं समवेतमिति प्रतीतिः समवायस्यार्थ इति चेत्, संयोगस्येहेदं संयुक्तमिति प्रतीतिरर्थोऽस्तु । ततो न संयोगसमवाययोर्विशेषोऽन्यत्र विष्वग्भावाविष्वग्भावस्वभावाभ्यामिति तयोर्नानात्वं कथंचित्सिद्धम् ।

वैशेषिक कहते हैं कि इसमें यह समवायसम्बन्धसे विद्यमान है। जैसे कि आत्मामें ज्ञान और घटमें रूप समवेत है, इस प्रकार प्रतीति कराना ही समवायका प्रयोजन है। अतः समवाय व्यर्थ नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम (जैन) भी कह सकते हैं कि संयोग गुणका फल ढीला, कड़ा करना नहीं है। संयोगवाले पदार्थ अपने आप पहिलेसे ही कड़े, ढीले हैं। किंतु यह यहां संयुक्त है। जैसे कि पुरुषमें दण्ड, किवाडमें कील संयुक्त हो रही है इत्याकारक प्रतीति कराना ही संयोगका प्रयोजन हो जाओ, इस कारणसे अब तक सिद्ध कर दिया कि संयोग और समवायमें इस वक्ष्यमाणके अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है। यदि संयोग अनेक होंगे तो समवाय भी अनेक हो जावेंगे, तथा समवाय एक होगा तो संयोगके भी एक माननेसे सब काम चल जावेगा। हां अंतर इतना ही है कि पृथक्भूत पदार्थोंका परिणाम या स्वभाव तो संयोग होता है और कथंचिद् अपृथक् पदार्थोंका समवाय होना धर्म है यों प्रतीतिके अनुसार पदार्थोंकी व्यवस्था माननेपर उन संयोग और समवाय दोनोंको ही किसी न किसी अपेक्षासे अनेकपन सिद्ध होता है। वस्तुतः व्यवस्था यह है कि संयोगके एकपनेका तो हमने आपके ऊपर आपादन किया था, किंतु एक संयोग हम स्याद्वादी मानते नहीं हैं। और न संयोगको गुणरूप पदार्थ मानते हैं। गुण उनको कहते हैं जो वस्तुकी आत्मा होकर अनादिसे अनंत कालतक रहें, अतः दो आदि पदार्थोंके मिल जानेपर उनके प्रदेशोंकी प्राप्ति होना संयोगरूप पर्याय है। असंयुक्त अवस्थाको छोडकर संयुक्तावस्थारूप पदार्थकी परिणतिको हम संयोग मानते हैं वे अनेक हैं। दो आदि द्रव्योंमें रहनेवाली परणतियां दो, तीन, आदि होंगी एक नहीं। जैन सिद्धांतमें पदार्थोंका भीतर घुसकर विचार किया है केवल ऊपरसे नहीं टटोला है।

समवायस्य नानात्वे अनित्यत्वप्रसंगः संयोगवदिति चेत्, न, आत्मभिर्व्यभिचारात्, कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वाच्च ।

पुनः वैशेषिक कहता है कि जो जो अनेक होते हैं वे वे घट, पट आदिके सदृश अनित्य होते हैं। यदि समवायको आप जैन लोग अनेक मानेंगे तो समवायको संयोगके समान अनित्यपनेका प्रसंग आवेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकका कहना तो ठीक नहीं हैं क्योंकि जो अनेक होते हैं वे वे अनित्य होते हैं इस व्याप्तिका आत्माओं करके व्यभिचार होगा। आपने आत्माएं अनेक मानी हैं किंतु अनित्य नहीं मानी हैं। परमाणूयें भी अनेक हैं किंतु आपने उनको नित्य माना है, नित्य मन भी अनेक माने गये हैं। दूसरी बात यह है कि कथंचित्

तादात्म्य सम्बन्धरूप समवायका अनित्यपना हम इष्ट करते हैं। आत्मामें घटज्ञान होनेपर घटज्ञानका समवाय उत्पन्न होता है। बादमें पटज्ञान होनेपर पहिले घटज्ञानका समवाय पर्यायरूपसे नष्ट हो जाता है और अबके पटज्ञानका समवाय कथंचित् उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार कथंचित् तादाम्य सम्बन्धरूप अनेक समवायोंमें उत्पादविनाशशालीपना जैनसिद्धान्तमें स्वीकार किया गया है समवायके अनित्य हो जानेसे हम आपके समान डरते नहीं है। हम आत्मा, आकाश, परमाणु, मन आदि द्रव्योंको भी पर्यायार्थिक नयसे अनित्य मानते हैं। सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप परिणतियां कहते हैं।

तथा आपका माना गया समवायसम्बन्ध इस युक्तियोंसे भी सिद्ध नहीं होता है। सो और भी सुनिये।

किञ्च।

अनाश्रयः कथं चायमाश्रयैर्युज्यतेऽञ्जसा।
तद्विशेषणता येन समवायस्य गम्यते ॥ ७२ ॥

आपने सम्बन्धको द्विष्ठ माना है। जो दूसरे सम्बन्धसे दो आदि अनुयोगी, प्रतियोगियों में रहे वह सम्बन्ध है। और आपने अन्य सम्बन्धसे विशेषण के विशेष्यमें रहनेपर ही उनका विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध माना है ऐसा आप नैयायिकोंका मन्तव्य होनेपर यह आपका माना हुआ आश्रयमें नहीं ठहर रहा नित्य, एक, स्वतन्त्र, समवाय किसी अन्य सम्बन्धसे नहीं वर्तता संता विचारा आत्मा, ज्ञान, आदि आश्रयोंके साथ कैसे सीधा ही सम्बद्ध होजाता है बताओ। जिससे कि समवायसंबधकी उन समवायियोंमें विशेषणता मानी जावे क्योंकि दण्ड और पुरुषमें विशेषणविशेष्यभाव तब ही है जब कि संयोग सम्बन्धसे दण्ड पुरुषमें विद्यमान है। भूतलमें घटाभाव स्वरूपसम्बन्धसे है। दूसरे सम्बन्धसे आश्रयमें सम्बद्ध हुए बिना विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध नहीं बनता है। जो विशेष्यको अपने रूपसे अनुरंजित करे वही विशेषण कहा जाता है। विशेषण यों विशेष्यमें प्रथमसे ही सम्बद्ध है।

येषामनाश्रयः समवाय इति मतं तेषामात्मज्ञानादिभिः कथं संबध्यते ? संयोगेनेति चेन्न। तस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात् समवायेनेति चायुक्तम्। स्वयं समवायान्तरानिष्टेः

जिन नैयायिक, वैशेषिकोंके मतमें समवाय सम्बन्ध आश्रयसे रहित माना गया है उनके यहां प्रतियोगिता, अनुयोगिता सम्बन्धसे समवायवाले आत्मा, ज्ञान, और घट, रूप आदिके साथ समवाय किस तरहसे संबंधित होगा ? बताओ। यदि आत्मा, ज्ञान आदिमें संयोगसम्बन्ध करके

गणेशकीर्ति – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समवायका रहना मानोगे। यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें संयोगसम्बन्धसे रहा करता है। जैसे कि भूतलमें घट या देवदत्तमें कुण्डल अर्थात् द्रव्यका अन्यद्रव्यके साथ संयोग-सम्बन्ध होता है। जब कि समवाय स्वयं द्रव्य नहीं है तो वह संयोगसम्बन्धसे किसी आश्रयमें ठहर नहीं सकता है। संयोगसम्बन्ध तो द्रव्यमें ही रहता है। समवायपदार्थ संयोगका आश्रय नहीं है। यदि समवायका अपने आधारोंमें रहना समवायसंबन्धसे मानोगे, वह भी मानना युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि द्विष्ठसम्बन्ध आधेय और आधार दोनोंमें स्थित रहता है जैसे कि समवायसम्बन्धसे ज्ञान आत्मामें रहता है। यहां समवायसम्बन्ध प्रतियोगी ज्ञानमें भी है और अनुयोगी आत्मामें भी है। तभी तो वह दोनोंको मिला देता है। इसी प्रकार वैशेषिकोंके यहां गुण माने गये संयोगसम्बन्धकी कुण्डल आधेय और देवदत्त आधारमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति है तभी तो दोनोंको संयुक्त कर देता है। प्रकरणमें समवायसम्बन्धमें रहनेवाला दूसरा समवाय कोई आपने माना नहीं है। फिर भला समवाय सम्बन्धसे समवायकी आत्मा, ज्ञान आदिमें कैसे वृत्ति हो सकती है? आपने समवायसम्बन्धवाले द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष ये पांच पदार्थ माने हैं। समवाय और अभाव इन दोनोंमें समवायसम्बन्ध नहीं स्वीकार किया है।

विशेषणभावेनेति चेत्, कथं समवायिभिरसंबद्धस्य तस्य तद्विशेषणभावो निश्चीयते?

वैशेषिकमतके औलूक्यदर्शनमें समवाय और अभावका विशेष्यविशेषणतासम्बन्ध माना गया है। आचार्य कहते हैं कि यदि आप समवायियोंके साथ समवायका विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध मानोगे यों तो समवायीरूप विशेष्योंके साथ किसी अन्यसम्बन्धसे नहीं सम्बन्धित होता हुआ वह समवाय उन समवायिओंका विशेषण है यह कैसे निश्चित किया जावे? बताओ, दूसरे सम्बन्धसे विशेष्यमें विशेषणका सम्बन्ध निश्चय किये विना विशेष्यविशेषणभाव नहीं बनता है। जैसे कि दण्ड और पुरुषका संयोग होने पर ही पीछेसे विशेषणविशेष्यभाव—सम्बन्ध माना जाता है॥

समवायिनो विशेष्याः समवायो विशेषणमिति प्रतीतेर्विशेषणविशेष्यभाव एव सम्बन्धः समवायिभिः समवायस्येति चेत् स तर्हि ततो यद्यभिन्नस्तद्वद्वा समवायिनां तादात्म्यसिद्धिरभिन्नादभिन्नानां तेषां तद्भेदविरोधात्।

कणादके अनुयायी कहते हैं कि "समवायवाले द्रव्य आदिक पांच पदार्थ तो विशेष्य हैं और उनमें रहनेवाला एक समवाय विशेषण है" इस प्रकार सम्पूर्णजनोंको प्रतीत हो रहा है। अतः दूसरे सम्बन्धके बिना भी समवायियोंके साथ समवायका विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध सिद्ध ही है। यदि वैशेषिक ऐसा कहेंगे ऐसी दशामें तो हम जैन पूंछते हैं कि वह विशेष्यविशेषणसम्बन्ध उन

अपने सम्बन्धी समवाय और समवायवाले आत्मा, ज्ञान आदिसे यदि अभिन्न है तब तो समवाय-वाले उन ज्ञान, आत्मा आदिकका भी उस विशेष्यविशेषण सम्बन्धके समान तादात्म्यसंबन्ध सिद्ध हो जावेगा क्योंकि अभिन्नसे जो अभिन्न है उनका भेद होना विरुद्ध है। अर्थात् समवाय और समवायवाले ज्ञान, आत्मा आदि पदार्थोंके बीचमें पडा हुआ विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धियोंसे अभिन्न है तब तो उन दोनों सम्बन्धियोंका भी अभेद ही कहना चाहिये। अभिन्न विशेष्यविशेषणभावसे उसके सम्बन्धी अभिन्न ही हैं। अतः सम्बन्धियोंमें भी अभेद मानना पडेगा। यही जैन सिद्धांत है।

भिन्न एवेति चेत् कथं तैर्व्यपदिश्यते ? परस्माद्विशेषणविशेष्यभावादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोऽनवस्थानं च, सुदूरमपि गत्वा स्वसंबन्धिभिः सम्बन्धस्य तादात्म्योपगमे परमतप्रसिद्धेर्न समवायिविशेषणत्वं नाम।

यदि आप उस विशेष्यविशेषणभावको उसके सम्बन्धियोंसे भिन्न ही मानोगे यों तो " यह विशेष्यविशेषणभाव उन सम्बन्धियोंके साथ है " यह व्यवहार कैसे होगा ? बताओ। क्योंकि सर्वथा भेद में " उसका यह है, यह व्यवहार नहीं होता है, जैसे सह्यपर्वतका विन्ध्यपर्वत है या बम्बई-का कलकत्ता हैं, यह व्यवहार अलीक है। कथंचिद् भेद होनेपर ही षष्ठीविभक्ति उत्पन्न होती है। यदि आप वैशेषिक अपने विशेष्यविशेषणभाव और समवाय तथा समवायवान् इन सम्बन्धियोंमें भिन्न पडे हुए उस विशेष्यविशेषणभाव का फिर दूसरे विशेष्यविशेषणभावसे सम्बन्ध मानोगे तो वह दूसरा माना गया विशेष्यविशेषणसम्बन्ध भी अपने सम्बन्धियोंसे भिन्न पडा रहेगा, वहां भी " उनका यह है " इस व्यवहारके लिये तीसरा सम्बन्ध मानना पडेगा, उसको भी अपने सम्बन्धियों में रहना आवश्यक होगा, अन्यथा वह सम्बन्धहीन बन सकेगा। इस तरहसे वही चौथे, पांचमे आदि सम्बन्धोंकी कल्पनाका चोद्य बढता जावेगा और परापरसम्बन्ध मानते हुए आकांक्षा शान्त न होगी, अतः आपके ऊपर अनवस्था दोष आवेगा। कहीं सैकडों, हजारों, सम्बन्धोंकी कल्पनाके बाद बहुत दूर जाकर भी उस सम्बन्धका अपने सम्बन्धियोंके साथ यदि तादात्म्यसम्बन्ध मानोगे तो दूसरोंके मत यानी जैनसिद्धान्तकी प्रसिद्धि हो जावेगी, अति निकटमें ही तादात्म्य क्यों न मान लिया जावे, भेद पक्ष लेकर इतना परिश्रम क्यों किया जारहा है ?। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि समवायियोंमें विशेषणतासम्बन्धसे भी समवाय नाममात्रको भी आश्रित नहीं हो सकता है। जिससे कि उनका विशेषण होसके।

विशेषणत्वे चैतस्य विचित्रसमवायिनाम्।
विशेषणत्वे नानात्वप्राप्तिर्दण्डकटादिवत् ॥ ७३ ॥

यदि इस समवायको आपके कहनेसे नाना प्रकारके आत्मा, आकाश, रूप, घटत्व, चलना, फिरना आदि समवायियोंका विशेषण होना मान भी लिया जावे तब तो उस समवायरूप विशेषणको अनेकपना प्राप्त होता है, जैसे कि पुरुष, भूतल, देवदत्त आदि संयोगियोंके विशेषण होनेसे दण्ड, चटाई, कुण्डल आदि अनेक हैं और इनके संयोगसम्बन्ध भी अनेक हैं। इनहीके समान समवाय भी अनेक हो जावेंगे।

सत्यपि समवायस्य नानासमवायिनां विशेषणत्वे नानात्वप्राप्तिर्दण्डकटादिवत्।

अनेक समवायियोंका विशेषण हो जाना होते हुए भी समवायको अनेकत्व अवश्य प्राप्त हो जाता है। जैसे कि पुरुष दण्डवाला है भूतल चटाईसे युक्त है। यहां दण्ड चटाईरूप विशेषण अनेक हैं। क्योंकि—

न हि युगपन्नानार्थविशेषणमेकं दृष्टम्, सत्त्वं दृष्टमिति चेन्न, तस्य कथञ्चिन्नानारूपत्वात्, तदेकत्वैकान्ते घटः सन्निति प्रत्ययोत्पत्तौ सर्वथा सत्त्वस्य प्रतीततत्वात् सर्वार्थसत्त्वप्रतीत्यनुषंगात्कचित्सत्तासंदेहो न स्यात्।

एक ही समयमें अनेक पदार्थोंका जो विशेषण है वह अनेक है, एक नहीं देखा गया है। यदि यहां वैशेषिक यह कहें कि देखो, सत्ताजाति एक समयमें द्रव्य आदि अनेक पदार्थोंमें रहती है किंतु वह सत्ता एक ही है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जैन सिद्धांतमें द्रव्यस्वरूपसे तीनों कालोंमें विद्यमान रहनारूप सदृशपरिणामोंको सत्ताजाति माना है। वह जाति अनेक पदार्थोंमें तादात्म्यसंबंधसे रहती हुयी कथंचित् अनेक है यह प्रमाणसिद्ध है। यदि उस सत्ताको एक माना जावेगा तो सत्तावाला घट सत्‌रूप विद्यमान है। ऐसे ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर सर्व प्रकारसे सत्ताकी प्रतीति हो ही चुकी है। क्योंकि आपकी मानी हुई सत्ता एक ही है। एक घटकी सत्ताके जाननेपर पूरी सत्ताका ज्ञान होना स्वाभाविक है। तथा च संपूर्ण पदार्थोंकी सत्ताके जान लेनेका प्रसंग आवेगा। एक पदार्थके सद्रूपसे जानलेनेपर सभी सर्वज्ञ हो जावेंगे। अतः किसीको किसी पदार्थमें सत्ताका संदेह नहीं होना चाहिये। किन्तु अनेक पदार्थोंके सन्देह होते देखे जाते हैं। अतः सत्ता जाति एक नहीं है।

सत्त्वं सर्वात्मना प्रतिपन्नं न तु सर्वार्थास्तद्विशेष्या इति तदा क्वचित्सत्तासन्देहे घटविशेषणत्वं सत्त्वस्यान्यदन्यदर्थान्तरविशेषणत्वमित्यायातमनेकरूपत्वम्।

यदि यहां कोई कहे कि विशेषणरूप सत्ता नामकी जातिको हमने पूर्णरूपसे जान लिया है किंतु उस जातिके आधारभूत सम्पूर्ण विशेष्य अर्थोंको नहीं जान पाया है। इस कारण उस

समय किसी किसी पदार्थमें सत्ताका सन्देह हो जाता है ऐसा माननेपर तो सत्ताको अनेकरूपत्व अच्छी रीतिसे (तरह) आजाता है। देखिये घटमें रहनेवाली सत्ताका घटमें विशेषणपना भिन्न है और दूसरे पदार्थोंमें रहनेवाली सत्ताका अर्थान्तरके साथ विशेषणपना निराला है। गुण या क्रियामें रहनेवाली सत्ता न्यारी है इस प्रकार अनेक धर्मवाली सत्ता नानारूप सिद्ध होती है।

नानार्थविशेषणत्वं नाना न पुनः सत्त्वं तस्य ततो भेदादिति चेत् तर्हि घटविशेषणत्वाधारत्वेन सत्त्वस्य प्रतीतौ सर्वार्थविशेषणत्वाधारत्वेनापि प्रतिपत्तेः स एव संशयापायः सर्वार्थविशेषणत्वाधारत्वस्य ततोऽनर्थान्तरत्वात्।

सत्तामें रहनेवाले नाना अर्थोंके विशेषणपन ही अनेक हैं किंतु फिर सत्ता अनेक नहीं है क्योंकि वह सत्ता अपने उन विशेषणोंसे सर्वथा भिन्न है। धर्म धर्मीसे भिन्न होता है। यदि वैशेषिक ऐसा कहेंगे तब तो घटविशेषणत्व–धर्मके आश्रयपनसे सत्ताको जान लेनेपर सम्पूर्ण अर्थोंके विशेषणपनके आधाररूपसे भी सत्ताकी प्रतीति हो चुकी है। क्योंकि सत्ता तो एक ही है और निरंश है। अतः एक सत्ताके जानलेनेपर सम्पूर्ण पदार्थोंका जानना सिद्ध हो गया तो वहका वही, कहीं भी संशयका न रहनारूप दोष तदवस्थ रहा, कारण कि सत्ताके उस घटविशेषणत्वका आधारपन धर्मसे सर्वार्थोंमें विशेषणत्वका आधारपना धर्म भिन्न नहीं है, एक ही है।

तस्यापि नानारूपस्य सत्त्वाद्भेदे नानार्थविशेषणत्वान्नानारूपादनर्थान्तरत्वसिद्धेः सिद्धं नानास्वभावं सत्त्वं सकृन्नानार्थविशेषणम्, तद्वत्समवायोऽस्तु।

यदि वैशेषिकसत्ताके उन अनेक धर्मोंको भी सत्तासे भिन्न होरहे मानेंगे तो नाना अर्थोंके विशेषणत्वरूप जो नाना स्वरूप हैं उनसे नाना रूपोंका अभेद सिद्ध हो जावेगा क्योंकि सर्वथा भिन्नसे जो भिन्न है वह प्रकृतसे अभिन्न होता है। इस तरह नानारूपोंसे सत्ताका अभेद सिद्ध हुआ। तथाच एकवारमें नाना अर्थोंमें विशेषणरूपसे विद्यमान होरहा सत्ता अनेकस्वभाववाली ही सिद्ध होती है। उस सत्ताके समान समवायको भी आप अनेक मान लेवें यही हितमार्ग है।

द्रव्यत्वादिसामान्यं द्वित्वादिसंख्यानं, पृथक्त्वाद्यवयविद्रव्यमाकाशादि विभुद्रव्यं च स्वयमेकमपि पुरा यदनेकार्थविशेषणमित्येतदनेन निरस्तम्। सर्वथैकस्य तथाभावविरोधसिद्धेरिति न परपरिकल्पितस्वभावः समवायोऽस्ति, येनेश्वरस्य सदा ज्ञानसमवायितोपपत्तेर्ज्ञत्वं सिद्धयेत्।

नैयायिक और वैशेषिक सत्तासे अतिरिक्त निम्न लिखित पदार्थोंको भी एक होकर अनेक पदार्थों में रहनेवाला मानते हैं। जैसे कि द्रव्यत्व नामकी जाति एक है किन्तु पहिलेसे ही पृथ्वी,

अप्, तेज्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, इन नौ द्रव्योंमें एकदम रहती है। एक गुणत्वजाति रूप, रस आदिक चौवीस गुणोंमें वर्तती है। कर्मत्वजाति भी उत्क्षेपण आदि पांच कर्मोंमें ठहरती है इत्यादि। तथा दो द्रव्योंमें रहनेवाली द्वित्वसंख्या तथा तीनमें रहनेवाली त्रित्व-संख्या, चार द्रव्योंमें रहनेवाली चतुष्ट्व संख्या आदि भी एक एक होकर पर्याप्ति नामक सम्बन्धसे अनेकोंमें रहती हैं। पृथक्त्व, संयोग, और विभागगुण भी एक होकर अनेकोंमें रहते हैं। इसी तरह एक घट अवयवी द्रव्य दो कपालोंमें निवास करता है तथा एक पट अवयवी द्रव्य अनेक तन्तुओंमें रहता है। तथा आकाश, काल, आत्मा, दिशा ये चार व्यापक द्रव्य स्वयं अकेले अकेले होकर भी वृत्तिताके अनियामक संयोगसम्बन्धसे घट, पट आदि अनेक देश, देशान्तरोंके पदार्थोंमें विद्यमान रहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उक्त प्रकार वैशेषिकका मंतव्य अच्छा नहीं है। हमारे इस पूर्वोक्त कथनसे समवाय और सत्ताको अनेकपना सिद्ध करनेसे वैशेषिकोंका यह उक्तमन्तव्य खण्डित हो जाता है। भावार्थ– आकाश, आत्मा, आदि सर्वथा एक नहीं हैं, प्रदेशोंकी अपेक्षासे अनेक हैं। जो आकाशके प्रदेश बम्बईमें हैं वे कलकत्तामें नहीं है। जो मस्तकमें आत्माके प्रदेश हैं। वे पांवोंमें नहीं है नहीं तो बम्बईमें कलकत्ता घुस पडेगा। मांथेमें पांव लग बैठेंगे समझे। सर्व प्रकारसे जो एक है उसका इस प्रकार एक समयमें पूर्णरूपसे अनेकोंमें ठहरनेका विरोध सिद्ध हो चुका है। इस ढंगसे दूसरे वैशेषिकोंका अपनी रुचि करके कल्पना किया गया नित्य और एक ऐसा समवाय पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है। जिस समवाय सम्बन्धसे कि ईश्वरका ज्ञानके साथ सदासे ही समवायीपना सिद्ध हो जाता, और ईश्वरको ज्ञानस्वभाववाला ठहराया जाता, अर्थात् उस असिद्ध समवायसे ईश्वरमें विज्ञता नहीं आ सकती है।

कीदृशस्तर्हि समवायोऽस्तु ?

थक कर वैशेषिक पूंछते हैं कि तब तो आप जैन लोग ही बतलाइये कि समवाय कैसा होवे ? जो कि वह मान लिया जावे इसपर आचार्य अपना सिद्धांत कहते हैं।

ततोऽर्थस्यैव पर्यायः समवायो गुणादिवत्।
तादात्म्यपरिणामेन कथंचिदवभासनात् ॥ ७४ ॥

इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि रूप, रस, काला, नीला, खट्टा, मीठा, संयोग, चलना, फिरना, आदि गुणक्रियाएँ जैसे अर्थकी ही पर्यायें हैं उसी प्रकार समवाय संबंध भी परिणामी द्रव्यकी पर्यायविशेष है क्योंकि कथंचित् तादात्म्य परिणामसे परिणमन करता हुआ जाना जा रहा है।

भ्रान्तं कथंश्चिद्द्रव्याभेदेन प्रतिभासमानं समवायस्येति न मन्तव्यं, तद्भेदैकान्तस्य ग्राहकाभावात्। न हि प्रत्यक्षं तद्ग्राहकं तत्रेदं द्रव्यमयं गुणादिरयं समवाय इति भेदप्रतिभा-

साभावात्। नाप्यनुमानं लिंगाभावात्, इहेदमिति प्रत्ययो लिंगमिति चेत्, न, तस्य समवायितादात्म्यस्वभावसमवायसाधकत्वेन विरुद्धत्वात्, नित्यसर्वगतैकरूपसमवायेनानान्तरीयकत्वात्।

मार्गदर्शक

द्रव्यसे समवाय पदार्थ सर्वथा भिन्न दीख रहा है अतः समवायका द्रव्यसे कथंचिद् भेदाभेदस्वरूप परिणाम करके जैनोंको ज्ञान भ्रम पूर्ण है ऐसा तो वैशेषिकोंको नहीं मानना चाहिये क्योंकि द्रव्यसे उस समवायको एकांतरूपसे भिन्न ग्रहण करनेवाले प्रमाणका अभाव है। देखों उन प्रमाणोंमें पहिला प्रत्यक्ष प्रमाण तो समवाय और समवायीके भेदका ग्राहक नहीं है। कारण कि उस प्रत्यक्षसे यह द्रव्य है, ये गुण, क्रिया, जाति, आदि हैं, इनके बीचमें पडा हुआ यह समवाय संबन्ध निराला है, इस प्रकार अंगुलीसे निर्देश करने योग्य भेदका ज्ञान होता नहीं है। और दूसरा प्रमाण अनुमान भी अर्थसे भिन्न समवायको जानता नहीं है। क्योंकि उसका उत्पादक अविनाभावी हेतु यहां नहीं है। यदि "इस आत्मा आदिकमें यह ज्ञान आदि हैं" इत्यादिकारक प्रतीतिको हेतु मान करके समवायको सिद्ध करोगे, सो यह तो ठीक नहीं है क्योंकि वह हेतु समवायियोंके साथ तादात्म्यसम्बन्धस्वरूप समवायका साधक है, नित्य एक समवायका नहीं। अतः आपके अभिप्रेत होरहे समवायसम्बन्ध–स्वरूप साध्यसे विरुद्धके साथ व्याप्ति रखनेके कारण आपका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। "इसमें यह है" इत्याकारक मतीतिरूप हेतु आपके माने हुए नित्य, व्यापक, और एकरूप समवायके साथ अविनाभावी नहीं है। यह हेतु अनित्य, अनेक, संयोगोंको भी सिद्ध कर देता है। नान्तरीय शब्दकी न अन्तरे भवति इति नान्तरीयकः न नान्तरीयक इति अनान्तरीयकः ऐसी निरुक्ति कीजाय।

गुणादीनां द्रव्यात्कथञ्चित्तादात्म्याभासनस्य द्रव्यपरिणामत्वस्य चाभावात्साधनशून्यं साध्यशून्यं च निदर्शनमिति चेन्न, अत्यन्तभेदस्य ततस्तेषामनिश्चयाच्चदसिद्धेः।

यहां वैशेषिक कहते हैं कि गुणादिदृष्टान्तमें द्रव्यसे कथंचित् तदात्मकरूपसे प्रकाशन होनारूप हेतु और द्रव्यका परिणाम होना रूप साध्य नहीं विद्यमान है। इस कारण आप जैनोंका गुणादि दृष्टान्त तो हेतु और साध्यसे रहित है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उनका कहना कथमपि अच्छा नहीं है। क्योंकि उस द्रव्यसे उन गुणादिकोंके अत्यन्त भेदका अभीतक निश्चय नहीं हुआ है। अतः आपके उस सर्वथाभेदकी सिद्धि नहीं है। तथा च हेतु और साध्य दोनों ही गुणादि नामक दृष्टान्तमें पाये जाते हैं।

गुणगुणिनौ, क्रियातद्वन्तौ, जातितद्वन्तौ च परस्परमत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् घटपटवदित्यनुमानमपि न तद्भेदैकान्तसाधनम्। कथञ्चिद्भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतोः कथञ्चित्तद्भेदसाधनतया विरुद्धत्वात्, सिद्धयभावात्।

नैयायिक अत्यंत भेदको सिद्ध करनेके लिये अनुमान प्रमाण देते हैं कि रूप, रस आदिक गुण, और पृथ्वी, जल, घट आदि गुणी द्रव्य, तथा हलन, चलन आदि क्रिया, और उस क्रिया वाले बादल, घोडा आदि क्रियावान् पदार्थ, एवं घटत्व, द्रव्यत्व आदि जातियां और उन जातियोंसे युक्त घट, आत्मा, गुण आदि पदार्थ (ये सम्पूर्ण पक्ष हैं) परस्परमें सर्वथा भिन्न हैं (साध्य) क्योंकि इनका भिन्न भिन्न ज्ञान होरहा है। (हेतु) जैसे कि घट, पट, पुस्तक आदिको भिन्न भिन्न ज्ञान होनेसे ही भिन्न मानते हो (अन्वय दृष्टान्त) उसी प्रकार घट पृथक् दीख रहा है और उसका रूपगुण निराला दीख रहा है, घोडेसे दौडना अतिरिक्त दीख रहा है। यहां आचार्य कहते हैं कि आपका यह उक्त अनुमान भी उन गुण, गुणी आदिके सर्वथा भेदको सिद्ध नहीं करपाता है। आत्मासे ज्ञान, घटसे रूप, घोडेसे दौडना और घटसे घटत्व सर्वथा अतिरिक्त तो दीखते नहीं हैं। हां ! कथंचिद् भिन्न दीख रहे हैं। जैसे कि आत्मा नहीं बदलता है किंतु घटज्ञान, पटज्ञान अनेक होते रहते हैं। घट वही रहता है किंतु पकानेपर कालेसे लालरूप हो जाता है, चलना छोडकर घोडा खडा होजाता है। इस प्रकारका कथंचिद् भेद प्रतिभासनरूप हेतुसे उनमें परस्पर कथंचिद्भेद ही सिद्ध होगा। जो कि आपके सर्वथा भेदरूप साध्यसे विपरीत है। अतः आप वैशेषिकोंका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। उससे सर्वथा भेदकी सिद्धि नहीं होती है।

न हि गुणगुण्यादीनां सर्वथा भेदप्रतिभासोऽस्ति कथंचित्तादात्म्यप्रतिभासनात्। तथाहि—गुणादयस्तद्वतः कथंचिदभिन्नास्ततोऽशक्यविवेचनत्वान्यथानुपपत्तेः।

गुण गुणी, क्रिया क्रियावान्, विशेष और नित्यद्रव्य आदिका सर्वथाभेदरूपसे प्रकाशन नहीं होता है किंतु कथंचित् तादात्म्यरूपसे ही प्रतिभासन हो रहा है। जैसे कि रूप, रस, आदि गुण तो घटकी आत्मा हो रहे हैं। ज्ञान आत्मामें ओतप्रोत तत्स्वरूप हो रहा है। इसी बातको स्पष्ट कर कहते हैं कि गुण, जाति, आदि पदार्थ गुणादिवानोंसे कथंचिद् अभिन्न हैं (प्रतिज्ञा) अन्यथा यानी यदि अभिन्न न होते तो उनका पृथक् पृथक् करना अशक्य न होता (हेतु) अर्थात् आत्मासे ज्ञान खींचकर अलग नहीं रख दिया जाता है ! ऐसे ही घटसे रूप भी निकालकर पृथक् नहीं दिखाया जासकता है यों इस हेतुसे गुण, गुणी आदि किसी अपेक्षासे अभिन्न हैं।

किमिदमशक्यविवेचनत्वं नाम ? विवेकेन ग्रहीतुमशक्यत्वमिति चेदसिद्धं गुणादीनां द्रव्याद्भेदेन ग्रहणात्, तद्बुद्धौ द्रव्यस्याप्रतिभासनात्, द्रव्यबुद्धौ च गुणादीनामप्रतीतेः। देशभेदेन विवेचयितुमशक्यत्वं तदिति चेत्, कालाकाशादिभिरनैकान्तिकं साधनमिति कश्चित्।

यहां किसी वैशेषिकका कटाक्ष है कि जैनोंका माना हुआ गुणगुणियोंका परस्पर पृथक्भाव न कर सकना भला इसका भाव क्या है ? बताओ यदि जैन लोग यह कहें कि गुण आदिकोंको

तद्विशिष्टोंसे भिन्न भिन्न होकर ज्ञानसे ग्रहण करनेकी अशक्यता है। यह आप जैनोंके हेतुका अर्थ है, तब तो अशक्यविवेचनत्व हेतु अपने गुण, गुणी, आदि पक्षमें रहता नहीं है। अतः स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि गुण, क्रिया आदिकोंका द्रव्यसे भिन्न होकरके ग्रहण हो रहा है। ज्ञानके द्वारा उन गुण आदिकका प्रतिभास होनेपर द्रव्यका प्रतिभास नहीं होता है और द्रव्यको जाननेवाले ज्ञानमें गुण आदिककी प्रतीति नहीं होती है। दालमें नीबूके रसका प्रत्यक्ष हो जानेपर भी रसवान् द्रव्यकी प्रतीति नहीं है और आंखसे देखे हुए पत्थरमें उसके रसका ज्ञान नहीं हो पाता है। यदि आप स्याद्वादी उस अशक्यविवेचनत्व हेतुका यह अर्थ करोगे कि गुणसे गुणीका देश भिन्न नहीं कर सकते हैं और गुणीसे गुण भी भिन्न देशमें नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार घट घटत्व आदिका भी देश भिन्न नहीं है, इस कारण गुण, गुणी आदि अभिन्न हैं। ऐसा माननेपर तो आप जैनोंका हेतु काल, आकाश, दिशा, आदिसे व्यभिचारी हो जावेगा। जिस देशमें काल है उसी देशमें आकाश, वायु, आतप (धूप) पुद्गलवर्गणायें भी विद्यमान हैं एतावता क्या वे सब अभिन्न हैं ? कथमपि नहीं, इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहा है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि—

तदनवबोधविजृम्भितम्। स्वाश्रयद्रव्याद्द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्याशक्यविवेचनत्वस्य कथनात्। न च तदसिद्धमनैकान्तिकत्वं साध्यधर्मिणि सद्भावाद्विपक्षाद्व्यावृत्तेश्च। तन्न गुणादीनां कथंचिद् द्रव्यतादात्म्यपरिणामेनावभासमानमसिद्धम्, नापि द्रव्यपरिणामत्वं, येन साध्यशून्यं वा निदर्शनमनुमन्यते, समवायो वार्थस्यैव पर्यायो न सिद्धयेत्।

वैशेषिकका वह उक्त कथन तो जैन सिद्धान्तको न जानकर व्यर्थकी चेष्टा करना है। सुनिये।

हमारे यहां अशक्यविवेचनत्व हेतुका यह अर्थ कहा गया है कि गुण आदिकोंकी अपने आधारभूत द्रव्यसे दूसरे द्रव्यपर लेजानेके लिये अशक्यता है। देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्त की आत्मामें नहीं प्रविष्ट होता है, गुरुके द्वारा पढानेपर शिष्यका ज्ञान ही उसकी आत्मामें विकासको प्राप्त होता है। कोटि प्रयत्न करनेपर भी गुरुका ज्ञान शिष्यकी आत्मामें नहीं पहुंच पाता है। अन्यथा पंडितोंके लडके विना प्रयत्नके पंडित बन जावें। पुद्गलका रूप, रस, गुण आत्मामें नहीं प्राप्त कराया जाता है और आत्माके ज्ञान, सुख पुद्गलद्रव्यमें नहीं रखे जासकते हैं। प्रत्येक ज्ञान, रूप, आदिक गुणों (पक्ष) में उक्त प्रकारका अशक्यविवेचनत्व हेतु स्थित है, अतः असिद्धहेत्वाभास नहीं है क्योंकि वह साध्यधर्मवाले पक्षमें विद्यमान है। और वह अशक्यविवेचनत्व हेतु सर्वथा भिन्न होरहे दण्ड, छत्र, कुण्डल आदि विपक्षोंमें वृत्ति नहीं है, यों विपक्षसे व्यावृत्ति होरही है, इस कारण व्यभिचारी

हेत्वाभास भी नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि गुण आदिकोंका अपने आधारभूतद्रव्योंसे कथंचित् तदात्मकरूप–परिणतिसे प्रकाशन होना असिद्ध नहीं है और उस हेतुका साध्य माना गया द्रव्यका पर्यायपना भी असिद्ध नहीं है। जिससे कि उदाहरण, साध्य अथवा साधनसे रहित माना जाता, तथा समवायसम्बन्ध भी अर्थकी पर्याय सिद्ध न हो पाता। भावार्थ—गुण, क्रिया, आदि दृष्टांतके समान समवाय भी तदात्मक–परिणतिरूप प्रतीति होनेसे द्रव्यका ही परिणाम सिद्ध होता है। युक्तियोंसे जच गयी बातको विचारवान् मान लिया करते हैं हठ नहीं रखते हैं।

सिद्धेऽपि समवायस्य द्रव्यपरिणामत्वे नानात्वे च किं सिद्धमिति प्रदर्शयति—

कुछ परिज्ञान कर वैशेषिक कहते हैं कि समवाय सम्बन्धको द्रव्यका तदात्मक–परिणामपना सिद्ध हो गया और अनेकपना भी सिद्ध हो गया। एतावता प्रकृतमें क्या बात सिद्ध हुयी ? बताओ इसका सुन्दर उत्तर आचार्य स्वयं दिखलाते हैं।

तदीश्वरस्य विज्ञानसमवायेन या ज्ञता।
सा कथंचित्तदात्मत्वपरिणामेन नान्यथा ॥ ७५ ॥
तथानेकान्तवादस्य प्रसिद्धिः केन वार्यते।
प्रमाणबाधनाद्भिन्नसमवायस्य तद्वतः ॥ ७६ ॥

इस कारण वैशेषिक लोगोंने विज्ञानके समवायसम्बन्ध करके ईश्वरको जो सर्वज्ञता सिद्ध की थी वह कथंचित् तदात्मकत्वपरिणामसे ही सिद्ध होसकती है। भिन्न पडे हुए समवाय, या विशेषणविशेष्य, इन दूसरे प्रकारोंसे नहीं बन सकती है। तथा इस प्रकार ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसम्बन्ध सिद्ध हो जानेसे अनेकान्त कहनेवाले स्याद्वादियोंका सिद्धान्त प्रसिद्ध होजाता है। उसको कोई रोक नहीं सकता है। सर्वथा भिन्न माने गये समवायसम्बन्धसे ज्ञानको आत्मामें रखना प्रमाणोंसे बाधित है। अतः उस समवायवाले इष्ट किये गये दोनों सम्बन्धियोंसे बीचमें भिन्न होकर समवायका रहना प्रमाणसे सिद्ध नहीं होसका है। इस बातको हम पहिले कह चुके हैं। सत्तुओंमें पानी डालनेसे लिबलिबापन उत्पन्न होकर विशिष्ट रस और बन्ध विशेष होजाता है यह रस और बन्धरूप तदात्मपरिणति सत्तुओंकी ही है, उनसे सर्वथा भिन्न कोई पदार्थ नहीं।

तदेवं समवायस्य तद्वतो भिन्नस्य सर्वथा प्रत्यक्षादिबाधनात्तदबाधितद्रव्यपरिणामविशेषस्य समवायप्रसिद्धेर्ज्ञानसमवायात् ज्ञो महेश्वर इति कथंचित्तादात्म्यपरिणामादेवोक्तः स्यात्।

इस कारण अबतक इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अपने सम्बन्धी समवायियोंसे सर्वथा भिन्न कल्पित किये गये समवायके माननेमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा होती है, और उस द्रव्यका तदात्मक विशेष परिणामको स्वीकार करनेसे कोई बाधा उपस्थित नहीं है। अतः तादात्म्यसम्बन्धरूप समवायकी प्रसिद्धि हुयी। ज्ञानके समवायसे आप अपने ईश्वरको विज्ञ कहते हैं इसका अभिप्राय यही निकला कि वह ईश्वरके साथ कथंचित् तादात्म्यपरिणाम होनेसे ही सर्वज्ञ हो सकता है। अन्यथा नहीं।

स च मोक्षमार्गस्य प्रणेतेति भगवानर्हन्नेव नामान्तरेण स्तूयमानः केनापि वारयितुमशक्यः। परस्तु कपिलवदज्ञो न तत्प्रणेता नाम।

और आत्मस्वरूप ज्ञानसे तादात्म्यसम्बन्ध रखता हुआ वह महेश्वर मोक्षमार्गको आद्य अवस्थामें प्रगट करनेवाला है। यह तो दूसरे शब्दोंमें आपने भगवान् जिनेन्द्रदेव अर्हत् परमेष्ठीकी ही स्तुति की जा रही है। अर्हन्तको सर्वज्ञपनेका किसीके द्वारा रोकनेपर भी निवारण नहीं हो सकता है। बलात्कारसे ज्ञानात्मक जिनेंद्रदेवकी स्तुति आपके मुखद्वारा निकल पडती है। हां, दूसरा कोई नैयायिक, या वैशेषिकके द्वारा कल्पित किया गया कर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान्, व्यापक, ईश्वर तो उस मोक्षमार्गका बतानेवाला नहीं सिद्ध हो सकता है। क्यों कि जैसे कपिल, बृहस्पति आदि ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण अज्ञ हैं। उसी तरह नैयायिकोंका ईश्वर भी ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण अज्ञ है, और अज्ञानी आत्मा भला लोष्ठके समान कैसे क्या उपदेश देवेगा? कुछ नहीं। इस प्रकार नैयायिकोंके मतका निराकरण हो चुका। प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंको नैयायिक मानते हैं और द्रव्य, गुण, कर्म, आदि सात पदार्थ वैशेषिकके यहां माने गये हैं। हाँ तत्त्वप्रणाली एकसी है। इसतरह नैयायिक और वैशेषिकमतमें प्रायः समानता देखी जाती है। इस कारण हमने भी दोनोंको ईश्वरवादमें या गुणगुणीके भेदवादमें एकसा मानकर दोनोंका मिलाकर निराकरण कर दिया है। इसके आगे बौद्धोंके बुद्धदेवका विचार करते हैं।

सुगतोऽपि न मार्गस्य प्रणेता व्यवतिष्ठते।
तृष्णाविद्याविनिर्मुक्तेस्तत्समाख्यातखड्गिवत्॥ ७७॥

विषयोंकी आकांक्षा करना तृष्णा है और अनात्मा, क्षणिक, दुःख अशुचि होरहे पदार्थोंमें आत्मा, नित्य, सुख, पवित्ररूपताका अभिमान करना अविद्या है। इन दोनोंके पूर्णरूपसे सदाके लिये नष्ट होजानेपर बुद्ध भगवान् मोक्षमार्गका प्रगट करनेवाला सिद्ध है; यों यह सौगतमन्तव्य भी प्रमाणोंसे व्यवस्थित नहीं है। जैसे कि बौद्धोंके यहां भले प्रकार विचारप्राप्त होगया खड्गी मोक्षमार्गका शासक नहीं है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

योऽप्याह " अविद्यातृष्णाभ्यां विनिर्मुक्तत्वात्प्रमाणभूतो जगद्धितैषी सुगतो मार्गस्य शास्तेति " सोऽपि न प्रेक्षावान् तथा व्यवस्थित्यघटनात् ।

इस कारिकाका भाष्य ऐसा है कि जो भी कोई बुद्धमतानुयायी वादी यह कहता है कि "अनेक जीवोंके द्वारा विश्वासको प्राप्त प्रमाणभूत और जगत्के सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाला बुद्ध भगवान् ही अविद्या तथा तृष्णाके बाल बाल सर्वथा दूर हो जानेसे मोक्षमार्गका शिक्षण करनेवाला है।" ग्रंथकार कहते हैं कि वह भी बौद्धमती हिताहितका विचार करनेवाला नहीं है। क्योंकि वैसे माने गये के अनुसार बुद्धकी व्यवस्था घटित नहीं हो सकती है । सुनियेः—

न हि शोभनं सम्पूर्णं वा गतः सुगतो व्यवतिष्ठते, क्षणिकनिरास्रवचित्तस्य प्रज्ञापारमितस्य शोभनत्वसंपूर्णत्वाभ्यामिष्टस्य सिद्ध्युपायापायात् ।

सुगत शब्दके निरुक्तिसे तीन अर्थ होते हैं। पहिले " सु " उपसर्गके प्रकृतमें शोभन, सम्पूर्ण, सुष्ठु, ये तीन द्योत्य अर्थ हैं । तिनमें प्रथमके दो अर्थ तो बुद्धमें घटते नहीं हैं । परिशेषमें तीसरा अर्थ ही मानना पडेगा। यानी फिर लौट कर न आनारूप अनावृत्तिसे बुद्ध चला गया, वह या उसका चित्त पुनः नहीं उत्पन्न होगा अर्थात् शून्यवादमें प्रवेश समझिये । प्रथमके दो अर्थोंका भी अब विचार करते हैं। देखिये आप बौद्धोंके विचार अनुसार—

सुगत शब्दका अर्थ यदि यह किया जाय कि " सु " यानी शोभायुक्त होकर " गतः " माने प्राप्त हो गया । भावार्थ—संसार अवस्थामें क्षणिकज्ञानकी सन्तान अनेक पूर्ववासनाओंसे वासित होती हुयीं उत्पन्न होती रहती हैं । किंतु सुगतकी ज्ञानसन्तान तो अविद्या और तृष्णाकी वासनाओंके आस्रवसे रहित होकर अच्छी तरह क्षणिक उत्पन्न होती रहती है और मोक्षावस्थामें भी उस चित्तकी सन्तान बराबर पैदा होती रहती है । अथवा सुगतका दूसरा अर्थ यह किया जाय कि " सु " माने सम्पूर्णरूपसे " गतः " यानी पदार्थोंका जाननेवाला सुगत है। भावार्थ–सर्वपदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेवाले सर्वज्ञप्रत्यक्षसे स्वलक्षण, क्षणिक, दुःख, शून्यरूप चार आर्यसत्योंको जानता है । और वह सुगत भविष्यमें भी इनको जानता रहेगा । गत्यर्थक " गम् " धातुके ज्ञान, गमन, प्राप्ति और सर्वथा चला जाना (मोक्ष) ये अर्थ माने गये हैं। यों उक्त दोनों ही तरहसे सुगतकी व्यवस्था नहीं हो सकती है क्योंकि आस्रवरहित क्षणिकचित्तोंके उत्पादकको आपने शोभनपनसे इष्ट किया है और भूत, वर्तमान, भविष्यत् पदार्थोंके सम्पूर्णपने जाननेवाली बुद्धिके पारको प्राप्त हो जाना अर्थ माना है, जब कि इनकी सिद्धिका उपाय आपके पास नहीं है ।

भावनाप्रकर्षपर्यन्तस्तत्सिद्ध्युपाय इति चेत्, न, भावनाया विकल्पात्मकत्वेनातत्स्वविषयायाः प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तायास्तत्त्वज्ञानवैतृष्ण्यस्वभावोदयविरोधात् ।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि " हम किसीके नहीं और हमारा कोई नहीं है " तथा " सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं आत्मारूप नहीं हैं " इस प्रकारकी भावनाओंको बढाते, बढाते, अन्तमें जाकर शोभनपना और सम्पूर्णपना प्राप्त हो जाता है। यह उसे सुगत होनेकी सिद्धिका उपाय है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि आपने श्रुतमयी और चिन्तामयी भावनाओंको विकल्पज्ञानात्मक माना है और विकल्पज्ञान आपके यहां वस्तुको छूनेवाला न होनेके कारण झूंठा ज्ञान माना गया है। जब भावनाएं वस्तुरूपतत्त्वोंको विषय नहीं करती हैं तब ऐसी असत्य भावनाओंके अन्तिम उत्कर्ष बढ जाना प्राप्त होजानेपर भी समीचीन तत्त्वोंका ज्ञान और तृष्णाका अभावरूप वैराग्य इन स्वभावोंकी उत्पत्ति होनेका विरोध है अर्थात् बढे हुए भी झूंठे अतत्त्वोंके ज्ञानसे बुद्धके ज्ञान वैराग्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। मिथ्याज्ञानोंसे वीतराग विज्ञान नहीं उपजता है ॥

न हि सा श्रुतमयी तत्त्वविषया श्रुतस्य प्रमाणत्वानुषंगात्, तत्त्वविवक्षायां प्रमाणं सेति चेत् तर्हि चिन्तामयी स्यात् तथा च न श्रुतमयी भावना नाम, परार्थानुमानरूपा श्रुतमयी, स्वार्थानुमानात्मिका चिन्तामयीति विभागोऽपि न श्रेयान्, सर्वथा भावनायास्तत्त्वविषयत्वायोगात्।

वह आपकी मानी हुयी श्रुतमयी–भावना तो वास्तविकतत्त्वोंको नहीं जान सकती है। यदि श्रुतमयी भावनासे शास्त्रोक्त तत्त्वोंका चिन्तन करोगे तो शास्त्रज्ञानको तीसरा प्रमाण माननेका प्रसङ्ग आवेगा, किन्तु आप बौद्धोंने प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं। यदि आप ऐसा कहोगे कि निर्विकल्पक ज्ञानके विषयभूत वास्तविक तत्त्वोंको शास्त्रके द्वारा कहनेकी इच्छा होनेपर श्रुतमयी भावनाको भी हम परार्थानुमान प्रमाण मानते हैं, तब तो वह परार्थानुमानरूप श्रुतमयी भावना नहीं रही किन्तु दूसरोंके लिए बनाये गये अनुमानरूप शास्त्रके वचनोंकी भावना करते करते चिन्तामयी भावना पैदा हो गयी है। क्या अप्रामाणिक वचनोंसे परार्थानुमानरूप श्रुतमयी भावना और स्वार्थानुमानरूप चिन्तामयी भावना उत्पन्न होसकती है ? कभी नहीं। चूहोंसे उत्पन्न किये गये भी चूहे ही होते हैं। झूंठे ज्ञानोंसे सच्चे ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। इस कारण परार्थानुमानरूप श्रुतमयी और स्वार्थानुमान चिन्तमर्याका भेद करना भी अच्छा नहीं है। क्योंकि आपके यहां शब्दोंकी योजनासहित ज्ञानको भावना माना है। ऐसी अवस्तुको विषय करनेवाली भावनाके द्वारा ठीक ठीक तत्त्वोंको जानलेना आपके मतसे ही नहीं बनता है।

तत्त्वप्रापकत्वाद्वस्तुविषयत्वमिति चेत्, कथमवस्त्वालंबना सा वस्तुनः प्रापिका ?

बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान ही परमार्थभूत वस्तुको विषय करता है। सविकल्पक ज्ञान वस्तुको छूता नहीं, केवल मिथ्यावासनाओंसे पैदा होकर अपना संवेदन करा लेता है, किन्तु कोई कोई मिथ्याज्ञान भी तत्त्वोंकी प्राप्ति करानेमें कारण पडते हैं, अतः परम्परासे वस्तुको विषय करनेवाले कहे जाते हैं। जैसे कि पर्वतमें वह्निका संशय होनेपर अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, इस कारण वह्निकी प्राप्ति कराने में वह संशयज्ञान भी दूरवर्ती कारण होजाता है। उसी तरह भावनाज्ञान भी तत्त्वोंका प्रापक है। पूर्वमें ज्ञप्ति होती है, पुनः अर्थमें प्रवृत्ति होती है, पश्चात् अर्थकी प्राप्ति होती है, प्राप्तिकालतक वह क्षणिक निर्विकल्पक ज्ञान तो ठहरता नहीं है। इच्छाओं द्वारा सविकल्पक ज्ञान उपजा लिया जाता है, अतः प्राप्तिकालमें सविकल्पक ज्ञान है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम जैन पूंछते हैं कि अपरमार्थभूत अवस्तुको जाननेवाली वह मिथ्याज्ञानरूप भावना सच्ची वस्तुको प्राप्त करानेमें कैसे कारण हो जावेगी? क्या सीपमें पैदा हुए चांदीके ज्ञानसे यथार्थ चांदीकी प्राप्ति हो सकती है? नहीं।

तदध्यवसायात्तत्र प्रवर्त्तकत्वादिति चेत्, किं पुनरध्यवसायो वस्तु विषयीकुरुते यतोस्य तत्र प्रवर्त्तकत्वम्?

यदि बौद्ध ऐसा कहें कि सीपमें पैदा हुआ चांदीका ज्ञान चांदीका निश्चय न करानेके कारण प्रवर्त्तक नहीं है, किंतु भावनारूप ज्ञान उन परार्थानुमानरूप शास्त्रके विषयोंका निश्चय करानेवाला है इस कारण उस वस्तुमें प्रवृत्ति करा देवेगा। बौद्धोंके ऐसा कहनेपर तो हम जैन आपादन करते हैं कि आपने निश्चयज्ञानको सविकल्पक ज्ञान कहा है और सविकल्पक ज्ञान आपके मतमें झूंठा ज्ञान है। ऐसी दशामें क्या फिर वह निश्चयरूप मिथ्याज्ञान यथार्थभूत वस्तुको विषय कर लेता है? बताओ। जिससे कि निश्चयज्ञानसे वस्तुमें प्रवृत्ति हो जावे। भावार्थ—निश्चयात्मक ज्ञान भी आपके मतसे ठीक वस्तुमें प्रवृत्ति करानेवाला सिद्ध नहीं होता है।

स्वलक्षणदर्शनवशप्रभवोऽध्यवसायः प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वात्प्रवर्तक इति चेत्, प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पस्तथास्तु।

" वस्तुभूत स्वलक्षणसे उत्पन्न हुए निर्विकल्पकप्रत्यक्षके अधीन होकर पैदा हुआ निश्चयज्ञान प्रवृत्तिके विषयको दिखलानेवाला होनेसे प्रवर्तक माना जाता है " यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्ष ज्ञानके पीछे होनेवाला चाहे कोई विकल्पज्ञान भी प्रवृत्तिके योग्य विषयको प्रदर्शन करनेवाला होनेसे प्रवर्तक हो जाओ। जैनसिद्धान्तमें प्रमाणज्ञानसे ज्ञप्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होती हुई मानी गयी हैं। इसका भाव यही है कि ज्ञान, प्रवृत्ति और प्राप्तिके विषयको जता देता है। प्रवृत्ति, निवृत्ति या प्राप्ति करना ज्ञाताकी इच्छा और प्रयत्नसे संबन्ध रखती हैं। क्या सूर्य चन्द्रमाके ज्ञान, सूर्य

चन्द्रको हाथमें प्राप्त करा देते हैं ? इसी तरह अनेक उपेक्षणीय पदार्थोंके ज्ञान हमें लाखों, करोडों, होते रहते हैं, किंतु उन उदासीनविषयोंमें प्रवृत्ति या प्राप्ति नहीं कराते हैं। सकृत यह है कि जैसे वस्तुभूत स्वलक्षणको जाननेवाले दर्शनके पश्चात् उत्पन्न हुआ निश्चयज्ञान प्रवर्तक है। उसी प्रकार प्रत्यक्षके पीछे पैदा हुआ विकल्पज्ञान भी उस प्रकार परम्परासे वस्तुको छूने वाला होनेसे प्रवर्तक हो जाओ, कोई निवारक नहीं है।

समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानाध्यवसायस्य तथाभावे दर्शनोत्थाध्यवसायस्य किमतथाभावस्तदविशेषात्।

बौद्धलोग परमार्थभूत वस्तुको जाननेवाले अकेले निर्विकल्प प्रत्यक्षको ही बढिया प्रमाण मानते हैं। विकल्पस्वरूप अनुमान भी उन्होंने क्षणिकपना और दान करनेवाले मनुष्यकी स्वर्ग को प्राप्त करानेवाली शक्ति तथा हिंसककी नरक जानेकी शक्तिको जाननेवाला होनेसे प्रमाण माना है। वह अनुमान किसी नयी वस्तुको विषय नहीं करता है किन्तु क्षणिकपन आदि विषयमें उत्पन्न हुए संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपोंको दूर करता रहता है। वस्तुस्वरूप क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाणकरके निर्विकल्पकरूप पहिले ही हो जाता है। यदि क्षणिकत्व आदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे न जाने गये होते तो वे वास्तविक नहीं ठहर सकते थे। किन्तु क्या करें, वस्तुभूत क्षणिकत्व आदिमें मिथ्याज्ञानी शीघ्र विपर्यय, संशयरूप समारोप कर लेते हैं। उसको दूर करनेके लिये अनुमानप्रमाणका उत्थान किया जाता है। इस कारण हम बौद्धलोग समारोपका व्यवच्छेद करनेवाला होनेसे अनुमानरूपनिश्चयज्ञानको वैसा होनेपर प्रवर्तक मानते हैं। ऐसा बौद्धोंके माननेपर हम जैन कहते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्षको कारण मान कर उत्पन्न हुए निश्चयरूप विकल्पक उस प्रकार ज्ञानको अनुमानके समान क्या प्रवर्तक पना नहीं है ? बताओ। दोनों निश्चयात्मक उन ज्ञानोंमें हमारी समझसे कोई अन्तर नहीं है। इन्द्रिय और अर्थके योग्यक्षेत्रमें अवस्थित होनेपर उत्पन्न हुए अवग्रहज्ञानके बाद पैदा होनेवाले सैकडों ईहा, अवाय, ज्ञान अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्ति करानेवाले देखे जाते हैं।

प्रवृत्तस्यारोपस्य व्यवच्छेदकोऽध्यवसायः प्रवर्तको न पुनः प्रवर्तिष्यमाणस्य व्यवच्छेदक इति ब्रुवाणः कथं परीक्षको नाम ?।

अनेक लोगोंको पदार्थोंके कालान्तरतक स्थायीपनेका पूर्वसे ही मिथ्याज्ञान है। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानके समय किसी समारोपकी सम्भावना नहीं है। इस कारण पूर्वकालसे ही प्रवृत्त हुए समारोपोंका व्यवच्छेद करनेवाला क्षणिकपनेका अनुमानरूप निश्चयज्ञान प्रवर्तक कहा जाता है। किन्तु भविष्यमें पैदा होनेवाले संशय आदिकोंको सम्भाव्यरूपसे दूर करनेवाले उन प्रत्यक्षोंके बाद उत्पन्न हुए

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विकल्पज्ञानोंको हम प्रवर्त्तक नहीं मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार पक्षपातके अधीन बोलनेवाला बौद्ध भला परीक्षक कैसे हो सकता है ? नहीं अर्थात् क्या पूर्वमें किये गये चोरी, झूंठको छुडानेवाले उपदेश अच्छे हैं और भविष्यमें चोरी झूंठका त्याग करानेवाले उपदेश प्रमाण नहीं माने जावेंगे ? प्रत्युत उत्पन्न दोषोंके दूर करनेमें कुछ तत्त्व भी नहीं है, सांपके निकल जानेपर लकीरको पीटनेके समान व्यर्थ है। भविष्य दोषोंका निवारण ही किया जाता है। इस तरह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें संशय आदिकके दूर करनेवाले विकल्पोंको भी प्रवर्त्तक मानना चाहिये। पक्षपातसे बोलनेवाले पुरुष न्यायकर्त्ता परीक्षक नहीं कहे जाते हैं।

तत्त्वार्थवासनाजनिताध्यवसायस्य वस्तुविषयतायामनुमानाध्यवसायस्यापि सेष्टेति तदात्मिका भावना न तत्त्वविषयातो न विद्याप्रसूतिहेतुरविद्यातो विद्योदयविरोधात्।

ज्ञानोंके बाद उत्पन्न होने वाली संस्काररूप वासनायें दो प्रकारकी हैं। एक तो ज्ञानद्वारा ठीक ठीक वस्तुको पीछेसे भी जतानेके लिये कारण हैं वे तत्त्वार्थवासनाएं कही जाती हैं और जो इष्ट, अनिष्ट आदि झूंठी कल्पनाएं कराने वाली हैं, वे मिथ्या वासनाएं हैं। वस्तुग्राही प्रत्यक्षसे वास्तविक अर्थोंको जानकर उनसे पैदा हुयी वासनाएं सच्चे अध्यवसायको पैदा करती हैं। इस कारण वह निश्चय ज्ञान अपने विषय होरहे वस्तुओंको जानता है। ऐसा बौद्धों द्वारा नियम करनेपर अनुमानरूप निश्चय भी वस्तुभूत क्षणिकत्वको जाननेवाला इष्ट किया है। इस प्रकार वह भावना स्वरूप ज्ञान भी वस्तुस्वरूपको ही विषय करनेवाला मानना चाहिये। अपरमार्थभूत अतत्त्वोंको जाननेवाला आपका माना गया अध्यवसायात्मक भावनाज्ञान तो ठीक नहीं है। इस कारण यदि भावनाको मिथ्याज्ञानस्वरूप अविद्या माना जावेगा तब तो वह सर्वज्ञतारूप विद्याको उत्पन्न करनेवाली कारण न हो सकेगी क्योंकि अविद्यासे विद्याके उदय होनेका विरोध है।

नन्वविद्यानुकूलाया एवाविद्याया विद्याप्रसवनहेतुत्वं विरुद्धं न पुनर्विद्यानुकूलायाः सर्वस्य तत एव विद्योदयोपगमादन्यथा विद्यानादित्वप्रसक्तेः संसारप्रवृत्त्ययोगात्।

शंकाकारके पदस्थमें प्राप्त होकर बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि अविद्या दो तरहकी है। प्रथम तो सम्यग्ज्ञानकी सहायकरूप अविद्या है और दूसरी मिथ्याज्ञानके सहकारिणी अविद्या है। मिथ्या ज्ञानके अनुकूलआचरण करनेवाली अविद्यासे ही विद्याकी उत्पत्तिकी हेतुताका विरोध है। किंतु फिर विद्याकी सहकारिणी अविद्यासे विद्याकी उत्पत्तिका विरोध नहीं है। सब लोग अविद्यापूर्वक ही विद्याकी उत्पत्ति मानते हैं। आप जैनियोंके यहां भी सम्यग्दर्शनके उस पूर्ववर्त्ती मिथ्याज्ञानसे ही सम्यग्ज्ञान होना माना है।

सब लोग मूर्ख अवस्थासे ही पण्डित बनते हैं। अल्पज्ञतासे ही सर्वज्ञता होती है अन्यथा यानी यदि ऐसा मानोगे तो आप जैनोंको सम्यग्ज्ञान अनादिकालीन मानना पडेगा। सर्वज्ञपना भी सर्वदासे स्वीकार करना पडेगा क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सर्वज्ञतासे ही आपके यहां भविष्यमें सम्यग्ज्ञान और सर्वज्ञता पैदा होगी। तथाच संसारकी प्रवृत्ति भी न हो सकेगी सर्वजीव अनादिसे सर्वज्ञ हो जावेंगे। अतः विद्याके अनुकूल पडनेवाली अविद्यासे विद्याकी उत्पत्ति मानियेगा।

इति चेन्न। स्याद्वादिनां विद्याप्रतिबन्धकाभावाद्विद्योदयस्येष्टेः। विद्यास्वभावो ह्यात्मा तदावरणोदये स्यादविद्याविवर्तः स्वप्रतिबन्धकाभावे तु स्वरूपे व्यवतिष्ठत इति नाविद्यैवानादिर्विद्योदयनिमित्ता।

अब ग्रन्थकार कहते हैं कि बौद्धोंका यह कहना तो ठीक नहीं है। क्यों कि–

हम स्याद्वादियोंके यहां अविद्यासे विद्याकी उत्पत्ति नहीं मानी है, किन्तु विद्या अर्थात् ज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशम या क्षयरूप अभावसे विद्याकी उत्पत्ति स्वीकार की है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। पूर्वमें बन्धे हुए ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर आत्मा मिथ्याज्ञान या अज्ञानरूप पर्यायोंको धारण करता है और जब उस ज्ञानके अपने प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव हो जाता है, तब तो वह आत्मा अपने स्वभावरूप केवलज्ञानमें व्यवस्थित होकर परिणमन करता रहता है। क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंका जानना उसका स्वायत्त धर्म है। इस प्रकार अनादिकालीन अविद्याही विद्याकी उत्पत्तिका कारण नहीं है। प्रत्युत कर्मोंके नाशसे और अविद्याके अभावसे आत्मामें स्वाभाविक विद्या उत्पन्न हो जाती है।

सकलविद्यामुपेयामपेक्ष्य देशविद्या तदुपायरूपा भवत्यविद्यैवेति चेत् न देशविद्याया देशतः प्रतिबन्धकाभावादविद्यात्वविरोधात्।

यहां बौद्ध यह कहें कि आपने अन्तिम फलस्वरूप प्राप्त करने योग्य पूर्ण केवलज्ञानकी अपेक्षा करके एकदेश अल्पज्ञानको उसका कारण हो जाना माना ही है। अर्थात् श्रुतज्ञानसे या अवधि, मनःपर्यय ज्ञानके पश्चात् केवलज्ञान पैदा होता है। वह श्रुतज्ञान अल्पज्ञान है तथा सम्पूर्ण अर्थपर्यायोंका ज्ञान न करनेवाला होनेसे अज्ञानरूप भी है। बारहवें गुणस्थानमें केवलज्ञानावरणके उदय होनेसे अज्ञानभाव माना है। इस कारण वह अविद्या या अज्ञान ही प्राप्तव्य केवलज्ञानका उपाय है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो बौद्धोंका कहना उचित नहीं है क्यों कि श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान ये अविद्यारूप नहीं है। अपने अपने आवरण कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए हैं। अतः उनको अविद्यापनका विरोध है। खोटे ज्ञान या अज्ञान ही अविद्या कहे जा सकते हैं।

तथाच विद्यारूप श्रुतज्ञान आदि अल्पज्ञानोंको अविद्या नहीं कह सकते हैं तब तो विद्यासे ही पूर्ण ज्ञान हुआ, अविद्यासे नहीं। विशेष बात यह है कि क्षपकश्रेणीमें भले ही किन्ही मुनिमहाराजके सर्वावधि या मनःपर्ययज्ञान हो चुका हो किंतु उनके उपयोगात्मक श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञानोंका पिंड शुक्लध्यान है। इसमें मति, अवधि, मनःपर्ययका रंचमात्र प्रकाश नहीं है। अतः बारहवें गुणस्थानमें पूर्ण श्रुतज्ञान है, उस परोक्षरूप पूर्णज्ञानसे ही परिपूर्ण केवलज्ञान हुआ है।

या तु केनचिदंशेन प्रतिबन्धकस्य सद्भावादविद्याऽऽत्मनः, सापि न विद्योदयकारणं, तदभाव एव विद्याप्रसूतेरिति न विद्यात्मिका भावना गुरुणोपदिष्टा साध्यमाना सुगतत्वहेतुर्यतः सुगतो व्यवतिष्ठते।

कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले श्रुतज्ञान आदिमें देशघातिप्रकृतिका उदय होनेसे आत्मामें कुछ अज्ञानका अंश रहता है। इस कारण उस अंशरूप अविद्यासे विद्याका उदय माना जाता तो बौद्धके सिद्धान्तको सहकारिता प्राप्त हो भी जाती, किन्तु जो भी वह अज्ञानका अंश है वह तो विद्याका कारण नहीं माना है। प्रत्युत (बल्कि) उसके विपरीत जैनसिद्धान्तमें उस अविद्याके अंशोंका पूर्णरूपसे अभाव हो जानेपर ही विद्याकी उत्पत्ति मानी गयी है। सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले सम्यग्ज्ञानमें भी हम उसके पूर्वमें हुए मिथ्याज्ञानको कारण नहीं मानते हैं। बल्कि ज्ञानका कारण ज्ञान ही है। ज्ञानमें सम्यक्पनेके व्यवहारका कारण दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय, उपशम या क्षयोपशम है तथा ज्ञानमें मिथ्यापनके कथन करनेका कारण मिथ्यात्वकर्मका उदय है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानके पूर्वमें मिथ्याज्ञान था और अज्ञानभाव भी पूर्णज्ञानके प्रथम था। किन्तु अज्ञान या मिथ्याज्ञान ये सम्यग्ज्ञान या पूर्णज्ञानके कारण नहीं हैं। हां! उनका अभाव ही विद्याका कारण होता है। इस प्रकार स्वयं अविद्यारूप किन्तु भविष्यमें विद्याका कारण ऐसी गुरुओंके द्वारा परार्थानुमानरूप उपदेशी गयी और पूर्णरूपसे अन्तपर्यन्त साधी गयी (अभ्यास की गयी) आपकी मानी हुई श्रुतमयी और चिन्तामयी भावना तो सुगतके पूर्णज्ञान उत्पन्न करनेमें कारण नहीं हो सकती है, जिससे कि बुद्धका सर्वज्ञपन सिद्ध होकर कुछ दिन संसारमें उपदेशके लिए ठहरना व्यवस्थित बन सके।

भवतु वा सुगतस्य विद्यावैतृष्ण्यसंप्राप्तिस्तथापि न शास्तृत्वं व्यवस्थानाभावात्, तथाहि—"सुगतो न मार्गस्य शास्ता व्यवस्थानविकलत्वात् खड्गिवत्, व्यवस्थानविकलोऽसावविद्यातृष्णाविनिर्मुक्तत्वाच्चद्वत्"।

अथवा आपके कथनमात्रसे बुद्धदेवको सर्वज्ञता और तृष्णारहित वैराग्यकी समीचीन प्राप्ति होजाना मान भी लिया जाय तो भी बुद्ध सज्जनोंको मोक्षमार्गके उपदेशकी शिक्षा नहीं कर सकते

हैं। क्योंकि पूर्णज्ञान और वैराग्यके होनेपर शीघ्र ही उनकी मोक्ष हो जावेगी। वे संसारमें ठहर न सकेंगे। इसी बातको अनुमान द्वारा स्पष्ट कहते हैं। " सुगत (पक्ष) मोक्षमार्गका शिक्षक नहीं है (साध्य) क्योंकि वह संसारमें व्यवस्थित रखनेवाले कारणोंसे रहित होगया है (हेतु) जैसे कि बौद्धोंका माना गया खड्गी (अन्वयदृष्टान्त) आप बौद्धोंने मुक्तावस्थामें मुक्त खड्गी जीवोंका उपदेश देना कार्य नहीं माना है। वे मुक्तावस्थामें संसारकी वासनाओंके आस्रवरहित होकर क्षणिक ज्ञानरूप है "। उक्त अनुमानमें दिये गये हेतुको सिद्ध करते हैं " कि आपका माना हुआ वह बुद्ध (पक्ष) संसारमें स्थित रहनेवाला नहीं है (साध्य) क्योंकि उसी खड्गी मुक्तात्मा (अन्वयदृष्टान्त) के समान संसारस्थितिके कारण अविद्या और रागद्वेषोंसे पूर्णरूपसे सर्वदाके लिये वह मुक्त होगया है " (हेतु)।

जगद्धितैषितासक्तेर्बुद्धो यद्यवतिष्ठते।
तथैवात्महितैषित्वबलात् खड्गीह तिष्ठतु ॥ ७८ ॥

यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे कि संसारभरके प्राणियोंको हित प्राप्त करानेकी तीव्र अभिलाषामें आसक्त होजानेसे सर्वज्ञ बुद्ध कुछ दिनतक संसारमें ठहर जाते हैं, तब तो आत्माको हितस्वरूप शान्तियुक्त निर्वाण प्राप्त करानेकी अभिलाषाके बलसे खड्गी मुक्तात्मा भी इस ही प्रकार यहां संसारमें ठहर जाओ। भावार्थ—जैनमतमें जैसे अन्तकृत् केवली होते हैं, उसी प्रकार बौद्धोंके यहां तलवार आदिसे घातको प्राप्त हुए कतिपय मुक्तात्मा माने गये हैं वे बिना उपदेश दिये ही शान्तिरहित निर्वाणको प्राप्त होजाते हैं। आत्माको शान्त करनेकी उनको अभिलाषा बनी रहती है।

" बुद्धो भवेयं जगते हिताये,, ति भावनासामर्थ्यादविद्यातृष्णाप्रक्षयेऽपि सुगतस्य व्यवस्थाने खड्गिनोप्यात्मानं शमयिष्यामीति भावनाबलाद्व्यवस्थानमस्तु विशेषाभावात्।

पूर्व जन्ममें या इस जन्ममें बुद्धने यह भावना भायी थी कि मैं जगत्का हित करनेके लिये सर्वज्ञ बुद्ध हो जाऊं, इस भावनाकी शक्तिसे अविद्या और तृष्णाके सर्वथा क्षय होनेपर भी सुगतकी स्थिति संसारमें उपदेश देनेके लिये हो जाती है। ऐसा स्वीकार करनेपर हम भी आपादन करते हैं कि आत्माको शान्तिलाभ कराऊंगा, ऐसी पूर्वजन्मकी या इस जन्मकी भावनाकी सामर्थ्यसे खड्गीका भी संसारमें अवस्थान हो जाओ, बुद्ध और खड्गीका संसारमें ठहरने और न ठहरनेमें नियामक कोई विशेष नहीं है।

तथागतोपकार्यस्य जगतोऽनन्तता यदि।
सर्वदावस्थितौ हेतुर्मतः सुगतसन्ततेः ॥ ७९ ॥

खड्गिनोप्युपकार्यस्य स्वसन्तानस्य किं पुनः ।
न स्यादनन्तता येन तन्निरन्वयनिर्वृतिः ॥ ८० ॥
स्वचित्तशमनात्तस्य सन्तानो नोत्तरत्र चेत् ।
नात्मानं शमयिष्यामीत्यभ्यासस्य विधानतः ॥ ८१ ॥
न चान्त्यचित्तनिष्पत्तौ तत्समाप्तिर्विभाव्यते ।
तत्रापि शमयिष्यामीत्यपेक्षणात् ॥ ८२ ॥

क्षणिक विज्ञानरूप सुगतकी सन्तानके सर्वदा स्थित रहनेमें यदि यह हेतु माना जावे कि बुद्धके द्वारा उपकृत होनेवाला जगत् अनन्त कालतक धारावाहसे स्थिर रहेगा। इस कारण बुद्ध भी सन्तानरूपसे अनन्त कालतक सदा संसारमें बने रहेंगे तो हम जैन भी कटाक्ष करते हैं कि खड्गिकी अपनी ज्ञानसन्तान भी खड्गिके द्वारा शान्तिलाभसे उपकृत होती हुई अनन्तकाल तक रहेगी, फिर क्यों नहीं खड्गिकी संसारमें स्थिति मानी जाती है? जिससे कि उस खड्गिकी निरन्वय मोक्ष होगयी मानी जाय। आपने दीपके के बुझनेके समान सर्वथा अन्वयरहित होकर खड्गिकी मोक्ष मानी है, सो नहीं बन सकती है।

यदि आप बौद्ध यों कहें कि उस खड्गिके अपने ज्ञानरूप आत्माका सर्वदाके लिये शमन हो जाता है, सर्वथा अन्वय टूट जाता है, इस कारण उत्तरकाल भविष्यमें खड्गिके चित्तकी सन्तान नहीं चलती है। यह आपका कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि खड्गिके चित्तका शमन नहीं हुआ है। आत्माको मैं सदा शान्तिमार्गपर ले जाऊंगा। इस प्रकार भावनाका अभ्यास खड्गि बराबर कर रहा है।

यदि आप यह कहें कि भावना करते करते अन्तिमचित्तके उत्पन्न हो जानेपर खड्गिके उस ज्ञानसन्तानकी समाप्ति होना विचारपूर्वक मानी जाती है, सो यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि जिसको आप अन्तमें होनेवाला चित्त कहते हो उस समय भी "आत्माको शमन करूंगा" ऐसी भावना करना खड्गिके अभ्यासमें आरहा है, अतः उसकी अपेक्षासे आगे भी चित्तकी सन्तान चलेगी। इस प्रकार दीपकलिकाके समान निरन्वय होकर ज्ञानसन्तानका नाश हो जानारूप मोक्ष खड्गिके नहीं बन सकती है। सुगतके समान खड्गिकी भी ज्ञानधारा अनन्त काल तक चलती रहेगी अतः वह भी संसारमें ठहर सकता है।

चित्तान्तरसमारम्भे नान्त्यं चित्तमनास्रवम् ।
सहकारिविहीनत्वात्तादृग्दीपशिखा यथा ॥ ८३ ॥

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इत्ययुक्तमनैकान्तादबुद्धचित्तेन तादृशा ।
हितैषित्वनिमित्तस्य सद्भावोऽपि समो द्वयोः ॥ ८४ ॥
चरमत्वाविशेषस्तु नेतरस्य प्रसिद्धयति ।
ततोऽनन्तरनिर्वाणसिद्धयभावात्प्रमाणतः ॥ ८५ ॥

" खड्गिके अन्तका आस्रवरहित चित्त (पक्ष) दूसरे भविष्यचित्तोंको धारारूपसे उत्पन्न नहीं करता है (साध्य) क्योंकि वह सहकारीकारणोंसे रहित है (हेतु) । जैसे वत्ती, तैलसे रहित अन्तकी दीपशिखा पुनः दूसरी कलिकाओंको पैदा नहीं करती है " (दृष्टान्त) । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है । उक्त हेतुका उस प्रकारके सहकारी कारणोंसे रहित होरहे बुद्धके चित्तसे ही व्यभिचार हो जावेगा । अर्थात् सहकारीरहितपना बुद्धके चित्तमें है। किंतु दूसरे चित्तोंको नहीं पैदा करनारूप साध्य नहीं है । आपने बुद्धकी ज्ञानसन्तानको अनन्तकाल तक प्रसवशील माना है ।

यदि संसारी जीवोंके लिये हितके चाहनेकी इच्छाको भविष्यमें ज्ञानसन्तान चलनेका निमित्त कारण मानोगे तो वह भी दोनोंके समानरूपसे विद्यमान है । जैसे बुद्धके जगत्के हित करनेकी अभिलाषा है । वैसी ही खड्गिके आत्माको शान्ति करनेकी अभिलाषा भी वर्तमान है । अतः दोनों की विज्ञानधारा चलेगी । दूसरे खड्गिके विज्ञानमें अन्तमें होनेवाला यह विशेष भी सिद्ध नहीं है । क्योंकि बुद्धके समान खड्गि भी तो वस्तु है और वस्तु अनन्त काल तक परिणमन करती है । इस कारण अकेले खड्गिका ही निरन्वय नाश माना जाय और बुद्धको अनन्तकाल तक सन्तानक्रमसे स्थायी माना जाय, यह पक्षपात ठीक नहीं है । उस कारणसे आप प्रमाणोंके द्वारा अन्वयसहित ज्ञानसन्तानका नाश हो जानारूप शान्त मोक्षको सिद्ध नहीं कर सकते हैं । अथवा दीपकके ध्वन्सोंका भविष्यमें जैसे अन्तर नहीं है वैसा अन्तररहित अनन्तध्वन्सरूप मोक्ष नहीं कर सक्ता है ।

" खड्गिनो निरास्रवं चित्तं चित्तान्तरं नारभते जगद्धितैषित्वाभावे चरमत्वे च सति सहकारिरहितत्वात् तादृग्दीपशिखावदित्ययुक्तम्, सहकारिरहितत्वस्य हेतोर्बुद्धचित्तेनानैकान्तात्, तद्विशेषणस्य हितैषित्वाभावस्य चरमत्वस्य चाऽसिद्धत्वात्, समानं हि तावद्धितैषित्वं खड्गिसुगतयोरात्मजगद्विषयम् ।

ग्रन्थकार अपनी उक्त वार्त्तिकोंकी टीका करते हैं कि " खड्गिनामक मुक्तात्माका मोक्ष होनेपर पूर्वज्ञानोंके संस्कारोंसे आस्रवरहित चित्त है । वह चित्त भविष्यमें दूसरे चित्तोंको पैदा नहीं करता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि खड्गिका चित्त जगत्का हितैषी न होकर और अन्तिम होता हुआ सहकारी

कारणोंसे रहित है। (हेतु) जैसे कि तैल, बती आदि सहकारी कारणोंसे रहित और दूसरोंका हित न चाहनेवाली सबसे पिछली दीपकी शिखा उत्तरवर्ती शिखाओंको पैदा नहीं करती है किन्तु उसी समय शान्त हो जाती है (अन्वयदृष्टान्त) इसी तरह खड्गीका चित्त भी मुक्ति अवस्था प्राप्त करनेपर अतिशीघ्र समूल नष्ट हो जाता है " ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बौद्धका कहना भी युक्ति-शून्य है, क्योंकि उक्त अनुमानमें दिये गये सहकारीरहितपने हेतुका बुद्धके ज्ञानरूप चित्तसे व्यभिचार है। बुद्धका चित्त सहकारीकारणोंसे रहित है, किंतु भविष्यके अन्यचित्तोंको उत्पन्न करता रहता है। और उस हेतुके हितैषी न होना तथा अन्तिमपना ये दो विशेषण भी खड्गिरूप पक्षमें नहीं घटते हैं। इस कारण तुम्हारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी है कारण कि आत्माके शमनकी अभिलाषा और जगत्के हितकी अभिलाषारूप हितैषिता तो क्रमसे खड्गि और सुगतमें समानरूपसे रहती है। और वह चित्तसन्तानरूपसे सर्वदा रहेगा, अतः अनन्त है।

सर्वविषयं हितैषित्वं खड्गिनो नास्त्येवेति चेत्, सुगतस्यापि कृतकृत्येषु तदभावात् तत्र तद्भावे वा सुगतस्य यत्किञ्चनकारित्वं प्रवृत्तिनैष्फल्यात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि " हमारे दिये गये हेतुका जगत्की हितैषिताका अभावरूप विशेषण खड्गिमें घट जाता है, अर्थात् खड्गिके सम्पूर्ण जीवोंमें हितैषिता नहीं ही है, अपनी आत्माकी शान्तिका ही स्वार्थ लगा हुआ है ", इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर हम जैन कहेंगे कि जो आत्माएँ कृतकृत्य हो चुकी हैं, उनके प्रति वह सुगतकी भी हितैषिता नहीं है, तो सुगतकी भी सब जीवोंमें हितैषिता कहां सिद्ध होती है ? यदि मुक्तिको प्राप्त हो चुके उन कृतकृत्य जीवोंमें भी सुगतकी उस हितैषिताका सद्भाव मानोगे तो सुगतको चाहे जो कुछ भी व्यर्थ कार्य करते रहनेका प्रसंग आवेगा। जैसे कि बनियेने अपने लडकेको सिखाया था कि " मुख है तो बोल, ग्राहक नहीं हैं तो ठाली बैठा बांटोंको तोल " इस लोकोक्तिके अनुसार सुगत भी व्यर्थके कार्य करनेवाला सिद्ध होगा। जिन आत्माओंने अपना सम्पूर्ण कर्तव्य कर लिया है उनके प्रति किसी भी हितैषीका प्रवृत्ति करना व्यर्थ है, निष्फल है।

यत्तु देशतोऽकृतकृत्येषु तस्य हितैषित्वं तत्खड्गिनोपि स्वचित्तेषूत्तरेष्वस्तीति न जगद्धितैषित्वाभावः सिद्धः।

यदि सुगतकी हितैषिताका आप जो यह अर्थ करोगे कि जो क्षणिकविज्ञानरूप आत्माएँ कुछ अंशोंमें अपने कर्तव्यको कर चुके हैं और कुछ अंशोंमें कृतकृत्य नहीं हुए हैं उनमें सुगतकी हित करनेकी इच्छा है तब तो इसपर हम जैन कहते हैं कि ऐसी कुछ चित्तोंमें वह हितैषिता तो खड्गीके भी विद्यमान है। खड्गी भी अपने उत्तरकालमें होनेवाले विज्ञानरूप चित्तोंमें प्रशान्त करनेकी

हितैषिता रखता है इस प्रकार आपका जगत्के हितकी अभिलाषा रखनारूप हेतु खड्गीमें सिद्ध नहीं है। जगत्के भीतर खड्गी भी आगया है। जिस जगतका हित करना है, उन जीवोंमें अकृतकृत्य ही जीव लिये जावेंगे।

नापि चरमत्वं प्रमाणाभावात्।

खड्गीका चित्त दूसरे चित्तोंको उत्पन्न नहीं करता है। इस आपकी प्रतिज्ञामें दिये गये हेतुका अन्तिमपना विशेषण भी सिद्ध नहीं है। क्योंकि खड्गीके चित्तोंका कहीं अन्त होजाता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जब कि सब ही पदार्थ अनन्तकालतक परिणमन करनेके स्वभाववाले हैं। घट, पट, आदिके स्वलक्षण और बुद्धोंके चित्त अनन्तकालतक परिणमन करेंगे तो खड्गीके चित्तकी भी उत्तरोत्तर धारा उत्पन्न होती रहेगी, दीपककी कलिका भी काजलको उत्पन्न करती है और काजलसे उत्तरोत्तर काजल, वर्गणा, परमाणु, आदि पर्यायें होती रहती हैं। अतः दीपकलिकाका दृष्टान्त विषम है। कलिका और काजल तत्त्वान्तर नहीं हैं किन्तु रूप, रस आदिवाले पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं। पीले रंगसे काला रंग होगया है। उष्णस्पर्शसे शीतस्पर्श होगया है किन्तु पुद्गलतत्त्व नहीं बदला है।

चरमं निरास्रवं खड्गिचित्तं स्वोपादेयानारम्भकत्वाद्वर्तिस्नेहादिशून्यदीपादिक्षणवदिति चेत्, न, अन्योन्याश्रयणात्। सति हि तस्य स्वोपादेयानारम्भकत्वे चरमत्वस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च स्वोपादेयानारम्भकत्वसिद्धिरिति नाप्रमाणसिद्धविशेषणो हेतुर्विपक्षवृत्तिश्च। खड्गिसन्तानस्यानन्तप्रतिषेधायालं, येनोत्तरोत्तरैष्यच्चित्तापेक्षयात्मानं शमयिष्यामीत्यभ्यासविधानात्स्वचित्तैकस्य शमनेऽपि तत्सन्तानस्यापरिसमाप्तिसिद्धेर्निरन्वयनिर्वाणाभावः सुगतस्येवानन्तजगदुपकारस्य न व्यवतिष्ठेत तथापि कस्यचित्प्रशान्तनिर्वाणे सुगतस्य तदस्तु।

यदि आप बौद्ध इस अनुमानसे चरमपना सिद्ध करेंगे कि "खड्गिका आस्रवरहित चित्त अन्तिम है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उसके सबसे अन्तका चित्त स्वयं उपादानकारण बनकर किसी दूसरे उपादेयोंको उत्पन्न नहीं करता है (हेतु) जैसे कि अन्त (आखीर) की दीपकलिका बत्ती, तैल, और पात्रसे रहित होकर दूसरे कलिकारूप स्वलक्षणोंको उत्पन्न नहीं करती है। या बिजली और बबूला उत्तरवर्ती बिजली, बबूलारूप पर्यायोंको नहीं बनाते हैं" (अन्वय दृष्टान्त) आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अनुमान बनाना ठीक नहीं है। इसमें परस्पराश्रय दोष है। क्योंकि अभीतक खड्गिके चित्तका अन्तिमपना और अपने उपादेयको न उत्पन्न करना ये दोनों ही सिद्ध नहीं है। इस कारण अन्तिमपना कब सिद्ध हो? जब कि वह चित्त अपने उपादेयकार्यको पैदा न करे और अपने उपादेयोंका उत्पन्न न करना कब सिद्ध हो? जब कि पहले हेतुका चरमपना सिद्ध हो जाय। अतः

आपके पूर्व अनुमान और इस अनुमानमें परस्पराश्रय दोष हुआ, इस प्रकार पूर्व अनुमानमें दिये गये हेतुके हितैषिताका अभाव और अन्तिमपना ये दोनों विशेषण प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हैं और आपका हेतु बुद्धके चित्तरूप विपक्षोंमें वर्तमान है अतः व्यभिचारी भी है। इस कारण वह सहकारीरहितत्व हेतु खड्गीके चित्तसन्तानकी अनन्तताका निषेध करनेके लिये समर्थ नहीं है, जिससे कि चित्तसन्ततियोंका अन्वयसहित सर्वथा ध्वंस होजानारूप मोक्ष सिद्ध होता, खड्गिके आगे आगे भविष्यमें आने वाले चित्तोंकी अपेक्षासे अपनेको शान्त करूंगा, इस प्रकार भावनाका अभ्यास बना रहता है। उससे वर्तमानमें अपने चित्तका शमन होजाने पर भी उस खड्गीकी सन्तानकी पूर्णरूपसे समाप्ति होजाय, यह सिद्ध नहीं है। अतः अन्वयरहित तुच्छाभावरूप मुक्ति नहीं बनती है तथा च अनन्त जगत्के उपकार करनेवाले सुगतके समान खड्गीकी भी संसारमें स्थिति न होवे, यह बात नहीं है। तथापि यानी इस प्रकार सुगत और खड्गीके पूर्णरूपसे समानता होनेपर भी किसी अकेले खड्गीकी ही तुच्छ अभावरूप शान्त मुक्ति मानोगे तो बुद्धकी भी बुझे हुए दीपकके समान चित्तधाराका सर्वथा नाश होजाना रूप वह मोक्ष होजाओ। दोनोंमें अन्तर कुछ नहीं है।

तदा सुष्ठुगत एव सुगतः स च कथं मार्गस्य प्रणेता नाम।

उस कारणसे अब तक यही सिद्ध हुआ कि सुगत शब्दका अच्छी तरह चले जाना अर्थात् अपना सर्वथा खोज खो देना ही अर्थ है। पूर्वमें सुगतके तीन अर्थ कहे थे। उनमें " पुनरनावृत्या गतः " फिर लौट कर न आना रूप ही अर्थ आप बौद्धोंके कथनसे निकला, अब बतलाइये कि ऐसा असद्रूपसुगत मोक्षमार्गका पथप्रदर्शक भला कैसे हो सकता है ? कथमपि नहीं ।

मा भूत्तच्छान्तनिर्वाणं सुगतोऽस्तु प्रमात्मकः।
शास्तेति चेन्न तस्यापि वाक्प्रवृत्तिविरोधतः ॥ ८६ ॥

वैभाषिकका दीपकके बुझनेके समान वह शान्त निर्वाण न सिद्ध हो यह बात हम यौगाचार मानते हैं। हमारे यहां बुद्धदेव प्रमाणज्ञानस्वरूप माना है। वह बुद्ध मोक्षमार्गका शिक्षण करनेवाला सिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह भी तो मानना ठीक नहीं है। क्योंकि उस ज्ञानस्वरूप बुद्धके भी उपदेश देनेके लिये वचनोंकी प्रवृत्ति होनेका विरोध है। क्या शरीर, कण्ठ, तालु, और इच्छाके विना शब्द कहे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं।

न कस्यचिच्छान्तनिर्वाणमस्ति येन सुगतस्य तद्वत्तदापाद्यते निरास्रवचित्तोत्पादलक्षणस्य निर्वाणस्येष्टत्वात्, ततः शोभनं सम्पूर्णं वा गतः सुगतः, प्रमात्मकः शास्ता मार्गस्येति चेत्, न, तस्यापि विधूतकल्पनाजालस्य विवक्षाविरहाद्वाचः प्रवृत्तिविरोधात्।

उक्त वार्त्तिकका व्याख्यान करते हैं कि किसी खड्गी या उपसर्गमुक्तात्माका हम सर्वथा मटियामेट हो जानारूप शान्त निर्वाण नहीं मानते हैं जिससे कि उस खड्गीके समान बुद्धको भी वैसी ही मोक्ष प्राप्त करनेका आपादन किया जाय, जबकि हमारे यहां सांसरिक वासनाओंके आस्रवसे रहित होरहे शुद्ध चित्तका अनन्त काल तक उत्पन्न होते रहना ऐसा निर्वाण माना गया है। उस कारणसे " सुष्ठु गतः " यानी बिल्कुल नाशको प्राप्त हो गया है, यह सुगतका अर्थ हम नहीं मानते हैं, किंतु ज्ञान, वैराग्यसे शोभायुक्तपनेको प्राप्त हो गया या पूर्ण ज्ञानीपनेको प्राप्त हो गया, ऐसा ज्ञानस्वरूप ही सुगत है और वह मोक्षमार्गका आद्य प्रकाशक है, शिक्षक है। आचार्य कहते हैं कि यह योगाचारका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस सुगतका कल्पना करनेका जंजाल सर्वथा नष्ट हो गया है तो बोलनेकी इच्छारूपकल्पना भी उसके उत्पन्न न होगी। इस कारण इच्छाके बिना वचनोंका बोलना नहीं बन सकेगा। वचनकी प्रवृत्तिके लिये कारणकूटकी आवश्यकता है। उनमें बोलनेकी इच्छा प्रधान कारण है जो कि सुगतके है नहीं, तब मोक्षमार्गका उपदेश नहीं दे सकता है।

विशिष्टभावनोद्भूतपुण्यातिशयतो ध्रुवम्।
विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिः सुगतस्य चेत् ॥ ८७ ॥

बोलनेके लिए इच्छाके विना भी " जगत्का उपकार करूं " इस बढिया भावनाके बलसे उत्पन्न हुए पुण्योंके चमत्कारसे बुद्धदेवकी भी वचनप्रवृत्ति यथार्थरूपसे हो जावेगी यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे—

बुद्धावनोद्भूतत्वाद्बुद्धत्वं, संवर्तकाद्धर्मविशेषाद्विनापि विवक्षाया बुद्धस्य स्फुटं वाग्वृत्तिर्यदि तदा स सान्वयो निरन्वयो वा स्यात् ? किञ्चातः—

इसकी व्याख्या यह है कि मैं जगत्को मुक्तिमार्ग बतलानेवाला बुद्ध हो जाऊं इस प्रकार बुद्धपनेको बनानेवाली भावनासे एक विलक्षण पुण्य पैदा होता है। उस विशेष धर्म माने गये पुण्य करके इच्छाके विना भी बुद्ध भगवान्के स्पष्टरूपसे वचनोंकी प्रवृत्ति हो जावेगी। यदि ऐसा कहोगे तो इस पर हम जैनोंका थोडा यह पूंछना है कि वह बुद्ध क्या द्रव्यरूपसे अनादि अनन्त काल तक स्थिर रहनेवाला अन्वयी है ? अथवा प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला अन्वयरहित होकर केवल उत्पाद, व्यय, स्वभाववान् है ? बताओ। सम्भव है कि आप हमारे पूंछनेपर यह कहें कि आप जैन लोग इस पूंछनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध करोगे ? तो हम जैन कहते हैं कि—

सिद्धं परमतं तस्य सान्वयत्वे जिनत्वतः
प्रतिक्षणविनाशत्वे सर्वथार्थक्रियाक्षतिः ॥ ८८ ॥

प्रथम पक्षके अनुसार बुद्धको द्रव्यरूपसे अनादिसे अनन्त कालतक अन्वयसहित-रूप माननेपर तो जैनमत ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि उस पुण्यविशेषसे अलंकृत और द्रव्यरूपसे अनादि अनन्त कालतक व्यापक तथा विवक्षाके विना ही मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला बुद्धदेव हमारा जिनेन्द्रदेव ही तो है। यदि द्वितीयपक्षके अनुसार उस बुद्धको आप प्रत्येकक्षणमें विनाशशील मानोगे यानी अन्वयरहित होकर सर्वप्रकारसे नष्ट हो जाता है तब तो ऐसी दशामें वह क्षणिक बुद्ध कथमपि कुछ भी अर्थक्रिया न कर सकेगा। कालान्तरस्थायी तो आत्मा उपदेश दे सकता है। जो एक क्षण ही ठहरता है वह अपने आत्मलाभ करनेके समयमें कोई भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता है। जब दूसरे क्षणमें कुछ कार्य करनेके योग्य होता है तब उसका आपके मतसे सत्यानाश हो जाता है। असत् पदार्थ क्या कार्य करेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं।

न सान्वयः सुगतो येन तीर्थकरत्वभावनोपात्ततीर्थकरत्वनामकर्मणोऽतिशयवतः पुण्यादागमलक्षणं तीर्थं प्रवर्तयतोऽर्हतो विवक्षारहितस्य नामान्तरकरणात् स्याद्वादिमतं सिद्धयेत्, नापि प्रतिक्षणविनाशी सुगतः क्षणे शास्ता येनास्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाक्षतिरापाद्यते, किं तर्हि? सुगतसन्तानः शास्तेति यो ब्रूयात्—

बौद्ध कहते हैं कि न तो हम सुगतको द्रव्यरूपसे अन्वयसहित मानते हैं जिससे कि यानी यदि हम ऐसा मानते होते तो जरूर स्याद्वादियोंका यह मन्तव्य सिद्ध होजाता कि धर्मतीर्थ का किया जानारूप तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव करानेकी कारण सोलह कारण भावनाओंके बलसे बांधे हुए तीर्थंकरत्व—नामकर्मरूप माहात्म्य रखनेवाले पुण्यसे बोलनेकी इच्छाके विना मोक्षमार्गका प्रतिपादक आगमरूपी तीर्थकी प्रवृत्ति कराते हुए अर्हन्त देवका ही दूसरा नाम बुद्ध कर दिया गया है और इस ही कारण हम क्षण क्षणमें नष्ट होते हुए सुगतको एक ही क्षणमें मोक्षमार्गका शिक्षक भी नहीं मानते हैं। जिससे कि आप हमारे ऊपर क्षणिकपक्षमें क्रमसे और युगपत्से अर्थक्रिया की क्षति होजानेका आपादन करें, तब तो हम क्या मानते हैं इस बातको सुनिये हम सुगतकी उत्तर कालतक होनेवाली ज्ञानसन्तानसे मोक्षमार्गका शासन होना स्वीकार करते हैं। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई बौद्ध कहेगा तो—

तस्यापि स सन्तानः किमवस्तु वस्तु वा स्यात्? उभयत्रार्थक्रियाक्षतिपरमतसिद्धी तदवस्थे।

उस बौद्धके मतमें भी वह ज्ञानकी सन्तान क्या अपरमार्थभूत है? अथवा क्या वस्तुस्वरूप परमार्थ है? बताओ, पहिला पक्ष माननेपर अवस्तुसे अर्थक्रिया न हो सकेगी तथा दूसरा पक्ष होने पर दूसरे मत यानी स्याद्वादियोंके सिद्धान्तकी सिद्धि होजावेगी। यों इन दोनों पक्षोंमें हमारा पूर्वोक्त कथन वैसाका वैसा ही ठीक रहा यानी दोनों बातें अवस्थित रहीं।

तथाहि—

इसी बातको पुनः स्पष्ट कर कहते हैं।

सन्तानस्याप्यवस्तुत्वादन्यथात्मा तथोच्यताम् ।
कथञ्चिद्द्रव्यतादात्म्याद्विनान्यस्याप्यसम्भवात् ॥ ८९ ॥

जबकि एक क्षणस्थित रहनेवाले ज्ञानोंकी धारारूप सन्तान भी अवस्तु है क्योंकि अनेक क्षणोंमें रहनेवाले पदार्थोंका कालिक प्रत्यासत्तिसे समूह बन सकता है किन्तु बिजली या दीपकलिकाके समान क्षणध्वंसी पदार्थके परिणामोंकी धारा कोई वस्तु नहीं है, स्वयं बौद्धोंने सन्तानको वस्तुभूत नहीं माना है।

यदि क्षणध्वंसी न मानकर उस धाराको कालान्तरस्थायी पदार्थ मानोगे तब तो सन्तान शब्दसे उस प्रकार आत्मा द्रव्य ही कहा गया समझो। आत्माका पूर्वापर क्षणोंके साथ द्रव्यरूप करके कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। उस तादात्म्य सम्बन्धके विना वह सन्तान उन ज्ञानोंकी है यह बात नहीं बन सकती है

एक द्रव्यमें अनेक परिणामोंको तादात्म्यसम्बन्ध ही मिला सकता है क्योंकि तादात्म्यके विना पूर्वापर परिणामोंके मिलानेमें संयोग, समवाय आदि अन्यसम्बन्धोंका असम्भव है।

स्वयमपरामृष्टभेदाः पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तान इति चेत् तर्हि तस्यावस्तुत्वादर्थक्रियाक्षतिः सन्तानिभ्यस्तत्त्वातत्त्वाभ्यामवाच्यत्वस्यावस्तुत्वेन व्यवस्थापनात् ।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्येक क्षणवर्ती परिणामों में परस्पर अत्यंत भेद है किंतु हम लोगोंकी मोटी दृष्टिसे उस भेदका विचार नहीं हो पाता हैं इस कारण नहीं विचारा गया है भेद जिनका ऐसे आगे पीछेके क्षणिक परिणामोंके समुदायको सन्तान मान लेते हैं। यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि वह सन्तान अवस्तु हुयी, क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा विद्यमान ही नहीं है उसकी धारा भी क्या बन सकती है ? हिमालयसे लेकर समुद्रतक गंगाकी धारा बहती है तब तो उस जलकी सन्तान मानी जाती है किंतु बिंदु जलकी नहीं विद्यमान पूर्वापर पर्यायोंको कल्पित करके धारा नहीं बनती है तथाच आपकी मानी हुयी सन्तान तुच्छ अवस्तु होने से कुछ भी अर्थक्रियाको न कर सकेगी यों अर्थक्रियाकी क्षति हुई। एक एक क्षण रहनेवाले सन्तानियोंसे भिन्न या अभिन्न होकर जो तद् अतद्रूपसे नहीं कहा जाता है वह अवस्तु माना गया है। ऐसी निर्णायक विद्वानों ने व्यवस्था की है ॥

सन्तानस्य वस्तुत्वे वा सिद्धं परमतमात्मनस्तथाभिधानात्, कथंचिद्द्रव्यतादात्म्येनैव पूर्वोत्तरक्षणानां सन्तानत्वाभिधेः पत्र्यात्तरान्तरस्य व्यभिचारात्, तात्त्विकतानभ्युपगमाच्च।

यदि आप बौद्ध सन्तानको वास्तविक मानोगे तब तो दूसरे वादीके मन्तव्य यानी जैन मतकी सिद्धि हो जावेगी क्योंकि इस कारण पूर्वापर परिणामोंमें अखण्ड द्रव्यरूपसे रहनेवालेका नाम ही आपने सन्तान रख दिया है। एक देवदत्तके आगे पीछे होनेवाले ज्ञानपरिणामोंका संतान हो जाना कथंचित् तादात्म्यसंबंध करके ही सिद्ध हो सकता है। द्रव्यप्रत्यासत्तिके अतिरिक्त क्षेत्रप्रत्यासत्ति आदि माननेसे व्यभिचार आता है, कारण कि एक क्षेत्रमें पुद्गल आदिक छहों द्रव्य रहते हैं। क्षैत्रिक संबंध होनेसे उन सबकी भी एक संतान बन जावेगी इसी तरहसे एककालमें अनेकद्रव्योंके परिणाम होते रहते हैं। उन भिन्न द्रव्योंके परिणामोंका भी परस्पर कालिकसंबंध है। किंतु उन सब परिणामोंकी एक अखण्ड धारारूप सन्तान नहीं मानी है। समान ज्ञानवाले भिन्न भिन्न देवदत्त, जिनदत्त आदिकी भावप्रत्यासत्ति है किंतु उन भिन्न आत्माओंके ज्ञानोंका परस्परमें सांकर्य नहीं है और संयोग सम्बन्धसे भी एक सन्तानकी सिद्धि नहीं है। तथा क्षेत्रसम्बन्ध, कालिकसम्बन्ध आदि वास्तविक माने भी नहीं गये हैं ये तो औपाधिक हैं तात्त्विकरूपसे नहीं स्वीकार किये गये हैं। अतः संतानियोंका एक द्रव्यमें कथंचित् तादात्म्य संबंधसे अन्वित रहने पर ही संतान वस्तुभूत और अर्थक्रियाकारी बन सकेगी। हां अखंडित अनेक देशवाले द्रव्यका विष्कम्भकमसे माना गया स्वक्षेत्र वास्तविक है और पूर्वापर कालोंकी अनेकपर्यायें ऊर्ध्वता सामान्यसे स्वकाल हो जाती हैं किंतु आकाश और व्यवहारकाल तो सर्वथा बहिरंग हैं, जीव पुद्गलोंका निज स्वरूप नहीं है।

पूर्वकालविवक्षातो नष्टाया अपि तत्त्वतः।
सुगतस्य प्रवर्तन्ते वाच इत्यपरे विदुः ॥ ९० ॥

बौद्ध लोग चिरकाल प्रथम नष्ट होचुके तथा भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंको भी वर्तमानकार्यका कारण मान लेते हैं। जिनके यहां असत्की उत्पत्ति और सत्का सर्वथा नाश मान लिया गया है। वे असत् पदार्थको कारण भी मानें तो क्या आश्चर्य है? विवक्षाके विना सुगतके वचन कैसे प्रवृत्त होंगे? इस कटाक्षको दूर करते हुए बौद्ध कहते हैं कि पहिले कालमें कभी सुगतके इच्छा हुयी थी, वह इच्छा वस्तुतः नष्ट होगयी है। फिर भी नष्ट हुयी इच्छा को कारण मानकर बुद्धके वास्तविक रूपसे वचन प्रवृत्त हो जावेंगे इस प्रकार दूसरे सौत्रान्तिक बौद्ध मानते हैं।

यथा जाग्रद्विज्ञानान्नष्टादपि प्रबुद्धविज्ञानं दृष्टं तथा नष्टायाः पूर्वविवक्षायाः सुगतस्य वाचोऽपि प्रवर्त्तमानाः संभाव्या इति चेत्—

आचार्य उनके मतका वर्णन करते हैं कि बौद्ध लोग आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान इस प्रकार ज्ञानकी दो धाराएं मानते हैं। सोते समय आलयविज्ञानकी धारा चलती रहती है और जागते समय प्रवृत्तिविज्ञानकी सन्तान चलती है। आज प्रातःकाल छह बजे हम सोकर उठे हैं। रातको दस बजेतक जागेंगे और दस बजे सोकर कल सुबह फिर उठेंगे, तथा कल मिति रातको दस बजे सोवेंगे। यहां आजके दस बजेतक होनेवाला प्रवृत्तिविज्ञान आज रातको दस बजे नष्ट होजावेगा। फिर भी नष्ट हुआ प्रवृत्तिविज्ञान कल प्रातःकाल छह बजेके प्रवृत्तिविज्ञानका उपादान कारण मान जाता है। तथा आज रातके दस बजेके बादसे पैदा हुआ आलयविज्ञान कल प्रातःकाल छह बजे तक सर्वथा नष्ट होजावेगा। ज्ञानोंकी धारा भी टूट जावेगी फिर भी नष्ट हुआ आलयविज्ञान कल रातको दस बजे बाद सोते समय होनेवाले आलयविज्ञानका कारण है। भविष्यमें होनेवाले पुत्र या आगे होनेवाला स्त्रीवियोग, धनलाभ, मरण आदि पहिलेसे ही हाथमें रेखाएं बना देते हैं, या शरीरमें तिल, मसा, लहसन, आदि बना देते हैं। इनके मतसे मरे बाबा भी गुड खालेते हैं ऐसी कहावत ठीक है। अस्तु—

ये बुद्धिके समूहरूप बौद्ध जो कुछ कहें सो सुनिये ? बौद्ध कहते हैं कि जैसे नष्ट होचुके भी पहिले दिनकी जागृत अवस्थाके ज्ञानसे दूसरे दिनकी जागृत अवस्थाका विज्ञान उत्पन्न हुआ देखा गया है। उसी प्रकार नष्ट हुयी पूर्वकालकी विवक्षासे भी बुद्ध भगवान्के वचनोंकी प्रवृत्ति होना भी सम्भव है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो आचार्य कहते हैं कि—

तेषां सवासनं नष्टं कल्पनाजालमर्थकृत्।
कथं न युक्तिमध्यास्ते शुद्धस्यातिप्रसंगतः॥ ९१॥

उन बौद्धोंके यहां जीवन्मुक्तदशामें ही बुद्धके संस्कारोंसे सहित होकर नष्ट होगया विवक्षारूप कल्पनाओंका समुदाय भला कैसे अर्थक्रिया करेगा ? अर्थात् कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। यदि कल्पना नष्ट भी होगयी होती और उसकी वासना बनी रहती तो भी कुछ देरतक अर्थक्रिया होसकती थी किन्तु विवक्षानामक कल्पनाओंके संस्कारसहित ध्वंस होजानेपर पूर्वकालकी विवक्षासे वर्तमानमें बुद्धके वचनकी प्रवृत्ति कैसे भी युक्तिको प्राप्त नहीं होसकती है।

यदि कल्पनाओंसे रहित शुद्ध पदार्थके भी वचनोंकी प्रवृत्ति मानोगे तो आकाश, परमाणु आदिके भी वचनप्रवृत्ति होजानी चाहिये। यह अतिप्रसंग होगा।

यत्सवासनं नष्टं तन्न कार्यकारि यथात्मीयाभिनिवेशलक्षणं कल्पनाजालम्, सुगतस्य सवासनं नष्टं च विवक्षाख्याकल्पनाजालमिति न पूर्वविवक्षातोऽस्य वाग्वृत्तिर्युक्तिमधिश्रयति।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनेक वर्षोंतक चलती चली जाती है। एक झटकेदार प्रचण्ड क्रोध कर दिया जाय तो उसका संस्कार संख्यात, असंख्यात और अनन्त जन्मोंतक रहता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनका छह महीने, पन्द्रह दिन और अन्तर्मुहूर्त तक उत्तरोत्तर पर्यायमें परिणत होनेका संस्कार रहता है। तथा किसी धारणास्वरूप ज्ञानसे किसीको एक घण्टेतक स्मरण होता रहता है, किसीसे एक वर्ष, दस वर्ष तथा कई जन्मोंतक भी संस्कार बना रहता है। भूलता नहीं है। भावार्थ—जैसे बन्दूककी गोलीमें हजार गज तक जाते हुए वेग नामका संस्कार बना रहता है और प्रत्येक आकाशके प्रदेशपर उसका वेग उत्पत्तिक्रमसे न्यून होता जाता है। सर्वथा वेगके नष्ट होजानेपर गोली गिर पडती है। ऐसे ही एक वस्तुका ज्ञान होनेपर दस वर्ष तक उसकी स्मृति रहती है। इसका भाव यह है कि दस वर्षतक होनेवाले असंख्यात ज्ञानोंमें उसका संस्कार चलता रहता है, यदि देवदत्तने जिनदत्तसे कहा कि तुम दिल्ली जाओ तो हमारे लिये पांच सेर बादाम लेते आना। उस समयसे लेकर जिनदत्तके दिल्ली पहुंचने तक दस घण्टेमें जितने घट, पट आदिकके असंख्यात ज्ञान हुए हैं। उन सब ज्ञानोंमें अव्यक्त रूपसे यह संस्कार घुसा हुआ है कि देवदत्तके लिये पांच सेर बादाम लाना है। यदि ज्ञानके समान संस्कार भी सुननेके बाद नष्ट हो गया होता तो दिल्ली पहुंचनेपर स्मृति कैसे भी नहीं होसकती थी। हम लोगोंके ज्ञानगुणकी प्रतिक्षण एक पर्याय होती है। उसमें प्रगटरूपसे एक, दो, चार पदार्थ विषय पडते हैं किंतु अप्रकटरूपसे उन ज्ञानोंमें अनेक पदार्थोंके संस्कार चले आरहे हैं। किंचित् उद्बोधकके मिलने पर शीघ्र पूर्वके ज्ञातपदार्थकी स्मृति हो जाती है। यह तो जैन सिद्धांतके अनुसार वासनाका तत्त्व है। बौद्ध लोग भी ऐसी वासना मानते होंगे। अंतर इतना है कि उनके यहां पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायमें द्रव्यरूपसे अन्वय नहीं माना गया है; अतः बालूकी नींव पर बने हुए महलके समान उनका वासनाका मानना ढह जाता है। अनुमान बनाकर प्रकृतमें (हेतु) यह कहना है कि " जो वासनासहित नष्ट हो गया है वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता है (साध्य) जैसे कि धन, पुत्र, कलत्र आदि अनात्मीय पदार्थोंमें " ये मेरे हैं " ऐसा दृढ श्रद्धान स्वरूप अतत्त्वश्रद्धान मूलसहित नष्ट हो गया है। अतः जीवन्मुक्त अवस्थामें वह कल्पित मिथ्या-श्रद्धान पुनः उत्पन्न नहीं होता है। (अन्वयदृष्टांत) बुद्धके विवक्षा नामक कल्पनाओंका समुदाय वासनासहित नष्ट हो गया माना है (उपनय) इस कारण पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी पूर्व विवक्षासे सुगतके वचनोंकी प्रवृत्तिका होना यह प्रयोजन साधना युक्तिसंगत नहीं है।" (निगमन)

जाग्रद्विज्ञानेन व्यभिचारी हेतुरिति चेत्, न सवासनग्रहणात्। तस्य हि वासना-प्रबोधे सति स्वकार्यकारित्वमन्यथातिप्रसंगात्। सुगतस्य विवक्षावासनाप्रबोधोपगमे तु विवक्षोत्पत्तिप्रसक्तेः कुतोऽत्यन्तं कल्पनाविलयः ?

बौद्ध कहते हैं कि जो नष्ट हो गया है वह कार्यकारी न माना जावेगा तो कल रातको जो दस बजे सर्वथा नष्ट हो गया है वह जागती अवस्थाका ज्ञान आज प्रातःकाल सोतेसे उठते समयके ज्ञानका कारण कैसे हो जाता है ? बताओ इस कारण आप जैनोंका माना गया हेतु व्यभिचारी है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमने हेतुका विशेषण वासनासहितपना दे रखा है। कल रातके दसबजेके पहिले होनेवाला ज्ञान यद्यपि नष्ट हो गया है तो भी उसकी वासना सोते समय रही है। अतः उस वासनाके बलसे आज प्रातःकालके जागते समयका ज्ञान उत्पन्न हो गया था। वासनाका उद्बोध हो जानेपर पूर्वका ज्ञान भी अपने कार्यको कर देता है यह अनुमान हमने सुगतसिद्धान्तके अनुसार बौद्धके माने गये हेतुसे बनाया है। जैन सिद्धांतमें सोते और जगते समय एक ही ज्ञानधारा मानी है केवल क्षयोपशमका वैयात्य है एकही ज्ञानगुणकी अनेक पर्यायें होती रहती हैं।

अन्यथा यानी ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे मानोगे अर्थात् यदि बौद्ध वासनाओंके नष्ट हो जानेपर वासनाओंके प्रकट हुए बिना भी पूर्व ज्ञानको कार्यकारी मानेंगे तो पूर्व जन्मोंके धन, पुत्र, कलत्र आदिमें उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञान भी जीवन्मुक्त अवस्थामें अकेले मिथ्याज्ञानोंको पैदा कर देवेंगे किंतु बुद्धके आपने एक भी मिथ्याज्ञान नहीं माना है। यों अतिप्रसंग दोष बन बैठेगा।

यदि आप बुद्धके पूर्वकालीन विवक्षा नामक कल्पनाओंकी वासनाका उद्बोध होना मानोगे तब तो सुगतके विवक्षास्वरूप विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्तिका प्रसंग आजावेगा। ऐसी दशामें सम्पूर्ण रूपसे कल्पनाओंका नाश हो जाना सुगतके कैसे सिद्ध हुआ ?। कथापि नहीं।

स्यान्मतं, " सुगतवाचो विवक्षापूर्विका वाक्त्वादस्मदादिवाग्वत्। तद्विवक्षा च बुद्धदशायां न सम्भवति, तत्सम्भवे बुद्धत्वविरोधात्। सामर्थ्यात् पूर्वकालभाविनी विवक्षा-वाग्वृत्तिकारणं गोत्रस्खलनवदिति "।

आप बौद्धोंका मत यह भी रहे कि " सुगतके वचन (पक्ष) बोलनेकी इच्छापूर्वक उत्पन्न हुए हैं (साध्य) क्योंकि वे वचन हैं। (हेतु) जैसे कि हम आदि लोगोंके वचन इच्छापूर्वक ही उत्पन्न होते हैं (दृष्टांत) इस अनुमानसे वचनोंका बोलनेकी इच्छाको कारणपना आवश्यक सिद्ध होता है किंतु बुद्ध अवस्थामें वचनोंका कारण इच्छारूप कल्पनाज्ञान सम्भव नहीं है।

यदि उन कल्पनाज्ञानोंका सम्भवना जीवन्मुक्त अवस्थामें भी माना जावे तो बुद्धपनेका विरोध आता है। बुद्ध निर्विकल्पक है और वचनोंके पहिले इच्छा मानना भी क्लेश है। अतःकार्य-कारणकी शक्तिके अनुसार पहिले कालमें होनेवाली विवक्षा बुद्धकी वचन प्रवृत्तिका कारण है। जैसे कि गोत्रस्खलनमें प्रायः देखा जाता है। कभी कभी हम बोलना कुछ चाहते हैं और मुखसे अन्य ही

शब्द निकल जाता है। रक्षित वाणीका बिना इच्छाके असमयमें च्युत होजाना इसको गोत्रस्खलन कहते हैं। देवदत्त शब्दके कहनेकी इच्छा होनेपर मुखसे जिनदत्त शब्द निकल गया। यहां पहिले कभी हुयी जिनदत्तके कहनेकी इच्छा इसका कारण मानी जाती है क्योंकि इस समय तो देवदत्त बोलनेकी इच्छा है जिनदत्त कहनेकी इच्छा नहीं है किन्तु जिनदत्त शब्द मुखसे निकल गया है। बिना इच्छाके हमारे वचन हो नहीं सकते हैं। अतः दस दिन पूर्वकी इच्छा भी कारण हो सकती है। नष्ट हुए पदार्थ या भविष्यके गर्भमें पडे हुए असत्यपदार्थोंको भी हम कारण मान लेते हैं। यहां तक सौगत कह चुके हैं अब आचार्य कहते हैं कि—

तदयुक्तम्। गोत्रस्खलनस्य तत्कालविवक्षापूर्वकत्वप्रतीतेः, तद्धि पद्मावतीतिवचनकाले वासवदत्तेतिवचनम्। न च वासवदत्ताविवक्षा तद्वचनहेतुरन्यदा च तद्वचनमिति युक्तम्। प्रथमं पद्मावतीविवक्षा हि वत्सराजस्य जाता तदनन्तरमाश्वेवात्यन्ताभ्यासवशाद्वासवदत्ताविवक्षा तद्वचनं चेति सर्वजनप्रसिद्धम्। कथमन्यथान्यमनस्केन मया प्रस्तुतातिक्रमेणान्यदुक्तमिति संप्रत्ययः स्यात्। तथा च कथमतीतविवक्षापूर्वकत्वे सुगतवचनस्य गोत्रस्खलनमुदाहरणं येन विवक्षामन्तरेणैव सुगतवाचो न प्रवर्तेरन् सुषुप्तवचोवत् प्रकारान्तरासंभावात्।

उक्त प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तियोंसे रहित है कारण कि गोत्रस्खलनमें होनेवाली वचनप्रवृत्तिका उसी कालमें अव्यवहित पूर्व होनेवाली विवक्षाको कारणपना प्रतीत हो रहा है। उस गोत्रस्खलनका कथासरित्सागरमें उपाख्यान प्रसिद्ध ही हैं, चन्द्रवंशी वत्सराज नामक राजाके पद्मावती बोलते समय वासवदत्ता यह शब्द निकल गया था। बौद्धोंके कथनानुसार पूर्वकालकी वासवदत्ता कहनेकी इच्छा वासवदत्ता शब्द बोलनेमें कारण होवे और वचनप्रवृत्ति पीछे होवे। इस तरह भिन्नकालीन पदार्थोंका कार्यकारणभाव मानना युक्त नहीं है। यह बात सम्पूर्ण मनुष्योंमें प्रसिद्ध है कि वत्सराजके पद्मावती कहनेकी पहिले इच्छा हुयी उसके बाद शीघ्र ही अत्यन्त अभ्यासके वशसे वासवदत्ता कहनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। उस समयकी इच्छासे ही वह वासवदत्ता शब्द कहा गया है। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकारसे माना जावे तो लोगोंको यह अच्छा निर्णय कैसे हो जाता कि मेरा चित्त दूसरी तरफ लग गया था इस कारण मैंने प्रस्तावप्राप्त प्रकृत विषयका अतिक्रमण करके दूसरी ही बात कह दी है। इससे सिद्ध होता है कि जो शब्द निकलते हैं। उनकी इच्छा शीघ्र ही अव्यवहित पूर्वकालमें उत्पन्न हो चुकी है। तभी तो अनुव्यवसाय हुआ। ऐसा सिद्ध होनेपर सुगतकी वचनप्रवृत्तिका भूतकालीन इच्छाको कारण माननेमें गोत्रस्खलनका उदाहरण कैसे घटित हुआ! यानी यह दृष्टांत ठीक नहीं है। जिससे कि विवक्षाके विना भी सुगतके वचन प्रवर्तित न हो सकेंगे अर्थात् सोते हुए पुरुषके वचन विना इच्छाके जैसे पैदा हो जाते हैं उसी प्रकार विना इच्छाके सुगतके वचन भी प्रवृत्त हो जाते हैं। यह मान लेना चाहिये। दूसरा कोई उपाय सम्भवता नहीं है।

नहि सुषुप्तस्य सुषुप्तदशायां विवक्षासंवेदनमस्ति तदभावप्रसंगात् ।

सोता हुआ पुरुष कभी कभी अंटसंट बडबडाने लगता है। उस समय उसके बोलनेकी इच्छा नहीं है। यदि बोलनेकी इच्छा होती तो अवश्य उस इच्छाका ज्ञान होता। आत्माके सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञान आदि परिणाम संवेदनात्मक हैं। जैसे कि घट, पट, आदिके होनेपर भी उनके जाननेमें हम विलम्ब करलेते हैं या नहीं भी जानते हैं। उस प्रकार दुःखके जाननेमें आत्मा विलम्ब नहीं करता है अथवा नहीं जानना चाहे सो भी नहीं, दुःख उत्पन्न हो जाय और आत्मा यह बिचारे कि हे दुःख ! तुम ठहर जाओ। हम तुमको घंटेभर बाद जानेंगे। यह अशक्य है। सुख दुःख आदिक उत्पन्न होते ही अपना ज्ञान करा देते हैं। इच्छा भी अपना ज्ञान करानेवाली पर्याय है। इच्छाके उत्पन्न होते ही उसका ज्ञान अवश्य हो जाता है किन्तु गाढनिद्रासे सोते हुए मनुष्यके सोती हुयी अवस्थामें बोलनेकी इच्छाका ज्ञान नहीं है। इस कारण हम जानते हैं कि उस समय इच्छा नहीं ही है। यदि इच्छा होती तो उसका ज्ञान अवश्य हो जाता और इच्छाके ज्ञान होनेपर वह सुप्तावस्था नहीं बन सकेगी। इच्छाका वेदन करना जागती अवस्थाका काम है। सचेतन होते रहना और सोजानेका विरोध है।

पश्चादनुमानान्तरविवक्षासंवेदनमिति चेत्, न, लिंगाभावात् वचनादिर्लिंगमिति चेत्, सुषुप्तवचनादिर्जाग्रद्वचनादिर्वा ? प्रथमपक्षे व्याप्त्यसिद्धिः, स्वतः परतो वा सुषुप्तवचनादेर्विवक्षापूर्वकत्वेन प्रतिपत्तुमशक्तेः ।

शयनके पीछे उठनेपर दूसरे अनुमानोंसे उस समयकी बोलनेकी इच्छाका अच्छा ज्ञान होना मानोगे, सो तो ठीक नहीं है क्योंकि सोते हुए जीवकी वचनप्रवृत्तिको अनुमानप्रमाणसे इच्छापूर्वकपना सिद्ध करनेवाला कोई अच्छा हेतु नहीं है।

यदि बौद्ध मन, वचन और शरीरकी चेष्टा आदिको इच्छा सिद्ध करनेके लिये हेतु मानेंगे तो हम पूंछते हैं कि "सोते हुए पुरुषके वचन आदिको हेतु मानोगे या जागते हुए पुरुषके वचन अथवा चेष्टाको हेतु स्वीकार करोगे"? बताओ पहिला पक्ष स्वीकार करनेपर व्याप्तिकी सिद्धि नहीं है क्योंकि सोते हुए पुरुषके वचन आदिक तो विवक्षापूर्वक ही होते हैं। इस व्याप्तिको अपने आप अथवा दूसरेके द्वारा कोई समझ नहीं सकता है कारण कि सोता हुआ जीव उक्त व्याप्तिको कैसे ग्रहण करेगा ? वह तो सो रहा है और जागता हुआ मनुष्य भी सोते हुए की वचन प्रवृत्तिका इच्छा पूर्वक होना कैसे जान सकता है ? वहतो व्याघात दोष है जिससे कि वह पीछेसे सोते हुए को कह देवे कि तुम्हारे सोते समय वचन इच्छापूर्वक निकले थे। यह तो वैसी ही विषम समस्या है कि जैसे कोई मनुष्य यह विचार करे कि मेरी मृत्युके बाद घरकी व्यवस्था कैसी रहती है ? इस बातको मैं अपनी जीवित अवस्थामें ही जान जाऊं।

जाग्रद्वचनादिस्तु न सुषुप्तविवक्षापूर्वको दृष्ट इति तदगमक एव, सन्निवेशादिवज्जगत्कृतकत्वसाधने यादृशामभिनवकूपादीनां सन्निवेशादिधीमत्कारणकं दृष्टं तादृशामदृष्टधीमत्कारणानामपि जीर्णकूपादीनां तद्गमकं नान्यादृशां भूधरादीनामिति ब्रुवाणो यादृशां जाग्रदादीनां विवक्षापूर्वकं वचनादि दृष्टं तादृशामेव देशान्तरादिवर्तिनां तत्तद्गमकं नान्यादृशां सुषुप्तादीनामिति कथं न प्रतिपद्यते ?।

यदि दूसरा पक्ष लोगे कि "जागृत अवस्थाके वचन और चेष्टासे सोते हुएके वचन भी इच्छापूर्वक सिद्ध कर लिये जावेंगे"। यह आप बौद्धोंका हेतु भी उस साध्यका गमक कैसे भी नहीं है। क्योंकि क्या जागते हुएके वचनादि गाढ सोते हुए पुरुषकी विवक्षापूर्वक देखे गये हैं ? अर्थात् नहीं, अतः व्याप्ति नहीं बनी और आपका जागती हुयी अवस्थाका वचनरूप हेतु तो सोती हुयी दशाकी इच्छा सिद्ध करनेमें व्यधिकरण है। जैसे कि कोई कहे कि हवेली धौली (सफेद) है क्योंकि कौवा काला है। यह अप्रशस्त है।

यदि इसी प्रकार ऊटपटांग अनुमान बनाये जावेंगे तब तो सोते हुए पुरुषके इच्छा सिद्ध करनेके समान नैयायिकोंकी ओरसे ईश्वरको जगत्का कर्तापन सिद्ध करनेमें दिये गये विशिष्ट सन्निवेश, कार्यत्व और अचेतनोपादानत्व हेतु भी समीचीन होजावेंगे देखिये।

नैयायिक कहते हैं कि जैसे नवीन कुएं, कोठी, किले आदिको देखकर पुराने महल, कुएं आदिका भी बुद्धिमान् कारीगरोंके द्वारा बनाया जाना सिद्ध कर लेते हो, उसी प्रकार पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, पहाड, बन, आदि सबका बनानेवाला भी ईश्वर है क्योंकि पृथ्वी आदि कार्य हैं तथा इनके उपादान कारण अचेतन परमाणु हैं। वे परमाणु किसी चेतन प्रयोक्ताके विना समुचित कार्य नहीं बना सकते हैं और सूर्य, शरीर आदिमें चेतनके द्वारा की गयी विलक्षण रचना देखी जाती है। इस प्रकार नैयायिकके माने गये उक्त तीन हेतुओंको आप बौद्ध गमक नहीं मानते हैं। प्रत्युत (उल्टा) जगत्के कर्तापनका आप इस प्रकार खण्डन करते हैं कि जिस प्रकारके नवीन कूप, गृह आदिका कार्यपना या रचनाविशेष इस असर्वज्ञ, शरीरी बुद्धिमान्के द्वारा किया गया देखा है। उसी प्रकारके और नहीं दीख रहे हैं बुद्धिमान् कर्ता जिनके ऐसे पुराने कुएं, खण्डहर आदिकोंका भी रचनाविशेष हेतु झट उस बनानेवाले चेतन कर्ताकी सिद्धि करा सकता है किन्तु जीर्ण कुएं आदिसे सर्वथा अन्य प्रकारके विसदृश शरीर, पर्वत, आदिके चेतन कर्ताको कैसे भी सिद्ध नहीं करा सकता है !

उक्त प्रकार नैयायिकोंके खण्डनमें बोलता हुआ बौद्ध इस बातको क्यों नहीं समझता है कि जिस प्रकार जागते हुए, शास्त्र बांचते हुए या स्तोत्र पाठ करते हुए मनुष्योंके वचन आदि कार्य

विवक्षापूर्वक देखे गये हैं। वे जागृतके वचन उसी प्रकारके देशान्तर कालान्तर आदिमें होनेवाले स्रोता, व्याख्याताओंके उन वचनोंको भी उस इच्छा पूर्वक सिद्ध कर सकते हैं किन्तु उनसे सर्वथा भिन्न होरहे नितान्त सोते हुए, मूर्च्छित पागल, अपस्मारी मनुष्योंके वचनोंको इच्छापूर्वक सिद्ध नहीं कर सकते हैं।

तथा प्रतिपत्तौ च न सुगतस्य विवक्षापूर्विका वाग्वृत्तिः साक्षात्परम्परया वा शुद्धस्य विवक्षापायादन्यथातिप्रसंगात्।

यदि इस प्रकार हमारे समझानेसे आप सोते हुए पुरुषोंके वचनोंको इच्छाके विना भी उत्पन्न हुए स्वीकार करते हैं तो सुगतके वचनोंकी प्रवृत्ति भी न तो साक्षात् इच्छापूर्वक हुयी है और न पूर्वकालकी इच्छासे परम्परा इच्छापूर्वक हुयी है यों इष्ट करना पडेगा। आप यह भी तो समझिये कि शुद्ध बुद्ध भगवान्के बोलनेकी संकल्प विकल्परूप इच्छाएं कैसे उत्पन्न हो सकती हैं?। शुद्ध आत्मामें भी इच्छा मानी जावेगी तो मुक्तजीवके और आकाशके भी इच्छा होनेका प्रसंग आवेगा। जो कि आपको इष्ट नहीं है। यह अतिप्रसंग हुआ।

सान्निध्यमात्रतस्तस्य चिन्तारत्नोपमस्य चेत्।
कुट्यादिभ्योपि वाचः स्युर्विनेयजनसम्मताः॥ ९२॥

बौद्ध कहते हैं कि "सुगतके वचन इच्छापूर्वक नहीं हैं, सुगतके केवल निकट रहनेसे ही वचन अपने आप बुल जाते हैं। जैसे कि चिंतामणि रत्नके समीप रहने मात्रसे रत्नकी इच्छा न होनेपर उसके सन्निधानमात्रसे मनुष्यको अभीष्ट वस्तुएं प्राप्त हो जाती है"। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा मानेंगे तो सुगतके पास रहनेसे झोंपडी, भित्ति, स्तम्भ आदिसे भी विनययुक्त शिष्यजनोंके उपयोगी सम्मानित वचन निकलने चाहिये।

सत्यं न सुगतस्य वाचो विवक्षापूर्विकास्तत्सन्निधानमात्रात् कुट्यादिभ्योऽपि यथाप्रतिपत्तुरभिप्रायं तदुद्भुतेश्चिन्तारत्नोपमत्वात्सुगतस्य, तदुक्तम् "चिन्तारत्नोपमानो जगति विजयते विश्वरूपोऽप्यरूपः" इति केचित्।

इस कारिका भाष्य यों है कि सुगतके वचन, बोलनेकी इच्छापूर्वक नहीं हैं यह ठीक है। उस सुगतके विद्यमान रहने मात्रसे समझनेवाले शिष्यजनोंके अभिप्रायके अनुसार कुटी, भित्ति आदिसे भी वे वचन निकल पडते हैं। क्या हुआ? क्योंकि सुगत भगवान् चिन्तामणि रत्नके सदृश हैं। चिंतामणि रत्न मांगनेवालोंके अभिप्रायानुसार केवल अपनी विद्यमानतासे ही विना इच्छाके छप्परमेंसे भी अभीष्ट पदार्थोंको निकाल देता है। वही हमारे ग्रंथोंमें लिखा है कि "वह बुद्ध

चिंतामणि रत्नके समान होता हुआ जगतमें जयवंत है। सम्पूर्ण अनेक रूप होनेपर भी स्वयं रूपरहित है अर्थात् स्वयं इच्छारहित है किंतु संसारवर्ती प्राणियोंको उनकी इच्छानुसार शुभ फल देनेवाला है"। ऐसा कोई बुद्धु बौद्ध कहते हैं।

ते कथमीश्वरस्यापि सन्निधानाज्जगदुद्भवतीति प्रतिषेद्धुं समर्थाः, सुगतेश्वरयोरनुपकारकत्वादिना सर्वथा विशेषाभावात् तथाहि—

वे बौद्ध "ईश्वरके भी निकटमें विद्यमान रहने मात्रसे जगत् उत्पन्न हो जाता है" इस प्रकार नैयायिकोंके सिद्धांतका खण्डन करनेके लिये कैसे समर्थ हो सकते हैं? बताओ सुगतके उदासीन रूपसे विद्यमान होनेपर उपदेश हो जाता है यह अन्वय ईश्वरके होनेपर जगत् उत्पन्न हो जाता है यहां भी विद्यमान है। सुगतका जगत्के प्राणियोंके साथ उपकृत–उपकारक भाव नहीं है। वैसा ही नित्य कूटस्थ ईश्वरका भी जगत्के साथ कोई उपकार्य–उपकारक भाव नहीं है क्योंकि प्राणियोंकी तरफसे आये हुए उपकारको सुगतसे भेद माननेपर या सुगतकी तरफसे गये हुए प्राणियोंके ऊपर उपकारका भेद माननेपर अनवस्था दोष आता है। स्वस्वामि सम्बन्धकी विवक्षा भिन्न उपकारोंकी आकांक्षा बढती जावे। और अभेद माननेपर सभी प्राणी सुगतके कार्य हुए जाते हैं। यही बात ईश्वरमें भी लागू होती है। अतः उपकारक न होकर विना इच्छाके ही ईश्वर जगत्को बना देवेगा। यह मान लो, तथा सुगतके द्वारा उपदेशको देनेमें और ईश्वरके द्वारा जगत्की उत्पत्ति करनेमें आपके मंतव्यानुसार सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है। इसी बातको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं। सुनिये,।

किमेवमीश्वरस्यापि सांनिध्याज्जगदुद्भवत्।
निषिध्यते तदा चैव प्राणिनां भोगभूतये ॥ ९३ ॥

कण्ठ, तालु, व्यापार और इच्छाके विना ही केवल सुगतकी निकटतामात्रसे ही वचन प्रवृत्ति मानोगे तब तो इसी प्रकार ईश्वरकी समीपतासे जगत् उत्पन्न हुआ क्यों न माना जावे? देखिये! संसारवर्ती प्राणियोंके पुण्य, पाप विना फल दिये हुए नष्ट हो नहीं सकते हैं और पुण्य पापके नाश किये विना मोक्ष नहीं हो सकती है इस कारण भोग भुगवानेके लिये ईश्वर उस समय प्राणियोंके शरीर इंद्रियां, स्वामीपन, दरिद्रता आदिको बनाता है। नित्य व्यापक ईश्वरके होनेपर कार्यसमुदाय होता रहता है इस अन्वयसे प्रसिद्ध होरहे ईश्वरका फिर आप निषेध क्यों करते हैं? आपने सुगतको चिन्तामणि रत्नकी उपमा दी है किंतु ईश्वरवादियोंने कार्यकारणभावकी कुछ रक्षा करते हुए ये दृष्टांत दिये हैं कि जैसे हजारों गज लम्बे तंतुओंको एक चावल बराबर मकडी उत्पन्न कर देती है या एक रुपयाभरकी चंद्रकांतमणि चंद्रोदय होनेपर हजारों मन पानी निकाल

चित्राद्यद्वैतवादे च दूरे सन्मार्गदेशना ।
प्रत्यक्षादिविरोधश्च भेदस्यैव प्रसिद्धितः ॥ ९८ ॥

चित्र विचित्र आकारवाले अकेले ज्ञानोंको ही माननेवाले चित्राद्वैतवादी हैं। एवं ग्राह्य, ग्राहक, कार्य, कारण आदि भावोंको रखते हुए क्षणिक ज्ञानोंको माननेवाले विशिष्टाद्वैतवादी हैं। तथा ग्राह्य-ग्राहकभाव आदिसे रहित होकर शुद्ध ज्ञानका ही प्रकाश माननेवाले शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी हैं। ज्ञान, ज्ञेय आदि सबका लोप करनेवाले शून्यवादी हैं। इन चित्र आदिकके अद्वैतवादमें श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देना तो लाखों कोस दूर है क्योंकि अद्वैतवादमें कौन उपदेशक है और कौन उपदेश सुनने वाला है? क्या शब्द है इत्यादि व्यवस्था नहीं बनती है। और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त, इहलोक, परलोक, पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष आदि अनेक पदार्थ जब भेद रूपसे ही लोकमें प्रसिद्ध होकर प्रतीत होरहे हैं तब आपके अद्वैतवादका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ही विरोध आता है। भेदकी जगत्प्रसिद्ध प्रतीति होना प्रामाणिक है।

परमार्थतश्चित्राद्वैतं तावन्न संभवत्येव चित्रस्याद्वैतत्वविरोधात् तद्बद्बहिरर्थस्याप्यन्यथा नानैकत्वसिद्धेः ।

वास्तवमें विचारा जावे तो सबसे पहिले चित्रका अद्वैत ही नहीं बन सकता है असम्भव है। विधवाका विवाह होना जैसे असंगत है। उसी प्रकार नाना आकारके पदार्थोंका एक अद्वैत नहीं होसकता है। जो नाना है वह अद्वैत नहीं, अद्वैतका अनेकपनसे और चित्रपनेका अद्वैत होनेसे विरोध है। उसीके समान बहिरंग घट, पट, सह्य, विन्ध्य आदि भी द्वैतपदार्थ भिन्न भिन्न हैं। यदि ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे तो अनेक पदार्थ एकपनरूप सिद्ध होजावेंगे, अर्थात् स्वतन्त्र सत्तावाले एक एक होकर जीव, पुद्गल आदि अनेक पदार्थ हैं, जोकि प्रथमसे ही प्रसिद्ध हैं।

स्यान्मतं चित्राकाराप्येका बुद्धिर्बाह्यचित्रविलक्षणत्वात्। शक्यविवेचनं हि बाह्यं चित्रमशक्यविवेचना स्वबुद्धेर्नीलाद्याकारा इति। तदसत्।

चित्राद्वैतवादियोंका यह भी मन्तव्य होसकता है कि अनेक आकारोंको धारण करनेवाली चित्रबुद्धि भी एक ही है क्योंकि बुद्धिके भिन्न भिन्न आकार तो चित्रपट, इन्द्रधनुष्य, तितली आदिके बहिरंग विचित्र आकारोंसे विलक्षण है। चित्रपट आदिके बहिरंग आकार नियमसे पृथक् पृथक् किये जा सकते हैं किन्तु बुद्धिके अपने नील, पीत आदि आकार न्यारे न्यारे नहीं किये जासकते हैं। यहांतक बौद्ध कह चुके हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह चित्राद्वैतवादियोंका कहना झूंठ है प्रशंसनीय नहीं है। कारण कि—

बाह्यद्रव्यस्य चित्रपर्यायात्मकस्याशक्यविवेचनत्वाविशेषाच्चित्रैकरूपतापत्तेः यथैव हि ज्ञानस्याकारास्ततो विवेचयितुमशक्यास्तथा पुद्गलादेरपि रूपादयः ।

बहिरंग द्रव्योंमें भी अनेक रूप, रसके साथ तादात्म्य रखनेवाले चित्रपर्याय-स्वरूप पदार्थ हैं। जैसे कि पानीमें घुले हुए काले, पीले, नीले रंगोंका आकार भिन्न नहीं किया जाता है तथा ठण्डाईमें दूध, मिश्री, काली मिर्च, बादामके रसोंके आकारका भेदीकरण नहीं होता है, यों विवेचन नहीं कर सकना बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग दोनोंमें समान है, इस कारण यहां भी चित्राद्वैतरूपसे या चित्राद्वैतरससे एकपनका प्रसंग हो जावेगा। यह बौद्धोंके ऊपर आपादन है जैसे ही चित्रज्ञानके आकार ज्ञानसे भिन्न भिन्न रूप होकर नहीं जाने जाते हैं या न्यारे नहीं किये जा सकते हैं। उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यके रूप, रस आदिक और आत्मद्रव्यके चेतना, सुख, उत्साह आदि भी पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, कोई अन्तर नहीं है। एतावता क्या इनका चित्राद्वैत बन जावेगा ? किंतु नहीं।

नानारत्नराशौ बाह्ये पद्मरागमणिरयं चन्द्रकान्तमणिश्चायमिति विवेचनं प्रतीतमेवेति चेत्, तर्हि नीलाद्याकारैकज्ञानेऽपि नीलाकारोऽयं पीताकारश्चायमिति विवेचनं किन्न प्रतीतम् ?।

यदि चित्राद्वैतवादी यों कहें कि बहिरंग पदार्थोंमें तो न्यारे न्यारे आकार जान लिये जाते हैं देखिये, नाना रंगकी मणियोंके एक स्थानमें विद्यमान (मौजूद) रहनेपर यह लाल लाल पद्मराग मणिका प्रकाश है और यह पीला पीला चन्द्रकान्तमणिका प्रतिभास है। तथा यह हरा हरा पन्नाका आभास है, इसी प्रकार ठण्डाई पेय द्रव्यमें मिर्च अधिक हैं, मीठापन कम है आदि आकार पृथक् पृथक् प्रतिभासित हो ही जाते हैं। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कहेंगे कि तब तो समूहालम्बन ज्ञानमें या नील, पीत आदि आकारवाले एक चित्रज्ञानमें भी यह नीलका आकार है। ज्ञानमें इतना अंश पीतके आकारका है, ज्ञानमें इतनी हरितकी प्रमिति है, क्या यह पृथक् रूपसे विचार करना ज्ञानमें नहीं प्रतीत हुआ है ? अर्थात् चित्रज्ञानमें भी भिन्न भिन्न प्रतीति हो रही हैं।

चित्रप्रतिभासकाले तन्न प्रतीयत एव पश्चात्तु नीलाद्याभासानि ज्ञानान्तराण्यविद्योदयाद्विवेकेन प्रतीयन्त इति चेत्, तर्हि मणिराशिप्रतिभासकाले पद्मरागादिविवेचनं न प्रतीयत एव, पश्चात्तु तत्प्रतीतिरविद्योदयादिति शक्यं वक्तुम् ।

बौद्ध बोल रहे हैं कि नाना आकारवाले चित्रज्ञानके प्रतिभास करते समय वह पृथक् पृथक् आकारोंका विवेचन प्रतीत नहीं होरहा ही है, हां पीछे तो मिथ्या, वासनाओंसे जन्य अविद्याके उदय होनेपर नील, पीत, आदिकको जाननेवाले दूसरे झूंठे झूंठे ज्ञान भिन्न भिन्न रूपसे उन आकारोंको

जानते हुये प्रतीत होरहे हैं। प्रमाणात्मक सच्चा ज्ञान तो अनेक आकारोंका अभिन्न रूपसे ही जानता है। आचार्य कहते हैं कि यदि आप बौद्ध ऐसा कहोगे तो माणिक, पन्ना, नील, हीरा आदि मणियोंका समुदाय रूपसे प्रतिभास करते समय यह पद्मराग मणीकी लाल प्रभा भिन्न है, यह नीली कान्ति न्यारी है आदि इस प्रकार भेदज्ञान नहीं प्रतीत होता है किन्तु यहां भी अनेक रूपोंकी संकीर्ण पर्यायोंमें पीछेसे अविद्याके उदय होनेपर उस भेदविज्ञानको प्रतीत कर लिया जाता है। ऐसा हम भी कह सकते हैं। हम जैनोंका आपादन आपके ऊपर ठीक जम गया है।

मणिराशेर्देशभेदेन विभजनं विवेचनमिति चेत् भिन्नज्ञानसन्तानराशेः समम्।

मणियोंकी राशिका तो भिन्न देशकी अपेक्षासे विभाग करनारूप विवेचन हो सकता है आप बौद्ध यदि ऐसा कहोगे तो भिन्न भिन्न देवदत्त, जिनदत्तके ज्ञानसन्तानसमुदायका भी देशभेदसे विभाग हो सकता है। दोनों समान है फिर आपका चित्राद्वैत कहां रहा ?।

एकज्ञानाकारेषु तदभाव इति चेत् एकमण्याकारेष्वपि।

पुनः भिन्न ज्ञानसंतानोंमें देश भेद भले ही हो जाय किंतु एक ज्ञानके आकारोंमें तो भेद नहीं हुआ यदि आप यों कहेंगे तो हम भी कहते हैं कि अनेक मणियोंके संसर्ग होनेपर या सूर्य और दीपकके निकट होनेपर अनेक पैलवाली एक मणिके परिणत हुए नाना आकारोंमें भी पृथक् भाव नहीं है। परस्पर सन्निधान होनेपर निमित्त नैमित्तिक भावसे एक मणिकी भी इंद्रधनुषके समान अनेक दीप्तियां हो जाती हैं।

मणेरेकस्य खण्डने तदाकारेषु तदस्तीति चेत्। ज्ञानस्यैकस्य खण्डने समानम्।

एक मणिके टुकडे करनेपर उसके नाना आकारोंमें वह भेदीकरण हो जाता है। यदि ऐसा कहोगे तब तो एक चित्रज्ञानके खण्ड करनेपर "यह नील आकार है" और यह पीत आकार है" यह भी भेद किया जा सकता है। मणिका दृष्टांत समान है।

पराण्येव ज्ञानानि तत्खण्डने तथेति चेत्। पराण्येव मणिखण्डद्रव्याणि मणिखण्डने तानीति समानम्।

फिर भी यदि आप बौद्ध यों कहेंगे कि उस चित्रज्ञानका खण्ड करनेपर तो दूसरे दूसरे अनेक ज्ञान इस प्रकार वैसे उत्पन्न होगये हैं तो हम भी कहते हैं कि मणिके खण्ड करनेपर भी वे भिन्न भिन्न मणिद्रव्यके खण्ड दूसरे ही बन गये हैं। यों फिर भी समानता ही रही।

नन्वेवं विचित्रज्ञानं विवेचयन्नर्थे पततीति तदविवेचनमिति चेत्, तर्हि एकत्वपरिणतद्रव्याकारानेवं विवेचयन्नानाद्रव्याकारेषु पततीति तदविवेचनमस्तु, ततो यथैकज्ञानाकाराणा-

मशक्यविवेचनत्वं तथैकपुद्गलादिद्रव्याकाराणामपीति ज्ञानवद्ग्राह्यमपि चित्रं सिद्धयत्कथं प्रतिषेध्यं येन चित्राद्वैतं सिद्धयेत् ।

यहां चित्राद्वैतवादीका स्वपक्षके अवधारण पूर्वक कहना है कि इस प्रकार विचित्र आकारवाले एक ज्ञानका टुकडा किया जावेगा तो वह खण्ड करना ज्ञानके विषयभूत अर्थोंमें पडता है। क्या घट, पट, पुस्तकको एकदम जाननेवाले समूहालम्बन ज्ञानके टुकडे हो सकते हैं ? यदि कोई आहार्य बुद्धिसे टुकडे करेगा भी तो समूहालम्बनके विषयोंपर वह भेद करना पडेगा। इस कारण चित्रज्ञानके आकारोंमें भी भेदकरण नहीं होता है। इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो इस प्रकार माणिके अवयवोंसे एकत्वरूप बन्धनको प्राप्त होरहे मणिद्रव्यके आकारोंका भी विवेचन करना, उसी प्रकार मणिखण्डरूप नानाद्रव्योंके आकारोंमें पडेगा। इस कारण एक मणिके उन आकारोंका भेद करण नहीं हो सकता है। अतः मणिका भी विवेचन न होओ। इस कारण एक ज्ञानके आकारोंका जैसे भेद करना शक्य नहीं है, उसी प्रकार एक पुद्गल या एक आत्मा आदि द्रव्यके रूप, रस आदिक या ज्ञान सुख आदि आकारोंका भी यों भेदकरण नहीं हो सकता है। तथा च अतरंग ज्ञानके चित्राद्वैतके समान बहिरंग रूपाद्वैत, रसाद्वैत, शब्दाद्वैत, भोजनाद्वैत आदि भी चित्र सिद्ध होजावेंगे, एवं च सिद्ध होते होते अनेक अद्वैतोंके सिद्ध होने पर द्वैतवादका आप कैसे निषेध करोगे ! जिससे कि आपका चित्राद्वैत सिद्ध होजावे।

न च सिद्धेपि तस्मिन् मार्गोपदेशनास्ति, तत्त्वतो मोक्षतन्मार्गादेरभावात् ।

यदि चित्राद्वैत आपके मतानुसार सिद्ध भी मानलिया जावे तो भी मोक्षमार्गका उपदेश नहीं हो सकता है क्योंकि अद्वैतवादमें वास्तविक रूपसे मोक्ष और उस मोक्षका मार्ग तथा उपदेशक, उपदेश्य आदिका अभाव है।

संवेदनाद्वैते तदभावोऽनेन निवेदितः ।

इस चित्राद्वैत पक्षमें मोक्ष और उसके मार्ग तथा उपदेशका निराकरण करदेनेसे शुद्ध ज्ञानाद्वैतमें भी उस मोक्षमार्गके उपदेशका अभाव निवेदन करदिया है। शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानके ग्राह्याकार, ग्राहकाकार, नीलाकार, पीताकार आदि कोई भी अंश नहीं मानते हैं, " विंचिर् पृथक्भावे " धातुका अर्थ है न्यारा न्यारा करना और " विचृ विचारणे " का अर्थ विचार करना है, विशिष्टाद्वैतवादी ग्राह्य आकारोंका विचार करना अर्थ लेते हैं और शुद्धाद्वैतवादी पृथक् करना अर्थ ग्रहण करते हैं, एवं अद्वैतवादमें मोक्ष और मोक्षमार्गकी व्यवस्था कथमपि नहीं बनती है।

प्रत्यक्षादिभिर्भेदप्रसिद्धेः तद्विरुद्धं च चित्राद्यद्वैतमिति सुगतमतादन्य एवोपशमविधेर्मार्गः सिद्धः ततो न सुगतस्तत्प्रणेता ब्रह्मवत् ।

तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त, सह्य, विन्ध्य आदि भेद प्रसिद्ध हो रहे हैं, अतः आपका वह चित्राद्वैत और संवेदनाद्वैत आदिका प्रतिपादन प्रमाणोंसे विरुद्ध है। इस प्रकार सुगतमतसे भिन्न ही कोई दूसरा शान्तिविधानका उपाय सिद्ध हुआ। अर्थात अर्हन्तदेव ही सांसारिक दुःखोंकी शान्तिका मार्ग उपदिष्ट करते हैं। इस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि बुद्ध उस मोक्षमार्गका प्रणयन करनेवाला नहीं है। जैसे कि ब्रह्माद्वैतवादियोंका सत्तारूप परब्रह्म मोक्षमार्गका उपदेष्टा नहीं है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च मोचकः।
न बन्धोऽस्ति न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥ ९९ ॥
न ब्रह्मनाद्विगं सिद्धा विज्ञानाद्वैतवत्स्वतः।
नित्यसर्वगतैकात्माप्रसिद्धेः परतोऽपि वा ॥ १०० ॥

ब्रह्माद्वैतवादी भी तो यही कहते हैं कि न किसीका नाश है और न किसीकी उत्पत्ति है, न कोई जीव बन्धा हुआ है और न कोई दूसरा जीव मोक्ष प्राप्त कर रहा है। न बन्ध है और न मोक्ष। उक्त प्रकार भेदोंका निषेध करना ही वास्तविक पदार्थ है। इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादियोंके मतमें विज्ञानाद्वैतवादियोंके समान परमार्थपना नहीं बन सकता है क्योंकि वह नित्य, सर्वव्यापक, एक, सत्तारूप, परब्रह्म अपने आप तो स्वतः प्रसिद्ध नहीं है और न अद्वैतवादियोंके मतमें दूसरे अनुमान, हेतु आदि परपदार्थसे आत्माऽद्वैतकी प्रसिद्धि हो सकती है। क्योंकि वे आत्मासे अतिरिक्त दूसरा पदार्थ स्वीकार नहीं करते हैं।

न हि नित्यादिरूपस्य ब्रह्मणः स्वतः सिद्धिः क्षणिकानंशसंवेदनवत्, नापि परतस्तस्यानिष्टेः अन्यथा द्वैतप्रसक्तेः।

न तो नित्य व्यापक एक ब्रह्मकी अपने आपही ज्ञप्ति हो सकती है, जैसे कि बौद्धोंके क्षणिक और अंशोंसे रहित ज्ञानाद्वैतकी अपने आप सिद्धि नहीं होपाती है। और दूसरोंसे भी ब्रह्म की ज्ञप्ति नहीं होती है। कारण कि ब्रह्माद्वैतवादियोंके मतमें वह परपदार्थ इष्ट नहीं किया गया है, अन्यथा यानी अन्य प्रकारसे यदि दूसरे पदार्थको साधक मानोगे तो द्वैतवादका प्रसंग आजावेगा।

कल्पितादनुमानादेः तत्साधने न तात्त्विकी सिद्धिर्यतो निरोधोत्पत्तिबद्धमोचकबन्धमुक्तिरहितं प्रतिभासमात्रमास्थाय मार्गदेशना दूरोत्सारितैवेत्यनुमन्यते।

यदि अद्वैतवादी थोडी देरके लिए अनुमान, हेतु और वेदवाक्यों आदिकी भिन्न स्वरूप कल्पना करके उस कल्पित अनुमान आदिसे उस ब्रह्माद्वैतकी सिद्धि करेंगे ऐसी दशामें तो ब्रह्मकी

वास्तविक सिद्धि न हो सकेगी। कल्पित धूमसे परमार्थ अग्निकी सिद्धि नहीं होती है। जिससे कि उत्पाद, व्यय, बद्ध बन्धक, मोचक, बन्ध और मोक्षसे रहित हो रहे केवल प्रतिभास सामान्यकी श्रद्धासे मोक्षमार्गके उपदेशोंका दूर फेंकना ही यों स्वीकार कर लिया जावे। अर्थात् बन्ध, मोक्ष आदिसे रहित केवल प्रतिभास चैतन्यकी वास्तविक सिद्धि होगयी होती तब तो द्वैतवादमें होनेवाले मोक्षमार्गके उपदेश देनेका भी दूर फैंक देना मान लिया जाता, किन्तु जब अद्वैत की सिद्धि ही नहीं हुयी तो द्वैतवादियोंके यहां मोक्षमार्गका उपदेश वास्तविक सिद्ध होजाता है।

तदेवं तत्त्वार्थशासनारम्भेऽर्हन्नेव स्याद्वादनायकः स्तुतियोग्योऽस्तदोषत्वात्। अस्तदोषोऽसौ सर्वविक्त्वात्। सर्वविदसौ प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकत्वात्।

इसलिये अबतकके उक्त प्रकरणसे इस प्रकार सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थशास्त्रके आरम्भमें स्याद्वाद श्रुतज्ञान सिद्धांतका बनानेवाला पथप्रदर्शक, नायक श्रीअर्हन्तदेव ही स्तवन करने योग्य है, क्योंकि वह अज्ञान, रागद्वेष आदि भावदोषोंसे और ज्ञानावरण आदि द्रव्य दोषोंसे रहित है। जिनेंद्र देवने तपस्या नामक प्रयत्नसे इन दोषोंका विनाश कर दिया है। इस अनुमानमें दिये गये हेतुको सिद्ध करते हैं कि वह जिनेंद्र (पक्ष) देव दोषोंको नष्ट कर चुका है (साध्य) क्योंकि वह युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है (हेतु) इस हेतुको भी पुष्ट करते हैं कि वह जिनेंद्र देव सर्वज्ञ है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह प्रमाणोंसे युक्त मोक्षमार्गका प्रणयन करानेवाला है (हेतु) उक्त तीनों अनुमानोंसे " मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये " इस श्लोकके तीनों विशेषण सिद्ध कर दिये हैं।

ये तु कपिलादयोऽसर्वज्ञास्ते न प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकास्तत एवासर्वज्ञत्वान्नास्तदोषा इति न परीक्षकजनस्तवनयोग्यास्तेषां सर्वथेहितहीनमार्गत्वात् सर्वथैकान्तवादिनां मोक्षमार्गव्यवस्थानुपपत्तेरित्युपसंह्रियते॥

उक्त अनुमानों में व्यतिरेक दृष्टान्त दिखलाते हैं कि जो कपिल, बुद्ध, ईश्वर आदि तो सर्वज्ञ नहीं हैं, वे प्रमाण-प्रतिपादनपूर्वक मोक्षमार्गके बनानेवाले भी नहीं हैं। और उस ही कारणसे जब वे मोक्षमार्गके बनानेवाले नहीं है उससे अनुमित होता है कि वे सर्वज्ञ भी नहीं है। सर्वज्ञ न होनेसे वे दोषोंके ध्वंस करनेवाले भी नहीं हैं। इस कारण परीक्षाप्रधानी पुरुषोंके स्तुति करने योग्य नहीं हैं। समव्याप्तिवाले साध्य हेतुओंको उलटा सीधा कर सकते हैं। उक्त तीनों अनुमानों में दिये गये हेतु ज्ञापक हेतु हैं। धूम अग्निके समान उलटा कर देनेसे ये कारक हेतु बनजाते हैं। जैसे कि अग्निका धूम ज्ञापक हेतु है। किन्तु धूमका अग्नि कारक हेतु है। वैसे ही दोषरहितपनेका सर्वज्ञत्व ज्ञापक हेतु है, किन्तु सर्वज्ञत्वका दोषरहितपना कारक हेतु है। ऐसे ही अन्यत्र समझ-

लेना। जब कि वे कपिलादिक अपने अभीष्ट मार्गसे सर्व प्रकार स्वयं च्युत होरहे हैं, क्यों कि सर्वथा क्षणिक, नित्य ज्ञानाद्वैत आदि एकान्तोंको प्रतिपादन करनेवालोंके मतमें मोक्षमार्गकी समीचीन व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है। अतः इस प्रकरणका अब उपसंहार किया जाता है।

ततः प्रमाणान्वितमोक्षमार्गप्रणायकः सर्वविदस्तदोषः।
स्याद्वादभागेव नुतेरिहार्हः सोऽर्हन्परे नेहितहीनमार्गाः ॥१०१॥

उस कारणसे प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत हुए मोक्षमार्गका आद्य निर्माणकर्त्ता, सर्वज्ञ, दोषोंसे रहित और स्याद्वादसिद्धान्तका धारी अधिपति वह श्री जिनेन्द्रदेव अर्हन्त ही विचारशील साधुओंको इस ग्रन्थमें स्तवन करने योग्य है। दूसरे कपिल, सुगत आदिक तो अपने अभीष्ट मार्गसे अपने आप स्खलित हो रहे हैं। बुद्ध आदिके मतमे उनके मतानुसार ही संसारके दुःखोंसे मुक्त होनेका उपाय नहीं बनता है।

इति शास्त्रादौ स्तोतव्यविशेषसिद्धिः।

इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रकी आदिमें कहेगये मंगल श्लोकद्वारा स्तवन करने योग्य विशिष्ट अर्हंत की सिद्धि कर दी है।

इस प्रकार आचार्य महाराजके द्वारा प्रतिपादन की गयी दूसरी वार्तिकका इस एक सौ एक मी वार्त्तिकतक व्याख्यान करके संकोच किया गया है। अर्थात् सुगत आदि स्तुति करने योग्य नहीं हैं, किन्तु उनसे विशिष्टताको धारण करनेवाले श्रीअर्हन्त परमेष्ठी ही विद्वान् मुनीश्वरोंकी स्तुतिकों धारण करने योग्य हैं, जोकि द्वितीय वार्तिकमें कहा गया था। पूर्वोक्त प्रकरणोंमें इसी बातको भाष्यसहित सिद्ध कर दिया है। उमास्वामी महाराजको "मोक्षमार्गस्य नेतारं" इत्यादि मंगलाचरण अभीष्ट है यह भी इससे ध्वनित होता है।

स्वसंवेदनतः सिद्धः सदात्मा बाधवर्जितात्।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः ॥ १०२ ॥

अब तीसरी वार्तिकके अनुसार श्रेयोमार्गसे युक्त होनेवाले आत्माको साधते हैं सो सुनिये। जो ज्ञान सकल बाधकोंसे रहित है, वह प्रमाण है। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है। प्रत्यक्षके दो भेद हैं। सांव्यवहारिक और मुख्य। वहां सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाणका एक भेद स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी है। संसारी जीवोंका आत्मा तथा उसके ज्ञान आदि पर्यायें स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं। जब सर्वदा बाधकोंसे रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा आत्मा स्वयं सिद्ध होरहा है,

तब उस आत्माको पृथ्वी, अप्, तेज, वायु इन चार भूतोंका परिणाम स्वरूप कहना चार्वाकोंका अनुचित है। क्योंकि यदि पृथ्वी आदि चार तत्त्वोंका परिणाम आत्माको माना जावेगा तो ऐसे जड आत्मामें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष बन नहीं सकता है। पृथिवी आदिकके पर्याय घटादिकोंका बहिरिन्द्रिय जन्य और बाहिरकी तरफ जाननेवाला प्रत्यक्ष होता है। अन्तरंग तत्त्वोंके उन्मुख होकर आत्म सम्बन्धी पदार्थोंको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष पृथ्वी आदिके बने हुए जड आत्मामें नहीं होसकेगा।

क्षित्यादिपरिणामविशेषश्चेतनात्मकः सकललोकप्रसिद्धमूर्तिरात्मा ततोऽन्यो न कश्चित् प्रमाणाभावादिति कस्य सर्वज्ञत्ववीतरागत्वे मोक्षो मोक्षमार्गप्रणेतृत्वं स्तुत्यता मोक्षमार्ग प्रतिपित्सा वा सिद्धयेत्। तदसिद्धौ च नादिसूत्रप्रवर्तनं श्रेय इति योप्याक्षिपति, सोऽपि न परीक्षकः स्वसंवेदनादात्मनः सिद्धत्वात्। स्वसंवेदनं, भ्रान्तमिति चेत्, न तस्य सर्वदा बाधवर्जितत्वात्। प्रतिनियतदेशपुरुषकालबाधवर्जितेन विपरीतसंवेदनेन व्यभिचार इति न मन्तव्यम्, सर्वदेति विशेषणात्।

न च क्ष्मादिविवर्तात्मके चैतन्यविशिष्टकायलक्षणे पुंसि स्वसंवेदनं संभवति, येन ततोर्थान्तरमात्मानं न प्रसाधयेत्।

चार्वाकका मन्तव्य है कि गुड पानी, पिठी, महुआके प्रयोग द्वारा मिश्रण विशेष होनेपर जैसे उन्मत्तता पैदा करनेवाली मदिरा नवीन बन जाती है, उसी प्रकार पृथिवी, अप्, तेज, वायु, के उचित रूपमें मिलनेपर विवर्त होते होते चेतन स्वरूप आत्मा उत्पन्न हो जाता है। चैतन्य शक्तिसे युक्त मूर्तिवाला शरीर ही सम्पूर्ण संसारमें आत्मा प्रसिद्ध है। उस जीवित शरीरसे भिन्न कोई भी आत्मा नहीं हैं। शरीरसे निराले अमूर्त आत्माको जाननेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार जैनोंके द्वारा माना हुआ आत्मा कोई है ही नहीं, तो किसकी सर्वज्ञता और वीतरागता गुणोंके उत्पन्न होनेपर मोक्ष मानते हो, और कौन मोक्षमार्गका प्रणेता है तथा कौन मुनीन्द्रोंके द्वारा स्तवनीय है? अथवा किसके मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा बन सकती है? अर्थात् आत्माकी असिद्धि होनेपर उक्त सर्वज्ञता आदि धर्म किसीके सिद्ध हो नहीं सकते हैं। जब धर्मी ही नहीं है तो उसके धर्म कहां और मोक्ष तथा मोक्षमार्गके जाननेकी वह इच्छा ही सिद्ध नहीं हुयी तो उमास्वामी महाराजका "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस तत्त्वार्थ शास्त्रके पहिले सूत्रका प्रवर्तन करना भी योग्य नहीं है। इस प्रकार जो भी कोई आक्षेप करता है, वह बृहस्पति मतानुयायी चार्वाक भी तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाला नहीं है। क्योंकि शरीरसे अतिरिक्त आत्मा स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे सिद्ध होरहा है।

यदि चार्वाक यों कहे कि आत्माको अन्तरंग तत्त्वरूपसे वेदन करनेवाला आपका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भ्रान्त है, सो उसका यह कहना तो ठीक नहीं क्योंकि आत्माको जाननेवाला वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सर्वकालमें बाधा रहित है। बाधाओंसे रहित ज्ञान कभी भ्रान्त नहीं होता है।

चार्वाक हेतुमें दोष उठाता है कि दौडती हुयी रेलगाडीमें बैठे हुए पुरुषको दूरवर्ती कांस या बालू रेतमें जलका ज्ञान हो जाता है और वहां कोई बाधक ज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है। एतावता क्या वह जलज्ञान प्रमाणीक हो जावेगा ?

दूसरा व्यभिचार यह है कि किसी संभ्रान्त सीपमें चांदीका ज्ञान होगया और मृत्यु पर्यंत प्रयोजन न होनेके कारण उस व्यक्तिको जन्मभर कोई बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, इतनेसे ही क्या वह ज्ञान अभ्रान्त प्रमाण हो जावेगा ?

तीसरा व्यभिचार यह है कि एक आततायी पुरुषको रस्सीमें सर्पका ज्ञान होगया, उस समय उसको बाधक प्रमाण भी उत्पन्न नहीं हुआ, इतनेसे ही वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जाता है। इस कारण जैनोंके बाधवर्जितपने हेतुका कोई एक विशेष देश और विशिष्ट पुरुष तथा नियतकाल सम्बन्धी बाधाओंसे रहित उक्त तीन भ्रांत ज्ञानोंसे व्यभिचार हुआ। ग्रंथकार कहते हैं कि—

यह चार्वाकोंका अभिप्राय समीचीन नहीं है। क्योंकि हमारे बाधवर्जित हेतुमें "सर्वदा" यह विशेषण लगा हुआ है। सम्पूर्ण पुरुषोंको, सम्पूर्ण देशोंमें, तथा सम्पूर्ण कालोंमें, बाधाओंसे रहित जो ज्ञान है, वह अभ्रांत प्रमाण है। चार्वाकके दिये गये तीन व्यभिचार किसी देशमें, किसी पुरुषको, किसी कालमें भले ही बाधा रहित होंवें, किंतु सर्वकालमें बाधाओंसे शून्य नहीं हैं। बालू रेतमें जलका ज्ञान निकट पहुंचने पर भ्रांत सिद्ध हो जाता है। सीपमें उत्पन्न हुए चांदीके ज्ञानको अन्य परीक्षकजन बाधित कर देते हैं। रस्सीमें सर्पका ज्ञान भी कालांतरमें सबाध सिद्ध हो जाता है अर्थात् जो सर्वदा बाधा रहित होगा, वह ज्ञान प्रमाणीक है। सर्वदा कहनेसे सर्वत्र सर्वस्य भी उपलक्षणसे आजाते हैं॥

यदि भूमि आदि पानी पृथ्वी, अप्, तेज, वायुका परिणाम स्वरूप और चैतन्य शक्ति युक्त इस दृश्यमान शरीरको ही आत्मा मानलिया जावेगा तो ऐसे शरीररूपी आत्मामें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना नहीं संभवता है। जिससे कि वह होता हुआ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष उस शरीरसे भिन्न आत्माको सिद्ध न कर सके, भावार्थ—स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा आत्मा शरीरसे भिन्न स्वयं सिद्ध हो जाता है।

स्वसंवेदनमसिद्धमित्यत्रोच्यते।

यदि यहां प्रतिवादी चार्वाक यों कहे कि आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा जान लेना सिद्ध नहीं है। इस पर आचार्य उत्तर कहते हैं कि:—

स्वसंवेदनमप्यस्य बहिःकरणवर्जनात् ।
अहंकारास्पदं स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥ १०३ ॥

इस अन्तरंग आत्माका बहिरंग पांच इन्द्रियोंसे रहित, तथा " मैं मैं " इस प्रकार की प्रतिति का स्थान, और बाधारहित, विशद रूपसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना भी अनुभवमें आरहा है। बाल, वृद्ध, पामर, बनिता आदि सभी जीव न्यारे आत्माका अनुभव कररहे हैं।

न हीदं नीलमित्यादि प्रतिभासनं स्वसंवेदनं बाह्येन्द्रियजत्वादनहंकारास्पदत्वात्, न च तथाहं सुखीति प्रतिभासनमिति स्पष्टं तदनुभूयते ।

यह कम्बल नीला है, यह पुष्प पीला है, इत्यादि ज्ञान आत्मा और आत्मीय तत्त्वोंके जानने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप नहीं हैं। क्योंकि नील, पीत आदिकके ज्ञान तो बहिरंग चक्षुरादिक इन्द्रियोंसे जन्य है। बाह्य इन्द्रियोंसे जन्य है। तभी तो नील आदिके ज्ञान में मैं मैं इत्याकारक अहं आकार (अर्थविकल्प) को करनेवाली बुद्धिके स्थान नहीं हैं। किन्तु मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानवान् हूं, इस प्रकारके वे वेदन तो विशद रूपसे अनुभवमें आरहे हैं। ये ज्ञान बाह्येन्द्रियोंसे जन्य नहीं हैं तथा अहं अहं इत्याकारक प्रतीतिके आधार भी हैं। अतः स्वसंवेदन रूप हैं, यह सिद्ध हुआ।

गौरोहमित्यवभासनमनेन प्रत्युक्तं, करणापेक्षत्वादहं गुल्मीत्यवभासनवत् ।

अहंपनेको अवलम्ब लेकर तो मैं गौरा हूं मैं स्थूल हूं यह भी ज्ञान होता है। इस कारणसे मैं इस प्रतीतिका आधार शरीर मानना चाहिये। इस प्रकार चार्वाकका कहना भी, जो " बहिरंग इन्द्रियोंसे जो जन्य है, वह स्वसंवेदन नहीं है " इस पूर्वोक्त अनुमानसे ही खण्डित हो जाता है। क्योंकि जैसे कि मैं फोडेवाला हूं, मैं तिलीवाला हूं, मैं गूमडेवाला हूं, यह ज्ञान बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा होनेसे अहं बुद्धिका आधार होता हुआ भी स्वसंवेदन नहीं है, वैसे ही मैं गौरा हूं, मैं काला हूं, मैं मोटा हूं, ये ज्ञान भी स्पर्शन, चक्षुरिन्द्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाला होनेसे स्वसंवेदनरूप नहीं है। वस्तुतः विचारा जाय तो यहां शरीरमें शब्दकी प्रवृत्ति उपचारसे है। जैसे कि अत्यन्त प्रिय पुरुषको यह मेरी आंख है, ये मैं ही हूं, यह कहना कल्पनामात्र है। शरीरमें आत्माका मोहजन्य प्रियपना है।

करणापेक्षं हीदं शरीरान्तःस्पर्शनेन्द्रियनिमित्तत्वात् । सुख्यहमित्यवभासनमिति तथास्तु तत एवेति चेत्, न, तस्याहंकारमात्राश्रयत्वात्, भ्रान्तं तदिति चेन्न, अबाधत्वात् ।

किसी वातविकारसे शरीरमें आम, खरबूजा सरीखा उठा हुआ गूमडा बन जाता है। उसको गुल्म कहते हैं। मैं गुल्मवाला हूं, पतला हूं यह ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है (साध्य) क्योंकि हाथोंसे टटोलनेपर शरीरके भीतर रहनेवाली स्पर्शन इन्द्रियको कारण मानकर उत्पन्न हुआ है। यों दृष्टान्तमें हेतुको रखदिया है। तब तो व्याप्तिवाले साध्यको पक्षमें साध देगा।

चार्वाक कहता है कि उस ही कारणसे " मैं सुखी हूं " यह ज्ञान भी उसी प्रकार इन्द्रियोंको निमित्त मानकर उत्पन्न होनेसे ही इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाला मानलिया जावे, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चार्वाकका कहना तो उचित नहीं है। क्योंकि मैं सुखी हूं ऐसा वह वेदन तो केवल अहं करानेवाली प्रतीतिको आश्रय मानकर उत्पन्न हुआ है। इसमें चक्षुरादिक इन्द्रियां और बहिरंग विषय कारण नहीं पडे हैं।

पुनः भी चार्वाक यो कहें कि " मैं सुखी हूं " वह ज्ञान तो भ्रांतिरूप ही है। यह भी उसका कथन ही ठीक नहीं हैं। कारण कि मैं सुखी हूं इस ज्ञानमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। बाधारहित ज्ञान प्रमाण ही होता है। भ्रम नहीं।

नन्वहं सुखीति वेदनं करणापेक्षं वेदनत्वादहं गुल्मीत्यादिवेदनवदित्यनुमानबाधस्य सद्भावात्सबाधमेवेति चेत्, किमिदमनुमानं करणमात्रापेक्षत्वस्य साधकं बहिःकरणापेक्षत्वस्य साधकं वा ? प्रथमपक्षे न तत्साधकं स्वसंवेदनस्यान्तकरणापेक्षस्येष्टत्वात्। द्वितीयपक्षे प्रतीतिविरोधः स्वतस्तस्य बहिःकरणापेक्षत्वाप्रतीतेः।

यहां बाधवर्जितपनको बिगाडनेकी इच्छासे अनुमान बनाकर चार्वाक बाधा उपस्थित करते हैं कि " मैं सुखी हूं " यह ज्ञान (पक्ष) इंद्रियोंकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ है (साध्य) क्योंकि वह ज्ञान है, जैसे कि मैं गुल्मवाला हूं, मैं काला हूं इत्यादि ज्ञान इंद्रियोंकी अपेक्षा रखते हैं। (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानसे आप जैनोंके पूर्वोक्त अनुमानमें बाधा विद्यमान है। इस कारण अर्हतोंका हेतु बाधित हेत्वाभास है। वह मैं सुखी हूं इस ज्ञानको अभ्रान्त सिद्ध नहीं कर सकता है। आचार्य कहते हैं कि यदि चार्वाक यह कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि आपका दिया हुआ यह अनुमान क्या इंद्रियमात्रकी अपेक्षा रखनेपनको सिद्ध करता है अथवा स्पर्शन आदिक बहिरंग इंद्रियोंकी अपेक्षाको सिद्ध करता है ? बताओ।

यदि पहिला पक्ष लोगे तब तो वह अनुमान हमारे अनुमानके बाधक होनेका उद्देश्य रखकर अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि मनरूप अन्तरंग इन्द्रियकी अपेक्षा रखनेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, यह हमने इष्ट किया है। सिद्धसाधन दोष तुमपर लगा। तथा यदि दूसरा पक्ष लोगे कि मैं सुखी हूं यह ज्ञान बहिर्भूतइन्द्रियोंकी अपेक्षा रखता है तो प्रतीतियोंसे विरोध होगा।

होगा। कारण कि अपने आप ज्ञात होनेवाले उस स्वसंवेदन प्रत्यक्षके बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा रखना प्रतीत नहीं होरहा है।

स्वरूपमात्रपरामर्शित्वाच्चथा न स्वसंवेदन बाह्यकरणापेक्षं स्वरूपमात्रपरामर्शित्वात्, यत्र तथा तत्र तथा नीलवेदनं स्वरूपमात्रपरामर्शि चाहं सुखीत्यावेदनमित्यनुमानादपि तस्य तथाभावासिद्धेः।

तथा "मैं सुखी हूँ" इत्याकारक ज्ञान उस प्रकार आत्मा और ज्ञानके स्वांशोंको ही अवलम्ब करता है। यहां यह अनुमान है कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष (पक्ष) अपनी उत्पत्तिमें बहिरंग इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है (साध्य) क्योंकि वह केवल अपने स्वरूपका ही विचार करनेवाला है (हेतु) यहां व्यतिरेकदृष्टांत है कि जो उस प्रकार साध्यवाला नहीं है अर्थात् बहिरंग इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है। वह वैसा अन्तस्तत्त्वको ही विषय करनेवाला होवे, यह नहीं है। जैसे कि नीलका, मीठेका, और ठण्डेका ज्ञान है। मैं सुखी हूं यह ज्ञानस्वरूप मात्रकी ही विशदज्ञप्ति करानेवाला है (उपनय) उस कारण बहिरङ्ग इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता है (निगमन) यहां परामर्शका अर्थ विचार करना रूप श्रुतज्ञान नहीं है किंतु विलक्षण क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ अतरंग आत्मीयतत्त्वोंकी विशिष्ट ज्ञप्ति होना है। इस प्रकार अनुमानसे भी उस स्वसंवेदनको वैसा होना यानी इंद्रियोंकी अपेक्षा रखना सिद्ध नहीं होता है।

स्वात्मनि क्रियाविरोधात् स्वरूपपरामर्शनमस्यासिद्धमिति चेत्।

चार्वाक कहते हैं कि क्रिया अपने कर्त्ता या कर्ममें रहती है। जैसे कि देवदत्त सोता है। यहां शयनक्रिया देवदत्तमें रहती है। जिनदत्त भात पकाता है। यहां पचनक्रिया भातमें रहती है। अकर्मक शयनक्रिया स्वयं शयनमें नहीं रहती है और सकर्मक पाकक्रिया अपने आप पाकमें नहीं ठहरती है अर्थात् पाकमें पाक नहीं होता है। शयन स्वयं नहीं सो जाता है। इस तरह जानना रूप क्रिया स्वयं ज्ञानमें नहीं रह सकती है। स्वसंवेदनमें ज्ञानका ज्ञान करके ज्ञान होना नहीं बनता है। अतः स्वात्मामें क्रियाका विरोध हो जानेसे इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अपने रूपमें ही विज्ञप्ति करना असिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक यों कहेंगे तो—सुनोः—

तद्विलोपे न वै किंचित्कस्यचिद्व्यवतिष्ठते।
स्वसंवेदनमूलत्वात्स्वेष्टतत्त्वव्यवस्थितेः॥ १०४॥

उस अपने आपको जाननेवाले ज्ञानका लोप हो जानेपर किसी भी वादीका कोई भी तत्त्व-व्यवस्थित न हो सकेगा। क्योंकि सर्ववादियोंको अपने इष्टतत्त्वोंकी व्यवस्था करना स्वसंवेदन ज्ञान की नींवपर अवलम्बित होरहा है। अर्थात् स्वपरप्रकाशक ज्ञानके द्वारा ही अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि

हो सकती है। ज्ञानका स्वके द्वारा वेदन होना अनिवार्य है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः ज्ञानका स्वयं अपनेसे ही ज्ञप्ति होना न स्वीकार करनेपर कोई भी दर्शन सिद्ध नहीं हो सकता है। पदार्थोंकी व्यवस्था ज्ञानसे और ज्ञानकी अपने आप व्यवस्था होना न्याय्य है।

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, सर्वमुपप्लवमात्रमिति वा स्वेष्टं तत्त्वं व्यवस्थापयन् स्वसंवेदनं स्वीकर्तुमर्हत्येव, अन्यथा तदसिद्धेः।

चार्वाकके मतमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु यों ये चार तत्त्व माने हैं तथा शून्यवादीके मतमें सम्पूर्ण पदार्थ केवल शून्यरूप असत् स्वीकार किये हैं। इस प्रकार अपने अभीष्ट तत्त्वोंको जो व्यवस्थापित कर रहा है वह वादी ज्ञानका अपने आप वेदन होना इस तत्त्वको भी स्वीकार करनेकी योग्यता रखता ही है। अन्यथा अर्थात्—

यदि ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना न मानोगे तो उक्त उस इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं होसकेगी, क्योंकि संसारमें एक ज्ञान ही पदार्थ ऐसा है, जो स्वयं समझने और दूसरेके समझानेमें प्रधान कारण है। उस ज्ञानका सूर्यके समान स्वपरप्रतिभासन मानना अत्यावश्यक है। जडवादी चार्वाकके मतमें तथा शून्यवादमें भी स्वसंवेदी ज्ञान अनन्यगतिसे स्वीकार करना पडेगा।

परपर्यनुयोगमात्रं कुरुते न पुनस्तत्त्वं व्यवस्थापयतीति चेत्, व्याहतमिदं तस्यैवेष्टत्वात्।

यहां चार्वाक कहता है कि भूतचतुष्टयवादी या शून्यवादी पण्डित वितण्डावादी बनकर दूसरे आस्तिकवादियोंके ऊपर प्रश्नोंको उठाते हुए केवल दोषोंका आरोपण करते हैं, किन्तु फिर अपने किसी अभीष्ट तत्त्वको सिद्ध नहीं करते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि चार्वाकोंके ऐसे कहनेमें तो स्वयं व्याघातदोष है, जैसे कि कोई जोरसे चिल्लाकर कहे कि मैं चुप हूं यहां वदतो व्याघात दोष है। वैसे ही चार्वाक अपने आप ही अपने वक्तव्य विषयका घात कर रहा है, जब कि जयका उद्देश्य लेकर परपक्षके खण्डन करनेमें जो प्रवृत्त है, वही उसका इष्ट तत्त्व है, फिर वह चार्वाक या शून्यवादी कैसे कह सकता है कि मैं किसी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं कर रहा हूं।

परोपगमात् परपर्यनुयोगमात्रं कुरुते न तु स्वयमिष्टे, येन तदेव तत्त्वं व्यवस्थापितं भवेदिति चेत्, स परोपगमो यद्युपप्लुतस्तदा न ततः परपर्यनुयोगो युक्तः सोऽनुपप्लुतश्चेत्कथं न स्वयमिष्टः;

शून्यवादी कहता है कि दूसरे जैन, नैयायिक आदि आस्तिक लोगोंके माने गये स्वसंवेदन, आत्मा आदि तत्त्वोंमें उनके स्वीकार करनेसे हम उनपर दोषोंका केवल उद्भावन करते हैं परंतु अपन माने हुए किसी विशेष तत्त्वमें ऊहापोह नही करते हैं। जिससे कि दूसरेका खण्डन करना वही हमारी तत्त्वव्यवस्था हुई यों मान लिया जाय। भावार्थ—हम अपनी गांठका कोई भी तत्त्व

नहीं मानते हैं। जैन, नैयायिकोंके स्वीकार किये गये प्रमाण आदि पदार्थोंसे उन्हींके आत्मा, परलोक, ज्ञान, आदि तत्त्वोंका खण्डन करते हैं। हम वैतण्डिक हैं, वादी नहीं, वितण्डा करनेवाला केवल परपक्षका खंडन करता है। अपने पक्षकी सिद्धि नहीं, " स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा " (गौतम सूत्र) इस प्रकार शून्यवादीके इस मन्तव्यपर हम जैन पूंछते हैं कि वह दूसरोंका प्रमाण, आत्मा आदि तत्त्वोंका स्वीकार करना यदि आपके मतानुसार घोडेके सींगके समान अलीक शून्यरूप है, तब तो उन दूसरोंके प्रमाण आदिसे उनके ऊपर आपका दोषारोपण करना उचित नहीं है; असत् वस्तुमे सत् या असत्के ऊपर आघात नहीं होता है। हां—

यदि दूसरोंके स्वीकार करनेको आप ठीक ठीक, शून्यरहित, तथा प्रमाणसिद्ध वस्तु मानते हो तब तो आपको वह अपने आप इष्ट कैसे नहीं हुआ ? अर्थात् अन्योंका माना हुआ वस्तुभूत पदार्थ आपने भी इष्ट कर लिया।

परोपगमान्तरादनुपप्लुतो न स्वयमिष्टत्वादिति चेत्। तदपि परोपगमान्तरमुपप्लुतं न वेत्यनिवृत्तः पर्यनुयोगः। सुदूरमपि गत्वा कस्यचित्स्वयमिष्टौ सिद्धमिष्टतत्त्वव्यवस्थापनं स्वसंविदितं प्रमाणमन्वाकर्षत्यन्यथा घटादेरिव तद्व्यवस्थापकत्वायोगात्।

शून्यवादी कह रहा है कि दूसरे जैन, नैयायिक, आदिकोंके प्रमाण आदि तत्त्वोंके स्वीकार करनेको अन्य मीमांसक आदिकोंने वस्तुभूत ठीक स्वीकार किया है। अतः हम शून्यवादी भी उसको स्वीकार कर लेते हैं किंतु हमको वह स्वयं घरमें इष्ट नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम पूछते हैं कि वह आस्तिकोंके प्रमाण प्रमेय आदिको स्वीकार करनेवाले दूसरोंके मन्तव्य आपने शून्यरूप माने हैं ? या वस्तुभूत ठीक माने हैं ? बताओ। इन दोनों पक्षोंमें दोषारोपण न कर सकना, और स्वयं इष्टतत्त्वकी सिद्धि होना ये दोनों दोष आवेंगे। इन दोषोंके वारण करनेके लिये आप फिर तीसरे चौथे वादियोंके मन्तव्योंकी शरण पकडेंगे, वहां भी हमसे ये ही पूर्वोक्त दो पक्ष उठाये जावेंगे और उक्त दोनों दोष आपके ऊपर संलग्न होते चले जावेंगे। " तुम डार डार हम पात पात " इस लोकरूढिके अनुसार हमारा कटाक्ष करना रुक नहीं सकेगा। बहुत दूर भी जाकर " अन्धसर्पके बिलप्रवेश " न्यायसे यदि आप किसी एक वस्तुभूत इष्टतत्त्वकी सिद्धि स्वयं होना इष्ट करेंगे तो आप शून्यवादीको अभीष्ट तत्त्वकी व्यवस्थापना करना सिद्ध हुआ। उस अभीष्ट तत्त्वमें सबसे प्रथम और प्रधान स्वको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रमाणज्ञान ही पीछे लगे हाथ आकर्षित होता है अन्यथा यानी यदि प्रमाणको स्वसंवेदी नहीं माना जावेगा तो जड हो रहे घट, पट आदिकसे जैसे तत्त्वव्यवस्था नहीं हो सकती है वैसे ही उस जड ज्ञानसे भी किसी तत्त्वकी व्यवस्था न हो सकेगी। जगत्का कोई भी तत्त्व निर्णीत न हो पावेगा।

न हि स्वयमसंविदितं वेदनं परोपगमेनापि विषयपरिच्छेदकम्, वेदनान्तरविदितं तदिष्टसिद्धिनिबन्धनमिति चेन्न, अनवस्थानात्, तथाहि—

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जो ज्ञान अपने आप अपने को नहीं जानता है, वह दूसरे वादियोंके स्वीकार करने मात्रसे भी इष्ट तत्त्वोंका ज्ञापक नहीं होता है।

यदि नैयायिकोंके सदृश आप चार्वाक यों कहेंगे कि प्रकृत ज्ञान दूसरेसे और दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञानसे संविदित होता हुआ यों वह इष्ट तत्त्वकी ज्ञप्तिका साधक हो जावेगा, आपका यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानका स्वयंसे वेदन न मान कर दूसरे तीसरे चौथे ज्ञानोंसे ज्ञप्ति माननेमें अनवस्था दोष आता है। स्वयं अन्धेरेमें पडा हुआ ज्ञान अपने विषयोंका प्रकाशक नहीं हो सकता है। इसी बातको प्रसिद्ध कर दिखलाते हैं।

संवेदनान्तरेणैव विदिताद्वेदनाद्यदि
स्वेष्टसिद्धिरुपेयेत तदा स्यादनवस्थितिः ॥ १०५ ॥
प्राच्यं हि वेदनं तावन्नार्थं वेदयते ध्रुवम्।
यावन्नान्येन बोधेन बुद्धयं सोऽप्येवमेव तु ॥ १०६ ॥
नार्थस्य दर्शनं सिद्धयेत् प्रत्यक्षं सुरमन्त्रिणः।
तथा सति कृतश्च स्यान्मतान्तरसमाश्रयः ॥ १०७ ॥

यदि विवक्षित ज्ञानका तीसरे ज्ञानसे जान लिये गये ही दूसरे ज्ञानद्वारा ज्ञान हो जानेपर उससे अपने इष्ट तत्त्वकी ज्ञप्ति होना स्वीकार करोगे तो मूलका क्षय करनेवाला अनवस्था दोष हो जावेगा; जब तक पहिला ज्ञान दूसरेसे और दूसरा तीसरेसे तथा तीसरा चौथेसे, इसी प्रकार आगेके भी ज्ञान उत्तरवर्ती ज्ञानोंसे ज्ञात न होंगे तब तक अप्रकाशित ज्ञान प्रकृत विषयोंका प्रकाशन नहीं कर सकेंगे। देखिये पहिला ज्ञान तब तक निश्चित रूपसे अर्थकी ज्ञप्ति कथमपि नहीं कर सकता है, जब तक कि वह दूसरे ज्ञानसे स्वयं विदित न हो जाय। इसीप्रकार आगेके वे ज्ञान भी भविष्य दूसरे ज्ञानोंसे ज्ञात होकर ही विषयके ज्ञापक हो सकते हैं। इसप्रकार तो अनवस्था हो जानेसे बृहस्पति ऋषिके अनुयायी चार्वाकके मतमें माना गया पृथ्वी आदि पदार्थोंको देखनेवाला अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह प्रत्यक्ष स्वयं अपनेको जानता नहीं है और प्रत्यक्षको जाननेवाला दूसरा ज्ञान चार्वाकने इष्ट नहीं किया है। जो ज्ञान स्वयं जाना नहीं गया है वह दूसरोंका ज्ञापक नहीं होता है। यदि वैसा होनेपर दूसरे ज्ञानोंसे पहिले ज्ञानको ज्ञात मानोगे तो आपको नैयायिकके मतका बढिया सहारा लेना पडा।

अर्थदर्शनं प्रत्यक्षमिति बृहस्पतिमतं परित्यज्यैकार्थसमवेतानन्तरज्ञानवेद्यमर्थज्ञानमिति ब्रुवाणः कथं चार्वाको नाम ?।

इस पंचमकालमें चार्वाक मतके सबसे आदिमें पथप्रदर्शक बृहस्पति नामके ऋषि हुए हैं। उनका यह मत है कि घट, पट, रूप, रस, आदिक पदार्थोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे जानलेना प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। बहिरंग इन्द्रियोंसे अग्राह्य आत्मा, इच्छा, आदि तत्त्वोंको चार्वाक स्वीकार नहीं करते हैं। अतः इनका ज्ञान होना भी वे नहीं मानते हैं। इस अपने मतको छोडकर चार्वाक यदि ज्ञानकी भी दूसरे ज्ञानसे ज्ञप्ति मानेंगे तो नैयायिकका मत अंगीकृत करना पडेगा, नैयायिक ही घट को जाननेवाले ज्ञानका उसी एक आत्मा पदार्थमें समवायसंबन्धसे उत्पन्न हुए अव्यवहित उत्तरवर्ती दूसरे ज्ञानके द्वारा वेदन होना मानते हैं। ज्ञानका प्रत्यक्ष होना बृहस्पति मतानुयायी मानते नहीं हैं, तभी तो अर्थरूप विषयोंके दर्शनको प्रत्यक्ष कहा है।

ज्ञानकी उसी आत्मामें पैदा हुए दूसरे ज्ञानसे ज्ञप्ति मानेंगे तो चार्वाकको अपसिद्धान्त दोष लगेगा। बहिरंग अर्थोंका ही प्रत्यक्ष करना रूप चार्वाकपन भला कैसे स्थिर रहेगा! फिर तो वह नैयायिक बन जावेगा। उक्त रीतिसे नैयायिकके मतको कहनेवालेको किस प्रकार चार्वाक कहा जाय!

परोपगमात्तथावचनमिति चेन्न। स्वसंविदितज्ञानवादिनः परत्वात्। ततो मतान्तरसमाश्रयस्य दुर्निवारत्वात्। न च तदुपपन्नमनवस्थानात्।

दूसरे, नैयायिक, जैन, बौद्ध, लोग ज्ञानकी ज्ञप्ति होना स्वीकार करते हैं, इससे हम चार्वाक भी इसी प्रकार कह देते हैं, यह कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि आपके विचारोंसे ज्ञानका अपने आप ही वेदन हुआ माननेवाला जैनवादी ही यहां दूसरा है। फिर भी आपको नैयायिक नहीं सही दूसरे जैन मतका ही बढिया आश्रय लेना अनिवार्य हुआ। किन्तु वह दूसरेका तीसरेसे और तीसरे ज्ञानका चौथे ज्ञानसे ज्ञापन मानते हुये पूर्वमें नैयायिकका सहारा लेना सो आपका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि एक ज्ञानका दूसरेसे और दूसरेका तीसरेसे तथा तीसरेका चौथेसे ज्ञान होते होते अनवस्था हो जावेगी।

इति सिद्धं स्वसंवेदनं बाधवर्जितं सुख्यहमित्यादिकायात्तत्त्वान्तरतयात्मनो भेदं साधयतीति किं नश्चिन्तया।

इस प्रकार अबतक सिद्ध हुआ कि "मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं हूं" इस प्रकारके उल्लेखको धारण करनेवाले बाधारहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही शरीरसे भिन्न तत्त्वरूप करके आत्माका यों भेद सिद्ध कर रहे हैं। फिर हम अधिक चिन्ता क्यों करें! जिसका प्रत्यक्ष सहायक है, उसमें भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है तो फिर दूसरे प्रमाणके ढूंढनेकी क्या आवश्यकता है!। इस प्रकार यहां तक एक सौ दोमीं वार्तिकका उपसंहार किया है।

विभिन्नलक्षणत्वाच्च भेदश्चैतन्यदेहयोः।
तत्त्वान्तरतया तोयतेजोवदिति मीयते ॥ १०८ ॥

चार्वाकके प्रति और भी कहते हैं कि देह और चैतन्यका भिन्न भिन्न विशेष लक्षण होनेसे भिन्न तत्त्व होकर पृथक् भाव हैं। जैसे कि आप चार्वाकके मतमें जल और अग्नितत्त्व निराले माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानसे भी शरीरसे भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

चैतन्यदेहौ तत्त्वान्तरत्वेन भिन्नौ भिन्नलक्षणत्वात् तोयतेजोवत्। इत्यत्र नासिद्धो हेतुः, स्वसंवेदनलक्षणत्वाच्चैतन्यस्य, काठिन्यलक्षणत्वात् क्षित्यादिपरिणामात्मनो देहस्य, तयोर्भिन्नलक्षणत्वस्य सिद्धेः।

ज्ञान और शरीर (पक्ष) अलग अलग पदार्थ होते हुए भिन्न हैं (साध्य) क्योंकि उन दोनोंका लक्षण न्यारा न्यारा है (हेतु) जैसे कि ठण्डा और गर्म स्पर्शवाले जल और तेजस्तत्त्व आपने न्यारे माने हैं (अन्वय दृष्टांत) यों इस अनुमानमें भिन्नलक्षणपना हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि पक्षमें हेतु ठहरता है। क्योंकि चैतन्यका स्वके द्वारा स्वको जान लेना लक्षण है और पृथ्वी, जल, तेज, वायुका समुदित पर्याय रूप शरीरके कठिनपना, भारीपन, काला गोरापन आदि लक्षण हैं। इस कारण उन शरीर और चैतन्यका भिन्न भिन्न लक्षण युक्तपना सिद्ध है। हम जैनोंका हेतु निर्दोष है।

परिणामिपरिणामभावेन भेदसाधने सिद्धसाधनमित्यप्युक्तं तत्त्वान्तरतयेति साध्ये देहचैतन्ययोः तत्त्वान्तरतया भेदसाधनमस्ति विशेषणात्।

यदि चार्वाक यहां यों कहें कि शरीर परिणामी है और शरीरका परिणाम चैतन्य है। जैन लोग परिणाम और परिणामी रूपसे शरीर और ज्ञानका यदि उक्त अनुमानद्वारा भेद सिद्ध करते हैं तो आपने हमारे सिद्ध किए हुए पदार्थका ही साधन किया है। अतः जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगा। आचार्य कहते हैं कि यह चार्वाकका कहना युक्तियोंसे रहित है, क्योंकि हमने तत्त्वान्तर-रूपसे यों साध्यके पेटमें भिन्नतत्त्व होकर ऐसा भेदका विशेषण दिया है अर्थात् देह और चैतन्य-का भिन्नपदार्थ रूपसे भेद सिद्ध करना हमको अभीष्ट है। परिणामी भावसे नहीं।

कुटपटाभ्यां भिन्नलक्षणाभ्यां तत्त्वान्तरत्वेन भेदरहिताभ्यामनेकान्त इति चेन्न। तत्र परेषां भिन्नलक्षणत्वासिद्धेरन्यथा तत्त्वार्थैव तत्त्वानीति व्यवस्थानुपपत्तेः।

उक्त अनुमानमें चार्वाक व्यभिचार देता है कि मोटा बडा पेट, छोटी शंखकीसी ग्रीवा तथा जलधारण कर सकना ये घडेके लक्षण हैं और आतान वितानरूप तन्तुवाला तथा शीतबाधाको दूर कर सकना ये कपडाके लक्षण हैं। यहां घट और पटमें भिन्नलक्षणपना हेतु विद्यमान है। किंतु तत्त्वान्तररूपसे भेदस्वरूप साध्य यहां नहीं है ये सब पृथ्वीतत्त्वके विवर्त हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि-इस प्रकार हमारे हेतुमें व्यभिचारदोष देना तो ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे चार्वाक लोगोंके मता-नुसार भी भिन्न लक्षणपना हेतु घट और पटमें सिद्ध नहीं है।

अन्यथा यानी यदि भिन्न लक्षणपना घट, पट आदिक में भी माना जावेगा तो पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चारही तत्त्व हैं यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी। घट, पट, पुस्तक, गृह मुकुट, शकट आदि अनेक तत्त्व स्वीकार करने पडेंगे।

कुटपटादीनां भिन्नलक्षणत्वेऽपि तत्त्वान्तराभावे क्षित्यादीनामपि तत्त्वान्तराभावात्।

जब कि घट, पट आदिकोंका भिन्न लक्षण होते हुए भी यदि आप भिन्नतत्त्वपना न मानोगे तो पृथ्वी, जल, तेज, वायुको भी न्यारा न्यारा तत्त्व नहीं मानना चाहिये। जैनोके ऊपर व्यभिचार पुष्ट करते हुए चार्वाकको अपने चार तत्त्वोंको भी एक पुद्गल तत्त्वरूप माननेके लिये बाध्य होना पडेगा।

धारणादिलक्षणसामान्यभेदात्तेषां तत्त्वान्तरत्वं न लक्षणविशेषभेदाद्येन घटपटादीनां तत्प्रसंग इति चेत्, तर्हि स्वसंविदितत्वेतरत्वलक्षणसामान्यभेदाद्देहचैतन्ययोस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् कथं कुटपटाभ्यां तस्य व्यभिचारः? स्याद्वादिनां पुनर्विशेषलक्षणभेदाद्भेदसाधनेऽपि न ताभ्यामनेकान्तः, कथञ्चित्तत्त्वान्तरतया तयोर्भेदोपगमात्।

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथ्वीका सामान्य लक्षण पदार्थोंको धारण करना है आदि यानी जलका लक्षण द्रवरूप बहना है, अग्निका लक्षण उष्णता है और वायुका सामान्य लक्षण गमन, कम्पन, रूप ईरण करना है। सामान्यलक्षणोंके भेदसे वे तत्त्व भिन्न माने जाते हैं। किंतु विशेष लक्षणोंसे तत्त्वोंमें भेद नहीं होता है जिससे कि घटपट आदि करके उस व्यभिचार दोषका प्रसङ्ग होवे विशेष लक्षणवाले तो एक तत्त्वके व्याप्य हैं। अतः घट, पट, पुस्तक आदिक एक पृथ्वी तत्त्वके परिणाम हैं। इस विशेषलक्षण के भेद होनेसे घट, पट आदिकोंको भिन्न तत्त्व होनेका प्रसंग नहीं है। इस प्रकार चार्वाककी सामान्यलक्षणोंके भेदसे भिन्न तत्त्वोंकी व्यवस्था होनेपर तब तो हम जैन भी कहते हैं कि शरीर और चैतन्यमें भी सामान्यरूपसे लक्षणोंका भेद है। चेतना स्वसंवेदन रूप है स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जानी जाचुकी हैं। और न्यारा शरीर इससे सर्वथा भिन्न बहिरिन्द्रियोंसे ग्राह्य है। इस प्रकार हमने पूर्वोक्त अनुमानसे सामान्यलक्षणोंके भेदरूप हेतु शरीर और चैतन्यका भिन्न तत्त्व होकर भेद सिद्ध किया है फिर चार्वाक लोग हमारे अनुमानमें उस विशेषलक्षणके भेदद्वारा हेतु और घट, पटसे कैसे व्यभिचार उठा सकते हैं? अर्थात् कथमपि नहीं।

दूसरी बात यह है कि विशेष लक्षणोंके भेदसे भी भेदसाधन करनेमें स्याद्वादियोंके यहां तो उन घट, पटसे व्यभिचार नहीं है। क्योंकि शरीर और चैतन्यके समान घट तथा पटमें भी कथञ्चित् तत्त्वान्तर रूपसे हम भेदको स्वीकार करते हैं। अन्तर इतना ही है कि शरीर और आत्मामें द्रव्यरूपसे भेद है और घट, पट में भावरूपसे भेद है।

सत्त्वादिसामान्यलक्षणभेदे हेतुरसिद्ध इति चेन्न कथमन्यथा क्षित्यादिभेदसाधनेऽपि सोऽसिद्धो न भवेत् ? असाधारणलक्षणभेदस्य हेतुत्वान्नैवमिति चेत्, समानमन्यत्र, सर्वथा विशेषाभावात्।

चार्वाक हमारे हेतुमें असिद्ध नामका दोष उठाते हैं कि सत्पना या प्रमेयपना आदि यह देह और चैतन्यका साधारण रूपसे रहनेवाला सामान्य लक्षण है। देह, या चैतन्यरूप पक्षमें सत्त्व आदि रूप सामान्य लक्षणोंका भेदरूप हेतु नहीं विद्यमान है। इस कारण जैनोंका हेतु पक्षमें न रहनेसे असिद्ध है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास उठाना तो ठीक नहीं है। अन्यथा सत्त्व, ज्ञेयत्व आदि सामान्य लक्षण तो पृथ्वी जल आदिकमें भी पाये जाते हैं। उनको तत्त्वान्तर सिद्ध करते समय आपका वह सामान्यसे लक्षणभेद हेतु भी असिद्ध हेत्वाभास क्यों नहीं होगा!। बताओ।

यदि आप असिद्ध दोष न होवे इस कारण पृथ्वी आदिकमें भेद सिद्ध करनेके लिये विशेष लक्षणोंका भेद इस प्रकार हेतु देवेंगे तो दूसरी जगह भी यही बात समान रूपसे लागू होगी। अर्थात् हम भी देह और चैतन्यके निराले तत्त्वरूपसे भेदको सिद्ध करनेके लिये विशेष विशेष लक्षणोंके भेदको हेतु बनावेंगे। समी प्रकारसे हमारे और आपके तत्त्वभेद सिद्ध करनेमें कोई अन्तर नहीं है। न्याय समान होता है। पक्षपात करना ठीक नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्तमें सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण इन दोनोंसे देह और चैतन्यकी द्रव्यपर्यासत्ति नहीं है अर्थात् दोनों भिन्न द्रव्य हैं। अथवा जीव और पुद्गलद्रव्यकी पर्याय हैं।

भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादित्यप्येतेन वर्णितम्।
साधितं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य विभेदतः॥ १०९॥

इस उक्त कथनके द्वारा यह भी वर्णन कर दिया गया है कि देह और चैतन्य भिन्न हैं क्योंकि वे दोनों भिन्न प्रमाणोंसे जाने जाते हैं। बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षके द्वारा शरीर जाना जाता है और उससे भिन्न अन्तरंग स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे उपयोगस्वरूप चैतन्य जाना जाता है। इन भिन्न भिन्न दोनों प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे देह और चैतन्यमें अनुमानद्वारा भेद सिद्ध कर दिया गया है, यों प्रत्यक्षके विशेष भेदोंसे यह साधा गया है। अतः यह हेतु पुष्ट होगया है।

बहिरन्तर्मुखाकारयोरिन्द्रियजस्वसंवेदनयोर्भेदेन प्रसिद्धौ सिद्धमिदं साधनं वर्णनीयं देहचैतन्ये भिन्ने भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादिति, करणजज्ञानवेद्यो हि देहः स्वसंवेदनवेद्यं चैतन्यं प्रतीतमिति सिद्धं साधनम्।

बहिरंग पदार्थोंका उल्लेख करके बाहिरकी तरफ झुके हुए इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष है और अंतरंग पदार्थोंका उल्लेख कर भीतरी तत्त्वोंको लक्ष्य कर जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इन दोनों

प्रत्यक्षोंके भिन्नरूपसे प्रसिद्ध होनेपर, यह हेतु भी यों सिद्ध हुआ कहना चाहिये, जब कि देह और चैतन्य भिन्न है। क्योंकि वे दोनों भिन्न प्रमाणोंसे जाननेयोग्य हैं। स्पर्शन इंद्रियसे जन्य स्पार्शन-प्रत्यक्ष और चक्षुरिन्द्रयसे जन्य चाक्षुष प्रत्यक्षसे शरीर जाना जाता है, या जानने योग्य है तथा स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे चैतन्यकी प्रतीति सभी बाल गोपालोंको हो रही है। इस प्रकार भिन्न प्रमाणोंसे जाना गयापन हेतु सिद्ध हो गया।

स्वयं स्वसंवेदनवेद्येन परैरनुमेयेनाभिन्नेन चैतन्येन व्यभिचारीति न युक्तम्, स्वसंवेद्यानुमेयस्वभावाभ्यां तस्य भेदात्।

यहां कोई हेतुमें व्यभिचार दोष देवे कि देवदत्तके चैतन्यको देवदत्तने अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे जाना और जिनदत्त इंद्रदत्त आदिने उसी देवदत्तके चैतन्यको अनुमानप्रमाणसे जाना। अतः भिन्न प्रमाणोंसे जाना गया होकर भी वह चैतन्य अभिन्न है। इस कारण जैनोंके हेतुमें व्यभिचार दोष हुआ, ग्रंथकार कहते हैं कि यह कहना तो युक्त नहीं है क्योंकि उस देवदत्तके चैतन्यमें न्यारे न्यारे अनेक स्वभाव माने गये हैं। जैसे कि एक ही अग्निमें दाह करना, पाक करना, सोखना, फफोला उठा देना, उबालना, चावलोंमें क्रिया करना आदि अनेक स्वभाव हैं। वैसे ही प्रत्येक ज्ञेयमें नाना ज्ञानोंसे जानने योग्य भी भिन्न भिन्न अनेक स्वभाव हैं। परमाणुमें बहिरंग इंद्रियोंसे जन्य ज्ञानके द्वारा जाननेका स्वभाव नहीं है। तभी तो अवधि ज्ञानी और केवलज्ञानी भी परमाणुओंको इंद्रियोंसे नहीं जान पाते हैं। प्रकृत चैतन्यमें स्वसंवेद्यपना और अनुमेयपना ये दोनों भिन्न भिन्न स्वभाव विद्यमान हैं। तिन स्वभावोंसे देवदत्तके चैतन्यका भेद भी है अतः हेतुके रहते हुए साध्यके रह जाने पर हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है।

तत एवैकस्य प्रत्यक्षानुमानपरिच्छेद्येनाग्निना न तदनैकान्तिकम्, नापि मारणशक्त्यात्मकविपद्रव्येण सकृत्तादृशा शक्तिशक्तिमतोः कथञ्चिद्भेदप्रसिद्धेः।

इस ही कारणसे एक एक देवदत्त, जिनदत्तके द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमानसे योग्यतानुसार जानी गयी अभिन्न उसी अग्निके द्वारा भी हमारा वह हेतु व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि अग्निमें प्रमेयत्व नामक गुण है। उसके उन उन व्यक्तियोंके द्वारा अनेक प्रमाणोंसे जानने योग्य अनेक स्वभावोंको लिये हुए परिणमन होते रहते हैं। इस कारण अग्निमें भी अनेक स्वभावोंकी अपेक्षा भिन्नपना रूप साध्य रह गया। तथा विषद्रव्यसे भी व्यभिचार नहीं है, क्योंकि विषद्रव्यमें भी एक साथ वैसी मारनेकी और जीवित करनेकी शक्तियां विद्यमान हैं। किसी कार्यकी अपेक्षा अशक्तियां भी हैं।

एक लौकिक दृष्टान्त है कि एक मनुष्य गलितकुष्ट रोगसे अत्यंत पीडित था। उसने अनेक धुरन्धर वैद्योंसे चिकित्सा करायी, किन्तु लवमात्र भी लाभ नहीं हुआ। ज्यों ज्यों दवा की गयी उल्टा

त्यों त्यों रोग बढता ही गया। अंतमें वह एक सुचतुर अनुभवी वैद्यके निकट पहुंचा। वैद्यने कष्टसाध्य रोगका " काकतालीय " न्यायके सदृश असम्भव नहीं किंतु अशक्य औषधिका सेवन करना पत्र पर लिखकर रोगीको व्यवस्थापत्र दे दिया और कह दिया कि रोग दूर होना अशक्य है। मूर्ख, दरिद्र, रोगी भी हताश होकर शीघ्र मृत्युको चाहता हुआ बन की ओर चल दिया। वहां पहुंचकर देखता है कि एक नरकपालमें तत्काल की वर्षाके भरे हुए पानीको काला भुजङ्ग पी रहा है। कोढीने मृत्युका बढिया उपाय समझकर भयंकर विषरूप उस खोपडीके पानीको पी लिया, किंतु उसी समयसे वह रोगी चंगा होने लगा और कुछ दिनमें हृष्ट पुष्ट होकर उस अनुभवी वैद्यके पास गया और कहने लगा कि आपने मेरी चिकित्सा करनेकी उपेक्षा की थी किंतु मैं आपके सामने नीरोग, बलवान्, खडा हुआ हूं। तब वैद्यने उससे अपनी औषधिका लिखा हुआ पत्र निकलवाया। उसमें वही काले सर्पके द्वारा खोपडीमें पिये गये पानी पीनेका औषधिसेवन लिखा पाया गया तथा वर्तमानमें भी उग्रवीर्यवाली औषधियां संखिया, हरताल, अहिफेन आदिसे बनायी जाती हैं। पारा, चंद्रोदय, मकरध्वज यदि कच्चे रह जावें तो प्राण हरण कर लेते हैं तथा परिपूर्ण सम्पन्न होनेपर अनेक सिद्धियोंके कारण बन जाते हैं। अतः मारनेकी शक्तिस्वरूप विष-द्रव्यसे भी व्यभिचार नहीं है। मारनेकी अशक्ति वाले वैसे विषद्रव्य न्यारे न्यारे हैं। इस कारण कथञ्चिद्भेद सिद्ध है। हेतु रह गया साध्य भी ठहर गया, चलो अच्छा हुआ।

सर्वथा भेदस्य देहचैतन्ययोरप्यसाधनत्वात्, तथा साधने सद्द्रव्यत्वादिना भेदप्रसक्तेर्नोभयोरपि सत्त्वद्रव्यत्वादयो व्यवतिष्ठेरन्। यथाहि देहस्य चैतन्यात् सत्त्वेन व्यावृत्तौ सत्त्वविरोधस्तथा चैतन्यस्यापि देहात्। एवं द्रव्यत्वादिभिर्व्यावृत्तौ चोद्यं।

हम जैनबन्धु प्रकृत अनुमानसे देह और चैतन्यमें भी किसी अपेक्षासे ही भेद सिद्ध करते हैं। सर्व प्रकारसे भेदका साधन नहीं करते हैं। यदि देह और चैतन्यमें उस प्रकार सर्वथा ही भेद सिद्ध करना प्रतिज्ञात किया जाय तो सत्त्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व और प्रमेयत्व आदिरूपसे भी भेद सिद्ध करनेका प्रसंग आवेगा। तथा च दोनोंमें से एक या " चालिनीन्याय " से दोनों ही असत्, अद्रव्य, अवस्तु और अज्ञेय हो जावेंगे। दोनोंमें भी सत्पने और द्रव्यपने आदिकी व्यवस्था न बन सकेगी। इसी बातको इस प्रकार वक्ष्यमाणरूपसे स्पष्ट करते हैं:— जैसे सद्रूप यानी विद्यमानपनेसे देहका चैतन्यसे भेद मानकर व्यावृत्ति मानी जावेगी तो शरीरको सत्यपनेका विरोध आवेगा। अर्थात् देह खरविषाणके सदृश असत् हो जावेगी। वैसेही चैतन्यका भी देहसे सत्त्वरूप करके पृथग्भाव माना जावेगा तो चैतन्य वन्ध्यापुत्रके समान असत् हो जावेगा। इसी प्रकार द्रव्यपने और वस्तुपने आदिसे भी भेद माननेपर दूसरेको तर्कद्वारा अद्रव्यता और अवस्तुताकी आपत्ति हो जावेगी, जिस स्वरूपसे भेद माना जावेगा उस स्वरूपकी दूसरे पदार्थमें व्यावृत्ति माननी पडेगी

यही भेदकी परिभाषा है। इस कारण हम जैन लोग एक द्रव्यके नाना स्वभावोंके समान देह और चैतन्यमें भी सर्वथा भेद नहीं मानते हैं किंतु कथञ्चिद् भेद मानते हैं।

भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादेवेत्यवधारणाद्वा न केनचिद्व्यभिचारचोदना हेतोः सम्भवति येन विशेषणमेकेनेत्यादि प्रयुज्यते।

अथवा हेतुमें नियम करनेवाला एवकार डाल दिया जावे तो भी हेतुकी किसी करके व्यभिचार होजानेकी आपत्ति सम्भव नहीं है जिससे कि एक पुरुष करके इत्यादि विशेषण प्रयुक्त किये जाय। अर्थात् " जो भिन्न प्रमाणोंसे ही जानने योग्य है, वह अवश्य भिन्न है " ऐसी व्याप्ति बनाने पर एक पुरुषकरके एक समयमें जो भिन्न प्रमाणोंसे वेद्य है, वह भिन्न है। इस प्रकार विशेषणोंके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं होती है। इन विशेषणोंका प्रयोजन केवल एवकारसे सध जाता है।

संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वमपि नास्य शङ्कनीयम्, कुत्रचिदभिन्नरूपे भिन्नप्रमाणवेद्यत्वासम्भवात्। तादृशः सर्वस्यानेकस्वभावत्वसिद्धेरन्यथार्थक्रियानुपपत्तेरवस्तुत्वप्रसक्तेः।

आपको इस भिन्न प्रमाणोंसे जानेगयेपन रूप हेतुकी अभिन्न एकरूप माने गये विपक्षमें न रहना रूप व्यावृत्ति संदेहप्राप्त है यह भी शंका नहीं उठानी चाहिये, क्योंकि कहीं भी अभिन्नरूप एक पदार्थका या एक स्वभावमें भिन्न प्रमाणोंसे जानने योग्यपन नहीं है—असम्भव है।

यदि एक पदार्थको भी दस जीवों या अनेक प्रमाणोंने जाना है तो वहां भी अपने अपनेसे जानने योग्य स्वभाववाले पदार्थको दसने जाना है। एक एक परमाणु और एक एक कणमें अनंतानंत स्वभाव भरे हुए हैं। भिन्न प्रमाणोंसे जानने योग्य वैसे संपूर्ण पदार्थ तादात्म्यसंबंधसे अनेक स्वभावयुक्त सिद्ध हैं यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकार माना जावेगा तो कोई भी पदार्थ अर्थक्रिया न कर सकेगा। " परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ। कुणपः, कामिनी, भक्ष्य, इति तिस्रो विकल्पनाः " एक युवतीके मृत शरीरको देखकर साधु, कामुक और कुत्तेको संसारस्वरूपका विचार, इंद्रियलोलुपता और भक्ष्यपनेकी तीन कल्पनाएं भी निमित्त बननेवाले युवतिशरीरमें विद्यमान स्वभावोंके अनुसार ही हुयी हैं। नीलाञ्जनाके परिवर्तित शरीरके नृत्यमें वैराग्य और रागभाव दोनोंको पैदा करानेकी निमित्त शक्तियां हैं। इसी प्रकार अनेक स्वभाव माननेपर ही नवीन नवीन अर्थक्रियाएं पदार्थोंमें बन सकती हैं। यदि वस्तुमें अनेक स्वभाव न होंगे तो पदार्थ क्रियाएं न करेगा और अर्थक्रिया न होनेसे अवस्तुपनेका प्रसंग आवेगा। एक समयमें ही पूर्वस्वभावोंको छोडना और नवीन स्वभावोंका ग्रहण करना तथा कतिपय स्वभावोंसे ध्रुव रहना ये तीनों अवस्थाएं विद्यमान हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होना ही परिणामका सिद्धांत लक्षण है। श्री माणिक्यनंदी आचार्यने परीक्षामुखमें ऐसा ही कहा है।

यदप्यभ्यधायि—

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

और भी जो चार्वाकोंने आत्माको भिन्न तत्त्व निषेध करनेके लिये कहा था कि—

क्षित्यादिसमुदायार्थाः शरीरेन्द्रियगोचराः ।
तेभ्यश्चैतन्यमित्येतन्न परीक्षाक्षमेरितम् ॥ ११० ॥

बृहस्पति ऋषिने चार्वाकदर्शनमें ये तीन सूत्र बनाये हैं—पृथ्वी, अप्, तेज और वायु ये चार तत्त्व हैं। इन चारों तत्त्वोंके समुदायरूप शरीर, इंद्रियां और विषय ये पदार्थ बन जाते हैं तथा उन शरीर, चक्षुरादिक इंद्रिय, और रूप, रस, आदिक विषयोंसे चैतन्य हो जाता है आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार यों चार्वाकोंका कथन भी परीक्षा करनेको सहन नहीं कर सकता है। यों प्रेरणा की जा चुकी है ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः, तेभ्यश्चैतन्यमित्येतदपि न परीक्षाक्षमेरितम्, शरीरादीनां चैतन्यव्यञ्जकत्वकारकत्वयोरयोगात् कुतस्तदयोगः ? ।

वे तीन सूत्र यों हैं कि चार्वाकमतानुयायी पृथ्वी, अप्, तेज और वायु इस प्रकार चार तत्त्व मानते हैं। उन तत्त्वोंके योग्यरूपसे मिश्रणात्मक समुदाय होनेपर शरीर, इंद्रियां, और विषय नामके पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। और उनसे उपयोगात्मक चैतन्य होता है, यों यह चार्वाकोंका साहसपूर्वक कहना परीक्षा झेलनेको समर्थ नहीं समझा गया है। क्योंकि शरीर, इंद्रिय और विषयोंको चैतन्यका प्रकट करनेवाला अभिव्यञ्जकहेतु माननेपर तथा शरीर आदिकको चैतन्यका उत्पादक कारण मानने पर दोनों ही पक्षमें उनसे चैतन्य होनेका योग नहीं है।

चैतन्य होनेका उन व्यञ्जक या कारक दोनों पक्षोंमें कैसे योग नहीं है ? इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट कहते हैं—

व्यञ्जका न हि ते तावच्चितो नित्यत्वशक्तितः ।
क्षित्यादितत्त्ववज्ज्ञातुः कार्यत्वस्याप्यनिष्टितः ॥ १११ ॥

पहिले पक्षके ग्रहण अनुसार वे शरीर, इन्द्रिय और घट, रूप, रस, आदिक विषय तो चैतन्यशक्ति के प्रगट करनेवाले निश्चयसे नहीं हैं क्योंकि ऐसा मानने पर पृथ्वी आदिक तत्त्वोंके समान ज्ञाता आत्माको भी व्यङ्ग्य पक्षमें नित्यपनेका प्रसंग आता है। अभिव्यक्तिपक्षमें आपने आत्माको कार्यपना भी इष्ट नहीं किया है। तथा च आत्मा भी पृथिवीपरमाणुओंके सदृश एक स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध होता है।

नित्यं चैतन्यं शश्वदभिव्यंग्यत्वात् क्षित्यादितत्त्ववत्, शश्वदभिव्यंग्यं तत्कार्यतानुपगमात्, कदाचित्कार्यत्वोपगमे वाभिव्यक्तिवादविरोधात् ।

चैतन्य नित्य है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह सर्वदा व्यञ्जकोंके द्वारा योग्यतानुसार प्रगट होता है (हेतु) जैसे कि पृथ्वी, जल, आदि ये मूल तत्त्व नित्य हैं (दृष्टान्त) यहां हेतुको दूसरे अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि वह चैतन्य सर्वदा ही व्यञ्जकोंसे प्रगट करने योग्य है क्योंकि वह कार्य नहीं माना गया है इस हेतुमें अन्यथानुपपत्तिको दिखलाते हैं कि यदि चार्वाक लोग किसी भी समय आत्माको कारणोंसे बना हुआ कार्य मानेंगे तो चैतन्यके अभिव्यक्ति कहनेके पक्षका परिग्रह करना चार्वाकोंको विरुद्ध पडेगा।

तदभिव्यक्तकाल एतस्याभिव्यङ्ग्यत्वं नान्यथेत्यसिद्धं सर्वदाभिव्यङ्ग्यत्वं न मंतव्यम्, अभिव्यक्तियोग्यत्वस्य हेतुत्वात्, तत एव न परस्य घटादिभिरनैकांतिकं तेषां कार्यत्वे सत्यभिव्यंग्यत्वस्याशाश्वतिकत्वात्, स्याद्वादिनां तु सर्वस्य कथंचिन्नित्यत्वान्न केनचिद्व्यभिचारः।

" गर्भकी आद्य अवस्थामें या ज्ञान होते हुए उस अभिव्यक्ति के समय ही इस चैतन्यको प्रगट होने योग्य हम चर्वाक स्वीकार करते हैं। अन्य प्रकारसे दूसरे समयोंमें चैतन्यको अभिव्यंग्य नहीं मानते हैं। हम असत्कार्यवादी हैं। जो की पिठी और महुआमें पहिले जैसे मादक शक्ति नहीं है, परंतु पुनः नयी प्रकट हो जाती है। वैसे ही चैतन्य भी नवीन दीयासलाई से आगके समान प्रगट हो जाता है। इस प्रकार जैनोंका चैतन्यको नित्य सिद्ध करने के लिये दिया गया सर्वदा अभिव्यंग्यपना हेतु तो पक्षमें न रहने के कारण असिद्ध हेत्वाभास है " ग्रंथकार कहते हैं कि यह चार्वाकोंको नहीं मानना चाहिये क्योंकि " हम जैनोंने चैतन्यमें सदा ही प्रगट होनेकी योग्यताको हेतु होना इष्ट किया है। चैतन्यमें प्रगट होनेकी योग्यता सर्व कालोंम विद्यमान है। इस ही कारणसे हमारे हेतुमें दूसरे चार्वाक लोग घट, पट आदिकोंसे व्यभिचार भी नहीं दे सकते हैं क्योंकि उन घट, पट आदिकोंको कार्यपना होते हुए प्रगट होनापन सदा विद्यमान नहीं है। शिवक, स्थास, कोष, कुशूल इन अवस्थाओंमें ही घटके प्रगट होनेकी योग्यता है। उससे पहिले और पीछे नहीं है। किंतु ज्ञान सदा ही प्रगट होनेकी शक्तिसे सम्पन्न है। अतः चैतन्य नित्य है। घट आदिक नित्य नहीं हैं।"

" दूसरी बात यह है कि हम स्याद्वादियोंके मतमें तो द्रव्यार्थिक नयसे सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् नित्य माने गये हैं। अतः किसीसे भी व्यभिचार नहीं होता है। द्रव्य रूपसे घट, पट आदिकको भी हम नित्य माननेके लिये सन्नद्ध हैं।"

कुम्भादिभिरनेकान्तो न स्यादेव कथञ्चन।
तेषां मतं गुणत्वेन परैरिष्टः प्रतीतितः॥ ११२॥

इस प्रकार कालांतरस्थायी घट, पट आदिसे भी किसी ही तरह व्यभिचार दोष नहीं है क्योंकि उन स्याद्वादियोंके मंतव्यको प्रतीतिके अनुसार गौणरूपसे दूसरे चार्वाकोंने इष्ट किया है।

प्रतीतिका अपलाप कोई नहीं कर सकता है। घट आदिकोंमें व्यक्त होनापन सिद्ध नहीं है। घट आदि पर्यायें नवीन उत्पन्न हुयी हैं।

न ह्येकांतनश्वरा घटादयः प्रदीपादिभिरभिव्यंग्या नाम नाशैकांतेऽभिव्यंग्याभिव्यंजकभावस्य विरोधान्नित्यैकांतवत्, जात्यन्तरे तस्य प्रतीयमानत्वादिति प्रतिपक्षापेक्षया न घटादिभिरनेकांतः साधनस्य।

यदि बौद्धोंके सदृश चार्वाक भी एकांतहठसे घट, पट आदिकोंको सर्वथा नाशशील मानेंगे तो अन्धेरेमें रखे हुए घट, पट आदि पदार्थ कैसे भी प्रदीप, अग्निज्वाला, चंद्रिकासे अभिव्यंग्य न हो सकेंगे, क्योंकि नहीं विद्यमान कार्यके स्वरूप निर्माण करनेवालेको कारकहेतु कहते हैं और पहिलेसे विद्यमान पदार्थके प्रगट करनेवाले हेतुको व्यञ्जक कहते हैं।

यदि घट एक क्षणमें ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जावेगा तो विनाशके एकांतपक्षमें प्रगट होना और प्रगट कर देनापन यह व्यंग्यव्यंजकभाव नहीं बन सकेगा उसमें विरोध होगा। जैसे कि घटको एकांत रूपसे कूटस्थनित्य माननेमें व्यंग्यव्यंजकभाव नहीं बनता है, क्योंकि अनभिव्यक्त अवस्थाको छोडकर घट अभिव्यक्त अवस्थाको धारण करे, तब कहीं प्रकट होवे। एवं सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पक्षके अतिरिक्त कालान्तरस्थायी कथंचित् नित्यानित्यरूप तीसरी जातिवाले पक्षमें ही वह व्यंग्यव्यञ्जकभाव प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार चार्वाकोंके प्रतिकूल हो रहे जैनसिद्धांतके मन्तव्यकी अपेक्षासे हमारे हेतुका घट, पट आदिसे व्यभिचार नहीं है।

ततः कथंचिच्चैतन्यनित्यताप्रसक्तिभयान्न शरीरादयश्चित्ताभिव्यंजकाः प्रतिपादनीयाः।

उक्त समीचीन अनुमानसे चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व द्रव्यदृष्टिसे नित्य हो जाता है किन्तु चैतन्यका नित्यरूपसे सिद्ध होना आपको इष्ट नहीं है। उस कारणसे चैतन्यको कथञ्चित् नित्यताके प्रसंग होनेके डरसे आपको अपना पहिला पक्ष हटा लेना चाहिये अर्थात् " शरीर, इन्द्रिय और विषय ये मिलकर चेतन आत्मतत्त्वको प्रगट करनेवाले हैं, यह नहीं समझ बैठना चाहिये " किन्तु यों कहना चाहिये कि—

शब्दस्य तालवादिवत् तेभ्यश्चैतन्यमुत्पाद्यत इति क्रियाध्याहाराद्व्यज्यत इति क्रियाध्याहारस्य पौरन्दरस्यायुक्तत्वात्। कारका एव शरीरादयस्तस्येति चानुपपन्नम्, तेषां सहकारित्वेनोपादानत्वेन वा कारकत्वायोगादित्युपदर्शयन्नाह—

कण्ठ, तालु, ओष्ठ, भाषावर्गणा आदिक जैसे शब्दके कारक हेतु हैं। उसी प्रकार उन शरीर इन्द्रिय और विषयोंसे चैतन्य उत्पन्न कराया जाता है। सूत्रमें तेभ्यश्चैतन्यं " उनसे चैतन्य " यह क्रियारहित वाक्य पडा है। यहां उनसे चैतन्य प्रगट होता है। इस प्रगट होना रूप क्रियाक।

अध्याहार करना बृहस्पतिमतके अनुयायी चार्वाकको अयुक्त है। हां उनसे चैतन्य पैदा होता है इस उत्पत्तिरूप क्रियाका उपस्कार करना चार्वाकके सिद्धान्तसे समुचित है। अतः शरीर आदिक उस चैतन्यके कारक हेतु ही हैं। इस प्रकार चार्वाकोंका द्वितीय पक्ष ग्रहण करना भी युक्तियोंसे सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि हम पूछते हैं कि आप चार्वाक उन शरीर आदिकको चैतन्यका सहकारी कारण मानते हैं या उपादान कारण मानते हैं ? बताओ दोनों पक्षमें किसी भी ढंगसे शरीर आदिकको कारकपना नहीं बनता है। इस बातको विशद रीतिसे दिखलाते हुए भगवान् विद्यानंदी आचार्य वार्त्तिक कहते हैं।

नापि ते कारका वित्तेर्भवन्ति सहकारिणः।
स्वोपादानविहीनायास्तस्यास्तेभ्योऽप्रसूतितः ॥ ११३ ॥

द्वितीय पक्षके अनुसार चैतन्यके वे शरीर, इंद्रिय और विषय सहकारी कारण होकर कारक भी नहीं हैं क्योंकि विना अपने उपादानकारणके उस चैतन्यकी केवल उन शरीर आदि सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उपादानकारणके विना जगत्में कोई भी कार्य नहीं बनता है।

स्वोपादानरहितायाः वित्तेः शरीरादयः कारकाः शब्दादेस्तालवादिवदिति चेन्न असिद्धत्वात् तथाहि—

चार्वाक कहता है कि शब्द, बिजली, दीपकलिका जैसे विना उपादानकारणके केवल कण्ठ, तालु, बादलोंका घर्षण, दीपशलाका आदि निमित्त कारणोंसे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने उपादानकारणके विना उत्पन्न हुए चैतन्यके भी शरीर आदि सहकारीकारक हो जावेंगे। आचार्य कहते हैं कि चार्वाकका यह कहना तो ठीक नहीं है, क्योंकि विना उपादानकारणके किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं है। इस बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं।

नोपादानाद्विना शब्दविद्युदादिः प्रवर्तते।
कार्यत्वात्कुम्भवद्यद्दृष्टकल्पनमत्र ते ॥ ११४ ॥
क्व काष्ठान्तर्गतादग्नेरग्न्यन्तरसमुद्भवः।
तस्याविशेषतो येन तत्त्वसंख्या न हीयते ॥ ११५ ॥

उपादानकारणके विना शब्द, बिजली आदिक नहीं प्रवर्तते यानी उत्पन्न नहीं होते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे कार्य हैं (हेतु) जैसे कि मिट्टीके विना घडा उत्पन्न नहीं होता (अन्वयदृष्टांत) इस अनुमानसे शब्द आदिके चर्मचक्षुओंसे नहीं दीखनेवाले भी भाषावर्गणा और शब्दयोग्य पुद्गलस्कन्ध उपादानकारण सिद्ध कर दिये जाते हैं। यहां तुम चार्वाकका हमारे ऊपर यह कटाक्ष होसकता है

कि शब्दादिकके उपादानका अनुमान करना जैनोंकी नहीं देखे हुए पदार्थकी व्यर्थ कल्पना है। घटमें तो मिट्टी उपादान देखी जाती है किंतु शब्दमें कोई उपादान नहीं देखा जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक यों कहेंगे तो हम कहते हैं कि काष्ठके जलनेपर अग्नि होनेकी अवस्थामें चार्वाक लोग काठरूप पृथिवीतत्त्वके भीतर अग्नितत्त्वसे ही दूसरी अग्निके उत्पन्न होजाने रूप क्यों अदृष्टकी कल्पना करते हैं? बताओ। जैनसिद्धांतके अनुसार काष्ठरूप पुद्गल ही अग्निरूप परिणत हो जाता है। ऐसा देखा हुआ ही पदार्थ क्यों न माना जावे अर्थात् शुक्ल, शुष्क, ठण्डा, कठिन, पौद्गलिक काष्ठ ही उष्ण, लाल, नर्म, चमकता हुआ अग्निरूप बन गया है। जिससे कि अग्नितत्त्व सिद्ध न होनेसे चार्वाकोंके तत्त्वोंकी संख्या क्यों नही नष्ट होजावेगी! तीन दो और परिशेषमें विचार करते हुए एक पुद्गल तत्त्व ही रह जावेगा, यदि काष्ठमें नहीं दीखनेमें आवे ऐसे अग्नितत्त्वकी कल्पना करोगे तो उसीके समान होनेसे शब्द आदिकोंके उपादान कारण भी अनिवार्य मानने पडेंगे। जडवाद (साइन्स) भी विना उपादानके कार्योंका विकास होना नहीं मानता है। आपके काठके भीतर अग्नितत्त्वको अदृष्टरूपेस माननेमें और हमारे शब्दके अदृष्ट उपादानकारणोंके माननेमें कोई अंतर नहीं है।

प्रत्यक्षतोऽप्रतीतस्य शब्दाद्युपादानस्यानुमानात्साधने परस्य यद्यदृष्टकल्पनं तदा प्रत्यक्षतोऽप्रतीतात्काष्टान्तर्गतादग्नेरनुमीयमानाग्न्यन्तरसमुद्भवसाधने तददृष्टकल्पनं कथन्न स्याद्भूतवादिनः सर्वथा विशेषाभावात्।

यदि शब्द, बिजली, आदिके इंद्रियप्रत्यक्षसे नहीं जाननेमें आवें ऐसे उपादान कारणोंको अनुमानसे सिद्ध करनेमें दूसरे वादी जैनोंके ऊपर आप अदृष्ट पदार्थकी कल्पना करनेका उपालम्भ देंगे तब तो काष्ठके भीतर प्रत्यक्षसे लेशमात्र भी नहीं देखनेमें आवे ऐसे कारणस्वरूप दूसरे तत्त्वसे अनुमान द्वारा अग्निकी समीचीन उत्पत्ति सिद्ध करनेमें भूतवादी चार्वाकको सर्वथा नहीं देखी हुयी की कल्पना करनारूपी वह दोष क्यों नहीं लागू होगा? अवश्य लगेगा। अनुमानके द्वारा अदृष्ट-तत्त्वकी कल्पना करनेमें हमसे तुममें किसी भी प्रकारसे अंतर नहीं है।

काष्ठादेवानलोत्पत्तौ क तत्त्वसंख्याव्यवस्था, काष्ठोपादेयस्यानलस्य काष्ठेतरत्वाभावात् पृथिवीत्वप्रसक्तेः। पार्थिवानां च मुक्ताफलानां स्वोपादाने जलेऽन्तर्भावाज्जलत्वापत्तेर्जलस्य च चंद्रकांतादुद्भवतः पार्थिवत्वानतिक्रमात्।

यदि काष्ठसे ही अग्निकी उत्पत्ति मानोगे और काष्ठके भीतर अदृष्ट अग्नितत्त्व नहीं स्वीकार करोगे, तो चार संख्यावाले तत्त्वोंकी व्यवस्था कहां रही! पृथ्वीरूप काष्ठको उपादनकारण स्वीकार कर उत्पन्न हुयी उपादेय अग्निको पार्थिवकाष्ठसे भिन्नपनेका अभाव हो जानेके कारण पृथ्वीपनेका प्रसंग हो जावेगा। तथा इसी प्रकार पृथ्वीके विकारस्वरूप कठिन, भारी और गन्ध-

वाले मोतियोंका अपने उपादानकारण जलमें अन्तर्भाव होजानेके कारण मोतियोंको जलपनेका आपादन हो जावेगा, क्योंकि विशेष नक्षत्र आदिके योग होनेपर सीपमें पडे हुए जलकाही कालान्तरमें मोतीरूप परिणत हो जाता है। तथा चन्द्रकांतके उदय होनेपर पृथ्वीतत्त्वका विकार मानी गयी चन्द्रकान्तमणिसे जल उत्पन्न हो जाता है तो उस जलको भी पार्थिवपनेका अतिक्रमण न होगा, अर्थात् जल भी अपने उपादान चन्द्रकान्तमणिरूप पृथ्वीतत्त्वमें गर्भित हो जावेगा। इस प्रकार आपके माने हुए पृथ्वी, अप्, तेज, वायु इन चार तत्त्वोंकी व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि चनेसे पेटमें वायु, वायुसे आकाशमें जल, जलसे वृक्षमें काष्ठ, काष्ठसे जलने पर अग्नि और अग्निसे राख इत्यादि संकरपनेसे उपादान उपोदय भाव होरहा है।

यदि पुनः काष्ठादयोऽनलादीनां नोपादानहेतवस्तदानुपादानानलाद्युत्पत्तिः कल्पनीया, सा च न युक्ता प्रमाणविरोधात्।

यदि आप फिर काठ, जल और चंद्रकांतको आग, मोती और जलका समवायिकारण नहीं मानोगे तब तो विना उपादानकारणके अग्नि, मोती, आदि की उत्पत्ति कल्पित करनी पडेगी और वह कल्पना करना तो ठीक नहीं है क्योंकि विना उपादानकारणके कार्योंकी उत्पत्ति माननेमें प्रमाणोंसे विरोध है। सर्व बाल गोपाल इष्ट कार्योंके सम्पन्न करनेके लिये प्रथम ही उपादान कारणोंको ढूंढते हैं। समवायीकारण ही कार्यस्वरूप परिणत होता है।

ततः स्वयमदृष्टस्यापि पावकाद्युपादानस्य कल्पनायां चितोऽप्युपादानमवश्यमभ्युपेयम्।

इस कारण आप काष्ठके भीतर निजरूपसे नहीं दीखते हुए भी अग्नि तत्त्वको दृश्यमान अग्निके उपादान कारणकी कल्पना करोगे तो उसीसे चैतन्यका भी उपादान कारण आत्मा आपको अवश्य स्वीकार करना चाहिए। न्यायमार्ग सबके लिए एकसा होता है॥

सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेदुपादानं चितो मतम्।
स एवात्मास्तु चिज्जातिसमन्वितवपुर्यदि॥ ११६॥

स्थूल पृथ्वी आदिकमें रहनेवाला विलक्षण प्रकारका अत्यंत सूक्ष्मभूत यदि चैतन्यका उपादान कारण आपने माना है तो यदि उस सूक्ष्मभूतका डील अनाद्यनंत अन्वितरूप करके चैतन्यशक्तिसे सहित है, तब तो वही चेतना नामक नित्य सदृशपरिणति-स्वरूप शरीरका धारी आत्मा तत्त्व होओ, आपने उस चित्शक्तिवाले तत्त्वका नाम सूक्ष्मभूत रख लिया है। हम उसको जीव या आत्मा कहते हैं। हमारे और आपके केवल शब्दोंमें अंतर है अर्थमें नहीं।

तद्विजातिः कथं नाम चिदुपादानकारणम्।
भवतस्तेजसोऽभीवत्तथैवादृष्टकल्पना॥ ११७॥

यदि आप चार्वाकके मतमें अन्वितरूप चैतन्यशक्तिवालेसे विभिन्न जातिवाला सूक्ष्मभूत जडस्वरूप स्वीकृत किया है तो वह भला चैतन्यका उपादान कारण कैसे हो सकता है ? असत्य बात है। जैसे कि तेजका उपादान जल नहीं होता है। उसी प्रकार विजातीय जडसे चैतन्यकी उत्पत्ति माननेमें आपकी मनमानी गढी हुयी युक्तिशून्य अदृष्टपदार्थकी कल्पना है। जो कि आजतक किसी परीक्षकने नहीं की है।

सत्त्वादिना समानत्वाच्चिदुपादानकल्पने।
क्ष्मादीनामपि तत्केन निवार्येत परस्परम् ॥ ११८॥
येन नैकं भवेत्तत्त्वं क्रियाकारकघाति ते।
पृथिव्यादेरशेषस्य तत्रैवानुप्रवेशतः ॥ ११९ ॥

जड और चेतनका सत्पने, द्रव्यपने, और वस्तुपने प्रमेयत्व आदिसे सजातीयपना मानकर भूतोंको चैतन्यका उपादानकारण होजानेकी कल्पना स्वीकार करोगे, यों तो सत्त्व, द्रव्यत्वसे पृथ्वी, जल आदिमें भी सजातीयता है। तब पृथिवी, जल आदिके भी परस्परमें उपादान उपादेयपनेको कौन रोक सकता है ? कोई भी नहीं, जिससे कि तुम्हारे मतमें एक ही तत्त्व सिद्ध न हो जावे। जो कि क्रिया, कारक को नष्ट करनेवाला है। पृथ्वी, जल आदिक सम्पूर्ण पदार्थोंका उस ही एक तत्त्वमें पूर्णरीत्या प्रवेश हो जावेगा। भावार्थ—उत्कृष्ट सामान्यरूपसे व्यापक होरहे सत्त्व, द्रव्यत्व और वस्तुत्वधर्मोंसे यदि सजातीयपना व्यवस्थित किया जावेगा तो कार्यकारणभाव, कर्त्ता-क्रियाभाव नहीं बन सकेंगे। क्योंकि जैसे कार्य सत् है वैसे ही कारण भी सत् है तथा च कार्य ही कारणका कारण क्यों न बन जावे। अतः इतने बडे पेटवाले धर्मसे उपादान उपादेय व्यवस्था नहीं होसकती है किंतु एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप स्वभावसे ही उपादान उपादेय व्यवस्था है चैतन्य और मूत जडमें अन्वितरूपसे एक द्रव्यप्रत्यासत्ति नहीं होनेसे उपादान उपादेय भाव नहीं है। हां जैन सिद्धांतमें क्रियाकारक भाव सब बन जाते हैं। एकही तत्त्व मानने पर ये सब नहीं बन पाते हैं।

सूक्ष्मभूतविशेषश्चैतन्येन सजातीयो विजातीयो वा तदुपादानं भवेत् ? सजातीयश्चेदात्मनो नामान्तरेणाभिधानात् परमतसिद्धिः। विजातीयश्चेत् कथमुपादानमग्नेर्जलवत्। सर्वथा विजातीयस्याप्युपादानत्वे सैवादृष्टकल्पना।

उक्त वार्तिकोंकी टीका करते हैं कि परमाणुस्वरूप विशेष रीतिसे माना गया सूक्ष्मभूत आप चार्वाकके मतमें चैतन्यकी जातिवाला होकर ज्ञानीका उपादान कारण है अथवा विजातीय होकर चैतन्यका उपादान कारण है ? बताओ। यदि पहिला पक्ष सजातीयका लोगे तो दूसरे सूक्ष्मभूत शब्दोंसे आपने आत्माको ही कह दिया है। अतः दूसरे वादिओंके मतकी जैनमतकी सिद्धि हो जावेगी।

यदि भिन्नजातिवाला दूसरा पक्ष लोगे तब तो अग्निका जलके समान विजातीय भूत उस चैतन्यका उपादान कारण कैसे बन सकता है ? अर्थात् जैसे अग्निका उपादानकारण जल नहीं है वैसे ही विजातीयभूत भी आत्माका उपादान न हो सकेगा। यदि सर्वप्रकारसे विजातीय पदार्थको भी उपादान कारण मानोगे तो फिर भी चार्वाकोंने वही अदृष्ट पदार्थोंकी कल्पना की जो कि प्रतीतिओंसे विरुद्ध है।

गोमयादेर्वृश्चिकस्योत्पत्तिदर्शनान्नादृष्टकल्पनेति चेत् न वृश्चिकशरीरगोमययोः पुद्गलद्रव्यत्वेन सजातीयत्वात्, तयोरुपादानोपादेयतापायाच्च। वृश्चिकशरीरारम्भका हि पुद्गलास्तदुपादानं न पुनर्गोमयादिस्तस्य सहकारित्वात्।

यदि चार्वाक यों कहें कि गोबर, दही, आदिसे बिच्छू पैदा होते हुए देखे गये हैं। अतः जडसे चैतन्यकी उत्पत्ति माननेमें हमारी अदृष्टकल्पना नहीं है। आचार्य कह रहे हैं कि इस प्रकार तो मति (नहीं) कहो—क्योंकि बिच्छूका शरीर और गोबर दोनों ही पुद्गलद्रव्य होनेकी अपेक्षासे समानजातिवाले हैं। अतः उन शरीर और गोबरका उपादानउपादेयभाव है। बिच्छूकी आत्मा और गोबरका उपादान उपादेयभाव सर्वथा नहीं है।

दूसरी बात यह है कि जैन सिद्धांतकी सूक्ष्म गवेषणा करनेपर गोमयको शरीरका उपादान कारणपना भी सिद्ध नहीं है किंतु गोबरमें अदृश्यरूपसे विद्यमान होरही सूक्ष्म आहारवर्गणाएं ही बिच्छूके शरीरको बनानेवाली उपादानकारण हैं, जिनको कि गोबरमें आया हुआ बिच्छूका जीव अपने योगसे प्रतिक्षण कुछ देरतक ग्रहण करता है मोटा दृश्यमान गोबर आदि तो सहकारी कारण हैं। अतः आपका दृष्टांत विषम है। वास्तवमें पौद्गलिक शरीरकी गोबर, दही, वर्गणा आदिसे उत्पत्ति है, चैतन्यकी नहीं। हां! शरीर, इंद्रियां, मस्तक और छातीके छोटे छोटे अवयव या ब्राह्मी, बादाम, आदि पुद्गल उस चेतन आत्मासे उपादेय होरहे ज्ञानके निमित्त कारण बन जाते हैं।

सत्त्वेन द्रव्यत्वादिना वा सूक्ष्मभूतविशेषस्य सजातीयत्वाच्चेतनोपादानत्वमिति, तत एव क्ष्मादीनामन्योऽन्यमुपादानत्वमस्तु निवारकाभावात्।

चार्वाक कहते हैं कि जडभूत भी सद्रूप है और चैतन्य भी सद्रूप विद्यमान है। इसी प्रकार अचेतनभूत भी द्रव्य है और आत्मा भी द्रव्य है तथा भूत और चैतन्य दोनों अभिधेय, ज्ञेय, वस्तु, पदार्थ हैं। यों सत्त्व और द्रव्यपने आदिसे चेतनका सजातीय होनेसे विशिष्ट परिणामोंमें मिला हुआ सूक्ष्म भूत हमारे यही चेतनका उपादान कारण हो जावेगा ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा मानोगे तो तिस ही कारण पृथ्वी आदिकोंका भी परस्परमें उपादान उपादेय भाव हो जावे। क्योंकि कोई रोकनेवाला नहीं है। सत् और द्रव्यपनेसे पृथ्वी आदि भी समान जातिवाले हैं फिर पृथ्वी जल आदि चार तत्त्व पृथक् क्यों माने जाते हैं ? एक ही तत्त्व (पुद्गल) मानलो।

तथा सति तेषां परस्परमनन्तर्भावस्तदन्तर्भावो वा स्यात्? प्रथमपक्षे चैतन्य स्यापि भूतेष्वन्तर्भावाभवात् तत्त्वान्तरत्वसिद्धिः। द्वितीयपक्षे तत्त्वमेकं प्रसिद्धयेत्, पृथिव्यादेः सर्वस्य तत्रैवानुप्रवेशनात्, तच्चायुक्तं क्रियाकारकघातित्वात्।

यदि पृथ्वी आदिकोंका आप परस्परमें उपादान उपादेय भाव इष्ट कर लोगे तो तैसा होनेपर हम जैन आपसे पूंछते हैं कि उन पृथ्वी आदि तत्त्वोंको पृथक् पृथक् मानते हुए परस्परमें अंतर्भाव न करोगे अथवा एकका दूसरेमें अंतर्भाव कर लोगे? बताओ।

यदि आप चार्वाक प्रथम पक्ष लोगे तब तो पृथ्वी में जल आदिकका गर्भ न होनेके समान चैतन्यका भी भूतोंमें अंतर्भाव न होगा। एवं च भूतोंसे अतिरिक्त चैतन्य भिन्न तत्त्व सिद्ध होता है।

यदि आप दूसरा पक्ष लेंगे अर्थात् एकका दूसरेमें गर्भ कर लोगे तो चैतन्य भले ही भूतमें अन्तःप्रविष्ट हो जाय किंतु साथमें पृथ्वी आदिक चारों तत्त्व भी एक तत्त्व हो जावेंगे सभी पृथ्वी आदिक चारोंका एकमें ही प्रवेश हो जावेगा।

यदि आप दूसरेके अपकर्ष करनेके लिये "[illegible]काछेद" न्यायसे चैतन्य भिन्न तत्त्व सिद्ध न हो जावे, इस लिये पृथिवी, जल, आदिकोंको भी एक ही तत्त्व स्वीकार कर लोगे तो वह भी मानना युक्तियोंसे शून्य है। क्योंकि ऐसा माननेसे क्रियाकारकभाव नष्ट हो जाता है। ब्रह्माद्वैतवादियोंकी तरह सब पदार्थोंको एक ब्रह्मतत्त्वमें अंतर्भाव करनेसे क्रिया, कर्त्ता, कर्म नहीं हो सकते है। क्या वही एक आप ही अपनेसे स्वयं बन जाता है? नहीं, इस प्रकार एक तत्त्वके माननेसे चार्वाकको अपसिद्धांत भी होगा। परिशेषमें आत्माको ही चैतन्यका उपादानकारण माननेपर चैन मिल सकता है।

तस्माद्द्रव्यान्तरापोढस्वभावान्वयि कथ्यताम्।
उपादानं विकार्यस्य तत्त्वभेदोऽन्यथा कुतः॥ १२०॥

तिस कारण उपादानकारण माननेका यह नियम करना चाहिये कि जो स्वपर्यायवाले प्रकृत द्रव्यसे अतिरिक्त दूसरे द्रव्योंसे व्यावृत्त स्वभाववाला है और यह वही द्रव्य है। इस प्रकार अन्वयज्ञानका जो विषय है वही विकारको प्राप्त हुये उस कार्यका उपादानकारण है। यदि ऐसा न मानकर अन्यप्रकारसे मानोगे तो पृथिवी, जल आदि तत्त्वोंका भी भेद कैसे होगा? बताओ तो सही। बगलें क्यों झांकते हैं। सिद्धांत यह है कि जैसे क्षुद्र गंगानदीकी धारा गंगोत्तरी पर्वतसे लेकर कलकत्ता पर्यंत बह रही है। हरिद्वार, कानपुर, बनारस, पटना आदिमें भिन्नदेशवाली पर्यायोंको धारण करनेवाली वही एक गंगा है। इसी प्रकार अनादि कालसे अनंत काल

तक पर्यायोंको धारण करता हुआ अखण्ड एक द्रव्य पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंके द्वारा उपादान उपादेयस्वरूप होरहा है। दूसरा सजातीय या द्रव्य उसकी पर्यायोंका उपादान कारण नहीं है।

तत्त्वमुपादानत्वं विकार्यत्वं च तद्भेदो द्रव्यान्तरव्यावृत्तेन स्वभावेनान्वयित्वे सत्युपादानोपादेययोर्युक्तो नान्यथातिप्रसंगादित्युपसंहर्तव्यम्।

यहां उपादानव्यवस्थासंबंधी नियमके प्रकरणका वक्ष्यमाण इस तरह संक्षेपमें संकोच करना चाहिए कि उपादान कारण और उसके विकारको प्राप्त हुए उपादेय कार्य दोनों एकही तत्त्व हैं। उन उपादान और उपादेयका केवल कार्यकारणरूपसे भेद है। निराले भिन्न तत्त्वोंकी अपेक्षासे भेद नहीं है क्योंकि वे दोनों ही दूसरे द्रव्योंके स्वभावोंसे पृथग्भूत स्वकीय स्वभावोंकरके धाराप्रवाह रूपसे एक दूसरेमें शृङ्खलाबद्ध अन्वित हो रहे हैं। सभी उपादान उपादेयभाव उचित पडता है जो पर्याय अखण्ड त्रिकालगोचर द्रव्यमें अन्वित नहीं हैं उनमें उपादान उपादेयपना भी नहीं है। यदि ऐसा नियम न माना जावेगा तो अन्य प्रकार होनेपर अतिप्रसंग हो जावेगा। अर्थात् कोई भी चेतनद्रव्य जडका और आपके मतानुसार पृथ्वीतत्त्व जलका भी उपादान बन बैठेगा, हम तो अनंतानंत पर्यायोंको टांकीसे उकेरे गये न्यायसे द्रव्यमें शक्तिरूपसे विद्यमान मानते हैं। अतः न कोई बाल बराबर घटता है और न रत्ती भर बढता है सब अपने अपने स्वभावोंमें रमे रहते हैं।

यदि द्रव्यप्रत्यासत्ति न रखनेवाले किसी भी तत्त्वसे चाहे कोई भी उपादेय बन जावेगा तो मोहम्मद–मतानुयायियोंके खुदाके यथावश्यक विचारानुसार अनेक रूहों (आत्माओं) की उत्पत्ति कर देनेके समान असंख्य नवीन पदार्थ उत्पन्न हो जावेंगे। अश्वके मस्तकमें भी सींग निकल आवेंगे, चनासे गेहूंका अंकुर भी उपज जायगा जो कि किसीको इष्ट नहीं है॥

तथा च सूक्ष्मस्य भूतविशेषस्याचेतनद्रव्यव्यावृत्तस्वभावेन चैतन्यमनुगच्छतस्तदुपादानत्वमिति वर्णादिरहितः स्वसंवेद्योऽनुमेयो वा स एवात्मा पंचमतत्त्वमनात्मज्ञस्य परलोकप्रतिषेधासम्भवव्यवस्थापनपरतया प्रसिद्ध्यत्येवेति निगद्यते।

वैसा होनेपर इस कारणसे यह बात प्रसिद्ध हो ही जाती है कि अचेतन जड द्रव्योंके स्वभावोंसे पृथग्भूत स्वभावों करके सर्वदा चेतनपनेका अनुगमन करनेवाला आत्मा ही सूक्ष्मभूत विशेष है और वही ज्ञानका उपादान कारण है जोकि पृथ्वी आदिकके स्वभावोंसे सर्वथा रहित है। इस प्रकार रूप, रस, आदिकसे रहित हो रहा और अपनेमें स्वयं स्वसंवेदनप्रत्यक्षका विषय तथा दूसरेमें वचन चेष्टा, आदि द्वारा अनुमान करने योग्य वह सूक्ष्मभूत ही हमारा आत्मा है। आत्माको नहीं जाननेवाले चार्वाकको पांचवा चेतन तत्त्व अगत्या स्वीकार करना पडेगा। चार्वाकने अनाद्य-

नन्त आत्माको स्वीकार न करते हुए स्वर्ग, नरक, प्रेत्यभाव, परलोककी व्यवस्था नहीं मानी है किंतु जब स्वसंवेदनके योग्य सूक्ष्ममूतको मानलिया है तो परलोकके निषेधका सम्भव न होनेकी व्यवस्था करनेमें चार्वाक स्वयं तत्पर होरहा है। इस कारण उक्त निर्णय प्रमाणोंसे सिद्ध होजाता ही है। इसी बातको आचार्य महाराज वार्तिकों द्वारा पुनः स्पष्ट कर कहते हैं—

सूक्ष्मो भूतविशेषश्च वर्णादिपरिवर्जितः ।
स्वसंवेदनवेद्योऽयमनुमेयोऽथवा यदि॥ १२१ ॥
सर्वथा पँचमं भूतमनात्मज्ञस्य सिद्धयति ।
स एव परलोकीति परलोकक्षतिः कथम् ॥ १२२ ॥

चैतन्यशक्तिको धारण करनेवाला विलक्षण प्रकारका सूक्ष्ममूत है जो कि रूप, रस, गंध, स्पर्शोंसे रहित है। यह स्वयं अपनेमें स्वसंवेदन—प्रत्यक्षसे जाना जाता है अथवा दूसरेमें अपने द्वारा और अपनेमें दूसरोंके द्वारा उसका अनुमान भी किया जाता है। यदि चार्वाक यों मानेंगे तो आत्म-तत्त्वको नहीं माननेवाले चार्वाकको सभी प्रकारसे चार भूतोंके अतिरिक्त पांचवा भूतस्वरूप आत्मा तत्त्व सिद्ध होजाता है। वह आत्मा ही परलोकको धारण करनेवाला है। ऐसी दशामें एक एक आत्माके पूर्व, पीछे हुये अनादि, अनंत, परलोकोंकी क्षति कहां हुई ? अर्थात् चार्वाकजन परलो-कका निषेध कैसे कर सकते हैं ? बतलाइये अर्थात् नहीं।

नेदृशो भूतविशेषश्चैतन्यस्योपादानं किन्तु शरीरादय एव तेषां सहकारित्वेन कारकत्वपक्षानाश्रयादिति चेत् ।

चार्वाक कहते हैं कि पूर्वोक्त रीतिसे स्वसंवेद्य और वर्णादिकोंसे रहित ऐसे सूक्ष्ममूत विशेष को हम चैतन्यका उपादान कारण नहीं मानते हैं किन्तु शरीर, इन्द्रिय और विषयोंको ही चैतन्य का उपादान कारण इष्ट करते हैं। हमने जो यह पक्ष लिया था कि चैतन्यके सूक्ष्ममूत उपादान कारण हैं वे शरीर, इन्द्रिय तथा विषय तो सहकारी कारण होकर कारक हैं सो अब इस पक्षका हम आश्रय नहीं लेते हैं। भावार्थ—शरीर आदिकको निमित्त कारण न मानकर हम उनको ही चैतन्यका उपादान कारण मानते हैं। यदि चार्वाक ऐसा कहेंगे तब तो आचार्य कहते हैं कि—

शरीरादय एवास्य यद्युपादानहेतवः ।
तदा तद्भावभावित्वं विज्ञानस्य प्रसज्यते ॥ १२३ ॥
व्यतीतेऽपीन्द्रियेऽर्थे च विकल्पज्ञानसम्भवात् ।
न तद्धेतुत्वमेतस्य तस्मिन्सत्यप्यसम्भवात् ॥ १२४ ॥

शरीर आदिक चैतन्यके निमित्तकारण न होकर यदि उपादानकारण माने जावेंगे तब तो उन शरीर, इन्द्रिय तथा विषयोंके होनेपर ज्ञानका होना और शरीर आदिकके न होनेपर ज्ञानका न होना यों विज्ञानको इस अन्वयव्यतिरेकभाव होनेका प्रसंग आवेगा किन्तु यहां अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार देखा जाता है। मुनिये, इन्द्रियोंके व्यापार और अर्थके बिना भी विचारस्वरूप अन्तरंगमें संकल्प विकल्परूप अनेक ज्ञान होते रहते हैं। इस कारण व्यतिरेकव्यभिचार हो जानेसे इस चैतन्यके वे शरीर आदिक उपादान कारण नहीं हो सकते हैं और यहां अन्वयव्यभिचार भी है। अन्यमनस्क मूर्च्छित, या मरे हुए जीवके उन शरीर और इन्द्रियोंके होनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। तथा उपादेय अवस्थामें कार्यस्वरूपसे उपादानका रहना आवश्यक है किन्तु चैतन्यके होनेपर भी ध्यान या विचार की अवस्थामें उपादान माने गये शरीर और इन्द्रियोंका उपादेय परिणामस्वरूप होकर विद्यमान रहना देखा नहीं जाता है। घट अवस्थामें मिट्टी और कपडेकी दशामें सूत तो देखे जाते हैं—

कायश्चेत्कारणं यस्य परिणामविशेषतः ।
सद्यो मृततनुः कस्मात्तथा नास्थीयतेमुना ॥ १२५ ॥
वायुविश्लेषतस्तस्य वैकल्याच्चेन्निबन्धनम् ।
चैतन्यमिति संप्राप्तं तस्य सद्भावभावतः ॥ १२६ ॥

जिस चार्वाकके मतमें विशिष्ट मिश्रणरूप परिणतिसे युक्त शरीरको चैतन्यका उपादान कारण इष्ट किया है यों तो हम पूंछते हैं कि मरनेके कुछ काल पहिले जो शरीर चैतन्यका कारण हो रहा था वह शरीरका विशेष परिणमन मरते समय भी विद्यमान है। अतः शीघ्र मरा हुआ शरीर भी वैसा पूर्वकी प्रकार इस चैतन्यस्वरूप व्यवस्थितरूपसे परिणति क्यों नहीं करता है ? अर्थात् मुर्दाको जीवित हो जाना चाहिये और जीवित होकर उसे बहुत दिनोंतक ठहरना चाहिये।

यदि आप यों कहेंगे कि मरनेपर प्राणवायु निकल जाती है अतः उस आवश्यक वायुसे रहित होरहे केवल पार्थिव, जलीय, तैजस विशिष्ट परिणाम न रह सकनेके कारण उस चैतन्यका कारण नहीं होता है। ऐसा कहनेपर तो यों चैतन्यकी वायुको ही उपादानकारणता भले प्रकार प्राप्त हुयी क्योंकि उस वायुका सद्भाव होनेपर चैतन्यका अस्तित्व और वायुके न रहनेपर चैतन्यका अभाव आपने अभी माना है।

सामग्री जनिका नैकं कारणं किंचिदीक्ष्यते।
विज्ञाने पिष्टतोयादिर्मदशक्ताविवेति चेत् ॥ १२७ ॥

संयुक्ते सति किन्न स्यादम्भादिभूतचतुष्टये ।
चैतन्यस्य समुद्भूतिः सामग्र्या अपि भावतः ॥१२८ ॥

बृहस्पति मतवाले कहते हैं कि जैसे मदशक्तिके उत्पन्न करनेमें पिठीका पानी, गुड महुआ आदि कारणोंकी पूर्णतारूप सामग्री कारण है। अकेली पिठीसे मदशक्तिवाला मद्य पैदा नहीं होता है। उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा इनके विशेष विशेष परिमाणमें होनेवाले परिणामरूप कारणकूटसे विज्ञान उत्पन्न होता है। एक एक करके कोई भी वायु या पृथ्वी उपादानकारण नहीं देखा जाता है, कारणोंकी समग्रता कार्यको करती है। अकेला कारण नहीं। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक यह कहेंगे तब तो कसैंडी या भगौनामें दाल, भात पकाते समय पृथ्वी, अप्, तेज और वायु इन चारों मूर्तोंके मिश्रण होजाने पर चूल्हाके ऊपर कसैंडीमें चैतन्यकी बढिया उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती है! बताओ; चार्वाकोंके मतानुसार कारणसमुदायस्वरूप सामग्री भी वहां विद्यमान है। न्यायशास्त्रका कार्यकारणभाव पक्का होता है। कारणोंके मिल जानेपर कार्य अवश्य हो जाना ही चाहिये।

तद्विशिष्टविवर्त्तस्यापायाच्चेत्स क इष्यते ।
भूतव्यक्त्यन्तरासंगः पिठिरादावपीक्ष्यते ॥ १२९ ॥
कालपर्युषितत्त्वं चेत्पिष्टादिवदुपेयते ।
तत्किं तत्र न सम्भाव्यं येन नातिप्रसज्यते ॥ १३० ॥

यदि आप चार्वाक यह कहेंगे कि कसैंडीमें उन पृथ्वी आदिकका अतिशयधारी विशिष्ट प्रकारका परिणाम नहीं है। अतः चैतन्य नहीं बनता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन आपसे पूंछते हैं कि वह अतिशयधारी परिणाम आपके यहां कौनसा माना गया है?

बताओ, यदि आप दूसरे दूसरे मूतव्यक्तियोंके आकर मिलजानेको विशिष्ट पर्याय स्वीकार करेंगे तो यह विशिष्ट परिणाम तो कसैंडी भगोना आदि पाकभाण्डों में भी देखा जाता है। अतः वहां चैतन्य उत्पन्न होजाना चाहिये।

तथा यदि पिठी, महुआ आदिकके समान कुछ समय तक सडना, गलनारूप विशिष्ट परिणाम मानोगे ऐसा स्वीकार करनेपर तो हम आर्हत पूछते हैं कि क्या यह परिणाम उन कसैंडी आदिमें सम्भावित नहीं है?, जलेबीके लिये घोले हुए चूनके समान कसैंडीमें भी देर तक पृथ्वी, जल आदिक भी वासे किये जाते हैं जिससे कि फिर क्यों नहीं वहां चैतन्यकी उत्पत्तिका अतिप्रसंग होगा?। अर्थात् चाहें कहीं भी मूर्तोंके दो, तीन दिनतक पडे रहनेसे वासे हो जानेपर चाहे

जहां चैतन्य उत्पन्न हो जावेगा। चून आदिके सडाये जानेपर सम्मूर्छन द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय या निगोदराशि जीव उत्पन्न होजाते हैं किंतु मनुष्य घोडे, गाय, भैंस ये जीव उपजने चाहिये जैसे कि माताके पेटमें सत्त्व उपजते हैं। यह आपादन है वस्तुतः चूनसे जीवोंका देह ही बनता है चैतन्य नहीं।

भूतानि कति चित्किञ्चित्कर्तुं शक्तानि केन चित्।
परिणामविशेषेण दृष्टानीति मतं यदि ॥ १३१ ॥
तदा देहेन्द्रियादीनि चिद्विशिष्टानि कानि चित्।
चिद्विवर्तसमुद्भूतौ सन्तु शक्तानि सर्वदा ॥ १३२ ॥

चार्वाक बोलते हैं कि "जैसे वर्षा ऋतुके जल और मिट्टीसे तथा द्रव्यपरिवर्तनस्वरूप व्यवहारकालसे असंख्य मेंढक, गिंडोरे, गिंजाई, पतङ्ग, इंद्रगोप आदि जंतु उत्पन्न हो जाते हैं, सब स्थानोंमें और सब ऋतुओंमें नहीं होते हैं। इसी प्रकार कितने ही और कोई कोई विशेष भूतचतुष्टय ही किसी विशेषपरिणामसे किन्हीं विशेष जीवोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ देखे गये हैं। गर्भमें या अन्य योनियोंमें मिले हुए भूतचतुष्टय चैतन्यको उत्पन्न कर देते हैं थाली, कसैंडीमें नहीं"। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम्हारा ऐसा मन्तव्य है तब तो आपने प्रामाणिक प्रतीतिके अनुसार कार्यकारण–व्यवस्था स्वीकार की इससे हमें प्रसन्नता हुई। इस तरह तो चेतन आत्मासे संयुक्त हो रहे कोई विलक्षण शरीर, इंद्रिय आदिक ही उस गर्भ आदिकके समय चैतन्यपर्यायको बढिया उत्पन्न करनेमें सर्वदा समर्थ हो जावो। यह स्वीकार कर लेना चाहिए। अर्थात् छिपे हुए चैतन्यस्वरूप उपादानकारणसे और शरीर, इंद्रियां, क्षयोपशम, उत्साह आदि निमित्तकारणोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। जडसे जड शरीर ही बनता है चेतन नहीं। दाल, अमरूद आदिके सडनेपर जो कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं उनका शरीर ही दाल आदिसे बनता है अनादि आत्मा नहीं। आत्मा तो इधर उधरसे वहां जन्म ले लेता है, असंख्य आत्मायें प्रतिक्षण जन्मते, मरते, हैं।

तथा सति न दृष्टस्य हानिर्नादृष्टकल्पना।
मध्यावस्थावदादौ च चिद्देहादेश्चिदुद्भवात् ॥ १३३ ॥
ततश्च चिदुपादानाच्चेतनेति विनिश्चयात्।
न शरीरादयस्तस्याः सन्त्युपादानहेतवः ॥ १३४ ॥

उस प्रकार ऐसा कार्य, कारण, माननेपर प्रत्यक्ष और अनुमानसे देखे जाने हुए पदार्थकी हानि नहीं हुयी अर्थात् मध्य अवस्थामें अग्निसे अग्नि या दीपकसे दीपकलिकाकी उत्पत्ति होनेके

समान आद्य अवस्थामें भी चेतनमय पिंडसे ही चेतन उत्पन्न हुआ माननेपर उपादेय उपादानके कार्य-कारणभावका भंग नहीं होता है। बांस या पत्थरके रगडनेसे पथिककी पहिली आगकी उत्पत्तिके समान बिना उपादानकारणके पदार्थोंके उत्पन्न होनेकी अदृष्टकल्पनाका भी प्रसंग नहीं है। क्योंकि मध्यकी अवस्थाके समान आदिमें भी चेतन आत्मद्रव्यसे या सुख, चारित्र, सम्यक्त्व आदि ज्ञानशरीरी जीवित पिण्डसे ही वैसा चैतन्य उत्पन्न होता है। बिना उपादानके चैतन्य पैदा नहीं होता है उस कारणसे अब तक चेतन उपादानसे ही ऐसी चेतनाकी उत्पत्तिका निश्चय हो जानेसे चेतनाके शरीर, इन्द्रिय और विषय या अन्य सूक्ष्मभूत आदि उपादान कारण नहीं हैं यह सिद्ध हुआ। बांस तो पुद्गलद्रव्य है वही रगड खाजानेपर अग्निपर्यायको धारण कर लेता है। बांसके जलनेपर मध्यमें भी तो बांस ही अग्निस्वरूप परिणत हुआ है। बांसमें भीतर कोई अग्नि घुसी हुई नहीं है। दाह होनेपर सम्पूर्ण बांस अग्निमय होजाता है।

तदेवं न शरीरादिभ्योऽभिव्यक्तिवदुत्पत्तिश्चैतन्यस्य घटते सर्वथा तेषां व्यञ्जकत्ववत्कारकत्वानुपपत्तेः।

इस कारण इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियोंसे यह घटित कर दिया है कि शरीर, इंद्रिय आदिकोंसे चैतन्यके प्रगट होनेके समान उनसे चैतन्यकी उत्पत्ति भी नहीं घटित होती है। क्योंकि उन शरीर, इंद्रिय और विषयोंको चैतन्यके अभिव्यञ्जकपनेके सदृश सभी प्रकारोंसे कारकपना भी सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् शरीर आदिक या सूक्ष्मभूत ये चैतन्यके व्यञ्जक अथवा कारक हेतु नहीं हो सकते हैं।

एतेन देहचैतन्यभेदसाधनमिष्टकृत्।
कार्यकारणभावेनेत्येतद्ध्वस्तं निबुद्ध्यताम् ॥१३५॥

आचार्य महाराजने भिन्नलक्षणपना हेतुसे चैतन्य और देहका भेद सिद्ध किया था। उस समय चार्वाकने परिणामिपरिणाम-भावसे अथवा कार्यकारण-भावसे चैतन्य और देहका भेद हम भी मानते हैं इस प्रकार अचार्योंके ऊपर सिद्धसाधन दोष उठाया था किंतु इस उक्त प्रकरणके द्वारा यह कार्यकारण भावसे देह और चैतन्यका इष्ट किया गया चार्वाकोंका भेद सिद्ध करना भी खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये।

निरस्ते हि देहचैतन्ययोः कार्यकारणभावे व्यंग्यव्यञ्जकभावे च तेन तयोर्भेदसाधने सिद्धसाधनमित्येतन्निरस्तं भवति तत्त्वान्तरत्वेन तद्भेदस्य साध्यत्वात्। न च यद्यस्य कार्यं तत्ततस्तत्त्वान्तरमतिप्रसङ्गात्।

देह और चैतन्यके कार्यकारणभाव तथा व्यंग्यव्यञ्जक भावके पक्की तौरसे प्रतिविधान (खडन) हो जाने पर इससे ही उन दोनोंके भेद सिद्ध करनेमें उठाया गया यह सिद्धसाधनदोष भी खण्डित होगया है क्योंकि भिन्न तत्त्वरूपसे उन देह और चैतन्यके भेदको हमने साध्य किया है। न्याय यह है कि जो जिसका कार्य होता है, वह उससे वास्तविकमें भिन्न तत्त्व नहीं होता है। ऐसा न मानकर यदि किसीके कार्यको भी उससे विजातीय भिन्न तत्त्व मान लोगे तो असंख्य तत्त्व बन बैठेंगे। यह तत्त्वोंकी संख्याके अतिक्रमणका प्रसंग होगा। अर्थात् मिट्टी, दण्ड, घट, और तुरी, तंतु, पट, इस प्रकार न्यारे न्यारे असंख्याते तत्त्व हो जावेंगे। कोई नियत निर्णीत तत्त्व-व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

नापि स्वात्मभूतं व्यंग्यं तत एव, व्यञ्जकाद्भिन्नं तत्त्वान्तरमिति चेन्न, अद्भ्यो रसनस्य तद्भावप्रसङ्गात्, रसनं हि व्यंग्यमद्भ्यो भिन्नं च ताभ्यो न च तत्त्वान्तरं तस्याप्तत्वेऽन्तर्भावात्।

तथा इस ही कारणसे जो स्वयं निज व्यंजककी आत्मा स्वरूप हो रहा है, वह व्यंग्य भी तत्त्वान्तर नहीं होता है। अन्यथा यहां भी असंख्य व्यंग्य तत्त्व भिन्न भिन्न माननेका अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। अर्थात् व्यञ्जक प्रदीपके व्यंग्य हो रहे घट पट आदि सर्व ही पदार्थ न्यारे न्यारे तत्त्व बन जावेंगे जो कि तुमको भी अनिष्ट हैं। हम भिन्न तत्त्वपनेसे देह और चैतन्यका भेद सिद्ध कर रहे हैं। अतः चार्वाक अभिन्न तत्त्वोंमें केवल व्यङ्ग्यव्यंजकपनेसे भेद मानकर हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष नहीं उठा सकते हैं क्योंकि चैतन्य और देहका तत्त्वान्तर होकर भेद सिद्ध किया जा रहा है इसके समझकर दोष उठाना चाहिए। बालकपन अच्छा नहीं।

यदि चार्वाक यों कहेंगे कि वह प्रगट करने योग्य चैतन्य तो अपने व्यञ्जक माने गये पृथिवी आदिकसे भिन्न हैं इस कारण दूसरा तत्त्व है, सो यह कहना तो समुचित नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर तो जलसे रसना इंद्रियके व्यंग्य हो जानेके कारण तत्त्वान्तर होनेका प्रसंग आता है। देखिये जलतत्त्वसे बनी हुयी रसना इंद्रिय निश्चय करके जलसे व्यंग्य है और जलोंसे भिन्न भी है किंतु उसको आपने भिन्न तत्त्व नहीं माना है कारण कि रसना इंद्रियको जलतत्त्वमें गर्भित किया है। नैयायिकोंके समान चार्वाक भी नासिका इंद्रियको पृथ्वीस्वरूप और रसनाको जलसे बनी हुयी तथा चक्षुः इंद्रियका तेजस् तत्त्वसे उत्पन्न होना एवं स्पर्शन इंद्रियको वायवीय स्वीकार करते हैं॥

कार्यकारणयोः सर्वथा भेदात्तद्विशेषयोर्व्यंग्यव्यञ्जकयोरपि भेद एवेति चेन्न, कथंचिदभेदोपलब्धेः, कथमन्यथा चैतन्यस्य देहोपादनत्वेऽपि तत्त्वान्तरता न स्यात्, देहाभिव्यंग्यत्वे वा, येन कार्यकारणभावेन देहचैतन्ययोर्भेदे साध्ये सिद्धसाधनमुद्भाव्यते।

यदि तुम चार्वाक यह कहोगे कि हम नैयायिकके समान कार्य और कारणको सर्व प्रकारसे भिन्न मानते हैं। अतः कार्यकारणभावके व्याप्यरूप होरहे व्यंग्य-व्यञ्जकोंका भी भेद ही है।

जो सामान्यमें धर्म रहता है वह उसके विशेषोंमें अवश्य पाया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चार्वाकका कथन ठीक नहीं है क्योंकि किन्हीं किन्हीं कार्य और कारणोंमें तन्तु, पटके समान या मिट्टी घटके समान अभेद भी देखा जाता है तथा प्रदीप और घटके समान कई व्यंग्य व्यञ्जकोंमें भी पौद्गलिकपनेसे अभेद देखा जाता है यदि आप ऐसा न स्वीकार कर अन्य प्रकार मानेंगे तो शरीररूपकारणको चैतन्य स्वरूपकार्यका उपादानपना होते हुए भी कारकपक्षमें भिन्नतत्त्वपना क्यों नहीं होगा ? अथवा चैतन्यकी देहसे प्रगटता माननेपर भी व्यञ्जकपक्षमें तत्त्वान्तररूपसे भेद क्यों न होगा ? बताओ ? जिससे कि कार्यकारणरूप करके देह और चैतन्यका भेद स्वीकार करनेपर आप चार्वाक हमारे तत्त्वान्तररूपसे भेदको साध्य करनेमें सिद्धसाधन नामका दोष उठा सकें। अर्थात् आपके मतानुसार कार्यकारणरूपसे भेद मानने पर तत्त्वान्तररूपसे भेद सिद्ध करना आपको पहिले इष्ट नहीं था और अब वैशेषिकोंका अनुकरण करनेपर तत्त्वान्तररूपसे भेद मानना आपको आवश्यक हुआ। अतः आप हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष नहीं उठा सकते हैं प्रत्युत आपके ऊपर अपसिद्धान्त दोष है।

देहस्य च गुणत्वेन बुद्धेर्या सिद्धसाध्यता।
भेदे साध्ये तयोः सापि न साध्वी तदसिद्धितः ॥ १३६ ॥

चैतन्यको शरीरका गुण माननेपर भेद साध्य करनेमें गुणगुणी भावसे भेद इष्ट होनेका जो चार्वाकोंके द्वारा सिद्धसाध्यतारूप दोष उठाया जाता है वह भी अच्छा नहीं है क्योंकि देह और चैतन्यका गुणगुणिभावसे भेद होना सिद्ध नहीं होता है अर्थात् शरीरका गुण चैतन्य सिद्ध नहीं हो सकता है अतः चैतन्यको देहका गुणपन साधनेमें हेतुकी असिद्धि है।

कथं देहगुणत्वेन बुद्धेरसिद्धिर्यतो बुद्धिदेहयोर्गुणगुणिभावेन भेदसाधने सिद्धसाधनमसाधीयः स्यादिति ब्रूमहे।

चार्वाक कहते हैं कि चैतन्यको देहका गुणपना कैसे असिद्ध है ? बताओ जिससे कि बुद्धि और देहका गुणगुणिरूपसे भेद स्वीकार करनेपर हमारी तरफसे दिया गया सिद्धसाधन दोष अधिक चोखा न होवे। इस चार्वाकके कटाक्षपर अब हम जैन इस प्रकार आरोपसहित बोलते हैं। सुनियेः—

न विग्रहगुणो बोधस्तत्रानध्यवसायतः।
स्पर्शादिवत्स्वयं तद्वदन्यस्यापि तथा गतेः ॥ १३७ ॥

शरीरका गुण चैतन्य नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन शरीरमें जैसे विना किसी खटकाके हमको अपने आप स्पर्श, रूप, गंध आदिका निर्णय होरहा है (दृष्टांत) वैसा शरीरमें चैतन्यके रहनेका निर्णय नहीं है (हेतु) यदि किसीके गुणको दूसरेका मान लेंगे तो उसी तरह अन्य घट, पट आदिकका गुण भी चैतन्य उस प्रकार सिद्ध हो जावेगा। तथा गंधगुण जलका और वायुका रूपगुण भी बोला जावेगा जो कि आप चार्वाकको या नैयायिकको अभीष्ट नहीं है।

न हि यथेह देहे स्पर्शादय इति स्वस्य परस्य वाध्यवसायोऽस्ति तथैव देहे बुद्धिरिति येनासौ देहगुणः स्यात्।

जैसे कि इस देहमें स्पर्श, रूप, रस और गंध गुण विद्यमान हैं इस प्रकार हमको और दूसरोंको निश्चय हो रहा है। उसी तरह " देहमें चैतन्य है " ऐसा निर्णय हमको और दूसरोंको नहीं होता है जिससे कि वह चैतन्य देहका गुण माना जावे। प्रतीतियोंसे बाधित होरहे पदार्थको कोई नहीं मानता है।

प्राणादिमति काये चेतनेत्यस्त्येवाध्यवसायः कायादन्यत्र तदभावादिति चेत् न तस्य बाधकसद्भावात्सत्यतानुपपत्तेः। कथम्—

यदि चार्वाक यों कहें कि " प्राणस्वरूप श्वास उच्छ्वास लेना, बोलना, चेष्टा करना, पढना, पढाना आदिसे सहित होरहे शरीरमें चेतना विद्यमान है इस प्रकारका निर्णय सबको हो रहा है। और प्राण आदिसे युक्त देखे गये शरीरसे अतिरिक्त घट, पट आदिकमें उस चेतनाका अभाव प्रतीत हो रहा है। इस कारण शरीरमें ही चेतना मानना चाहिये "। ग्रंथकार कहते हैं कि यह चार्वाकोंका मंतव्य ठीक नहीं है क्योंकि शरीरमें चेतना है ऐसे भ्रांत ज्ञानका बाधक प्रमाण विद्यमान है अतः उस ज्ञानको प्रामाणिकपना सिद्ध नहीं हैं। वह कैसे ? सो सुनिये।

तद्गुणत्वे हि बोधस्य मृतदेहेऽपि वेदनम्।
भवेत्त्वगादिवद्बाह्यकरणज्ञानतो न किम् ॥ १३८ ॥

यदि चैतन्यको उस भौतिकदेहका ही गुण मानोगे तो मृतशरीरमें भी चैतन्यका ज्ञान होना चाहिये। जैसे मुर्दा शरीरमें स्पर्शन आदिक इंद्रियोंसे स्पर्श, रूप आदिकका ज्ञान हो रहा है उसी प्रकार बहिरंग इंद्रियोंसे जन्य हुये ज्ञानके द्वारा हम तुमको मृतशरीरमें चैतन्यका ज्ञान भी क्यों नहीं होता है ? बताओ, क्योंकि आपके मतमें चैतन्य भी रूपरसके समान शरीरका गुण है और वे बहिरंग इंद्रियोंसे ग्राह्य हैं।

बाह्येन्द्रियज्ञानग्राह्यो बोधोऽस्तु देहगुणत्वात् स्पर्शादिवद्विपर्ययो वा।

उक्त अनुमानकी व्याख्या करते हैं कि चैतन्य भी (पक्ष) बहिरङ्ग इंद्रियोंसे जन्य ज्ञानके द्वारा ग्राह्य हो जाओ (साध्य) क्योंकि आप चार्वाकोंके मतानुसार वह शरीरका गुण है (हेतु) जैसे कि शरीरके गुण स्पर्श, रूप, रस ये बहिरंग इंद्रियोंसे जाने जाते हैं (अन्वयदृष्टांत) दूसरी बात यह है कि अथवा विपरीत (उल्टा) हो जावे अर्थात् देहका गुण चैतन्य जैसे बहिरङ्ग इंद्रियोंसे नहीं जाना जाता है। उसी प्रकार देहके गुण माने गये स्पर्श, रूप आदिक भी बहिरङ्ग इंद्रियोंसे नहीं जाने जावें किंतु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः चार्वाकके हेतु में अन्यथानुपपत्ति गुण नहीं है जो कि हेतुका प्राण है।

न च बोधस्य बाह्यकरणज्ञानवेद्यत्वं दृष्टमितीष्टं वा संशयानुत्पत्तिप्रसंगान्नापि स्पर्शादेरबाह्यकरणज्ञानवेद्यत्वमित्यतिप्रसङ्गविपर्ययौ देहगुणत्वं बुद्धेर्बाधेते।

चैतन्यका बाह्य इंद्रियजन्य ज्ञानसे जाना गयापन आज तक न तो देखा गया है और न अनुमान आदि प्रमाणोंसे इष्ट किया है। यदि ऐसा सिद्ध हो गया होता तो चैतन्यको देहका गुण होनेमें किसीको संशय ही उत्पन्न नहीं हो जानेका प्रसंग आता, अर्थात् सभी बाल गोपाल झट चैतन्यको देहका गुण निर्णय कर लेते। अतः चैतन्यको बहिरंग इंद्रियोंसे जाननेका अतिप्रसंग होना मति मानो, और यह विपर्यय भी नहीं मानो कि स्पर्श आदिक गुण भी चैतन्यके समान बहिरंग इंद्रियजन्य ज्ञानोंसे जानने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों अतिप्रसंग और विपर्यय दोष होना बुद्धिको देहके गुणपनेका बाधन कर रहे हैं। अतः " देहमें बुद्धि है " इस ज्ञानको बाधक प्रमाण उत्पन्न होनेसे सत्यता सिद्ध नहीं होती है तथा च शरीरका गुण चैतन्य नहीं है। यह हमारा प्रतिज्ञावाक्य सिद्ध हुआ।

सूक्ष्मत्वान्न क्वचिद्बाह्यकरणज्ञानगोचरः।
परमाणुवदेवायं बोध इत्यप्यसंगतम् ॥ १३९ ॥
जीवत्कायेऽपि तत्सिद्धेरव्यवस्थानुषङ्गतः।
स्वसंवेदनतस्तावद्बोधसिद्धौ न तद्गुणः ॥ १४० ॥

जैनोंने कहा था कि यदि चैतन्य शरीरका गुण है तो स्पर्श, रूप आदिके समान बहिर्भूत इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य होना चाहिये। इस पर हम चार्वाकोंका कहना है कि अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे परमाणु और उसके रूप, रस आदि गुणोंके समान यह चैतन्य कहीं भी बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य हुये ज्ञानद्वारा गृहीत नहीं होता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चार्वाकोंका कहना भी स्वकीयमतके निर्वाह करनेकी संगतिसे रहित हैं क्योंकि यदि चैतन्यको परमाणुके समान अत्यंत छोटा मानोगे तो जीवित हो रहे शरीरमें भी चैतन्यको सिद्ध करनेकी व्यवस्था नहीं बन सकनेका

प्रसंग होगा और जब कि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे तो चैतन्यकी सिद्धि हो रही है, ऐसी दशामें वह चैतन्य शरीरका गुण सिद्ध नहीं हो पाता है कारण कि भौतिकशरीरके एक भी गुणका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं होता है।

न क्वचिद्बोधो बाह्यकरणज्ञानविषयः प्रसज्यतां देहगुणत्वात् तस्य देहारम्भकपरमाणुरूपादिभिर्व्यभिचारात्तेषां बहिःकरणत्वाविषयत्वेऽपि देहगुणत्वस्य भावात्। न च देहावयवगुणा न भवन्ति सर्वथावयवावयविनोर्भेदाभावादित्यसङ्गतम्।

उक्त वार्तिकोंका भाष्य करते हैं कि देहका गुण होनेसे कहीं भी चैतन्यको बहिरङ्ग इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके द्वारा ग्राह्यपनेका प्रसङ्ग नहीं होगा क्योंकि जो जो देह के गुण हैं, वे वे बहिरङ्ग इन्द्रियोंसे ग्राह्य हैं। इस व्याप्तिसे युक्त होरहे उस हेतुका शरीरको बनानेवाले परमाणुओंके रूप, रस आदि गुणोंसे व्यभिचार हो जाता है। देखिये, उन परमाणुओंके रूप आदि गुणोंमें बहिरङ्ग इंद्रियोंसे ग्राह्यपना न होते हुए भी शरीरका गुणपना हेतु विद्यमान है। देहके अवयव माने गये परमाणुओंके जो गुण हैं वे शरीरके गुण नहीं होते हैं यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि अवयव और अवयवीमें सर्व प्रकारोंसे भेद नहीं स्वीकार किया गया है इस प्रकार चार्वाकका कहना पूर्वापरसङ्गतिसे रहित है।

जीवद्देहेऽपि तत्सिद्धेर्व्यवस्थाभावानुषंगात्। तत्र तद्व्यवस्था हि इंद्रियजज्ञानात्स्वसंवेदनाद्वा? न तावदाद्यः पक्षो, बोधस्याबाह्यकरणज्ञानगोचरत्ववचनात् द्वितीयपक्षे तु न बोधो देहगुणः स्वसंवेदनवेद्यत्वादन्यथा स्पर्शादीनामपि स्वसंविदितत्वप्रसङ्गात्।

परमाणुसम्बन्धी रूपके समान यदि चैतन्यको सूक्ष्म अवयवोंका गुण मानोगे तो जीवित शरीरमें भी ज्ञान सिद्ध करनेकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसङ्ग आजावेगा। परमाणु चाहे स्वर्गमें हो या सिद्धलोकमें हो उसके गुण बहिरङ्ग इंद्रियोंसे नहीं जाने जाते हैं। उस जीवित शरीरमें उस चैतन्यकी व्यवस्था क्या आप चार्वाक इंद्रियजन्य ज्ञानसे मानोगे अथवा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे करोगे? बताओ। उनमें पहिला पक्षग्रहण करना तो ठीक नहीं है क्योंकि चैतन्यको बाह्य इंद्रियजन्य ज्ञान का विषय आपने भी नहीं कहा है और दूसरे पक्षमें तो देहका गुण चैतन्य सिद्ध नही होता है। कारण कि वह स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे जानने योग्य है। अन्यप्रकारसे यानी यदि देहके गुणोंको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे वेद्य मानोगे तो स्पर्श, रूप आदि गुणोंका भी स्वसंवेदनप्रत्यक्ष होजानेका प्रसंग आवेगा। रूप, रस आदिकका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आज तक किसीको हुआ नहीं है।

यत्पुनर्जीवत्कायगुण एव बोधो न मृतकायगुणो येन तत्र बाह्येन्द्रियाविषयत्वे जीवत्कायेऽपि बोधस्य तद्विषयत्वमापद्येतेति मतम्, तदप्यसत्, पूर्वोदितदोषानुषङ्गात्।

जैनोंके दूसरे दोष देनेमें चार्वाकका जो फिर यह मन्तव्य है कि हम चैतन्यको जीवित शरीरका ही गुण मानते हैं, मरे हुए शरीरका गुण नहीं, जिससे कि वहां चैतन्यमें बाह्येन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्यता होते हुए जीवित शरीरमें भी ज्ञानको उन बहिरङ्ग इंद्रियोंका विषयपना आपादन किया जाय । भावार्थ—चैतन्यको न हम मृतशरीरका गुण मानते हैं और बहिरङ्ग इंद्रियोंसे ग्राह्य भी नहीं मानते हैं फिर हमारे ऊपर व्यर्थ ही कटाक्ष क्यों किया जाता है ? ग्रंथकार कहते हैं कि चार्वाकोंका जो मंतव्य है वह भी प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि यहां भी पहिले कहे हुए दोषोंका ही प्रसंग आ जाता है अर्थात् चैतन्यकी ज्ञप्ति कैसे भी नहीं, हो सकेगी । आप स्वसंवेदन-प्रत्यक्षको मानते नहीं हैं और बहिरंग इंद्रियोंसे चैतन्य जाना नहीं जाता है । फिर चैतन्यके जानने का आपके पास क्या उपाय है ? बताओ ?

अभ्युपगम्योच्यते ।

चार्वाकके मतको कुछ देरके लिये स्वीकार कर आचार्य कहते हैं कि—

जीवत्कायगुणोऽप्येष यद्यसाधारणो मतः ।
प्राणादियोगवन्न स्यात्तदानीन्द्रियगोचरः ॥ १४१ ॥

चार्वाकसे हम पूछते हैं कि यह चैतन्य क्या जीवित शरीरका असाधारणगुण है, या साधारण गुण है ? बताओ । यह चैतन्य यदि प्राणवायु, इन्द्रिय, वचन और आयुष्य कर्मके संयोगके समान जीवितशरीरका ही अन्यमें न मिल सके ऐसा असाधारण गुण माना है तब तो वह चैतन्य अन्तरंग मन इंद्रियसे ग्राह्य नहीं होना चाहिये क्योंकि भौतिकशरीरके असाधारण कहे गये प्राणवायु, उदराग्नि, लार, शुक्र आदिके संयोगरूप गुण अभ्यन्तर मनके द्वारा गृहीत नहीं होते हैं ।

जीवत्काये सत्युपलम्भादन्यत्रानुपलम्भान्नायमजीवत्कायगुणोऽनुमानविरोधात् किं तर्हि ? यथा प्राणादिसंयोगो जीवत्कायस्यैव गुणस्तथा बोधोऽपीति चेत्, तद्वदेवेन्द्रियगोचरः स्यात् । न हि प्राणादिसंयोगः स्पर्शनेन्द्रियागोचरः प्रतीतिविरोधात् ।

शरीरके जीवित रहनेपर चैतन्य देखा जाता है और इसके अतिरिक्त लोष्ठ या शवमें चैतन्य नहीं देखा जाता है । इस हेतुसे यह चैतन्य मृतकायका गुण नहीं हैं अन्यथा उक्त अनुमानसे विरोध आवेगा, तो क्या है ? इस पर हम चार्वाक कहते हैं कि जैसे प्राण, वचन, हस्त, पित्ताग्नि आदिके संयोग जीवित शरीरकेही गुण हैं उसी प्रकार चैतन्य भी जीवित शरीरका एक असाधारण गुण है । यदि इस प्रकार चार्वाक कहेंगे तो हम जैन कहते हैं कि प्राणवायु, वचन, आदिके संयोगके समान ही चैतन्य भी बाह्य इन्द्रियोंका विषय हो जावेगा मनका विषय

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

न हो सकेगा। देखो! शरीरके असाधारण गुण जो प्राण आदिकके संयोग माने हैं क्या वे स्पर्शन इंद्रियके विषय नहीं है? किंतु अवश्य हैं।

यदि आप प्राणको स्पर्शन इन्द्रियका और वचनको कर्ण इन्द्रियका विषय न मानोगे तो बाल, गोपाल सबसे जानी गयी प्रतीतिसे विरोध होगा। अर्थात् सब कोई शरीरके गुणोंको स्पर्शन आदिक इंद्रियोंसे जान रहे हैं। नाडी चलना, फेफडाकी गति ये क्रियायें भी चक्षु, और स्पर्शनसे जानी जाती हैं।

कश्चिदाह नायं जीवच्छरीरस्यैव गुणस्ततः प्रागपि पृथिव्यादिषु भावादन्यथात्यन्तासतस्तत्रोपादानायोगाद्गगनाम्भोजवत्, साधारणस्तु स्यात्तद्दोषाभावादिति तदसत्।

यहां कोई कहता है कि यह चैतन्य जीवितशरीरका ही असाधारण गुण नहीं है क्योंकि शरीर बनानेके पूर्व भी घट, पट आदिकोंको बनानेवाले पृथ्वी, जल, तेज और वायु तत्त्वोंमें चैतन्य विद्यमान था अन्यथा यानी यदि ऐसा न माना जावे तो आकाशके कमलके समान अत्यंतरूपसे असत् हो रहे चैतन्यका उन पृथ्वी आदिक तत्त्वोंमें उपादानकारणपना न हो सकेगा उपादान कारणोंमें कार्य शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं। हां! जीवितशरीरका चैतन्य अन्यस्थानोंमें भी पाया जावे ऐसा साधारण गुण होय तो इसमें कोई दोष नहीं है। बाह्य इंद्रियोंसे ज्ञात हो जानेका वह प्रसङ्ग तो परमाणुगुणोंके ज्ञात न होनेसे निवारित हो जाता है अतः साधारण गुण माननेपर वह दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार चार्वाकके एकदेशीयका वह कहना भी असत्य है, प्रशंसनीय नहीं है। कारण कि—

साधारणगुणत्वे तु तस्य प्रत्येकमुद्भवः।
पृथिव्यादिषु किन्न स्यात्स्पर्शसामान्यवत्सदा॥ १४२॥

द्वितीय पक्षके अनुसार यदि चैतन्यको शरीरका साधारण गुण मानोगे तब तो साधारण माने गये स्पर्शके समान अकेले अकेले पृथ्वी, जल, आदिमें क्यों नहीं सर्वदा चैतन्यकी उत्पत्ति होती रहेगी? बताओ अर्थात् स्पर्शके समान घट, पट आदिकोंमें भी चैतन्य पैदा हो जावेगा। नैयायिक और चार्वाकके मतानुसार स्पर्श गुण तो चारों भूतोंका सामान्य है शेष गुण ऐसे नहीं हैं। जलमें गंध नहीं, तेजमें रस, गंध नहीं, वायुमें रूप, रस, गंध तीनों भी नही माने हैं।

जीवत्कायाकारेण परिणतेषु पृथिव्यादिषु बोधस्योद्भवस्तथा तेनापरिणतेष्वपि स्यादेवेति सर्वदानुद्भवो न भवेत् स्पर्शसामान्यस्येव साधारणगुणत्वोपगमात्।

जीवित शरीरके आकार करके परिणामको प्राप्त हुए पृथ्वी आदिकमें जैसे ज्ञानकी उत्पत्ति मानते हो, वैसे ही जीवित शरीरस्वरूपसे नहीं परिणमे हुए घट, पट आदि पृथिवीमें भी चैतन्य

उत्पन्न हो जावेगा। इस प्रकार सदा ही चैतन्यकी अनुत्पत्ति नहीं हो सकेगी। आपके मतमें सामान्य स्पर्शके समान चैतन्य भी पृथ्वी आदिकोंका साधारणगुण माना गया है। अर्थात् अकेले अकेले, जल, ज्योतिः, वायु, पट, घट, आदिमें चैतन्य सर्वदा उत्पन्न होता रहेगा। सामान्य गुण तो सर्वदा सम्पूर्ण अवस्थाओंमें पाये जाते हैं।

प्रदीपप्रभायामुष्णस्पर्शस्यानुद्भूतस्य दर्शनात् साध्यशून्यं निदर्शनमिति न शङ्कनीयम्, तस्यासाधारणगुणत्वात्साधारणस्य तु स्पर्शमात्रस्य प्रत्येकं पृथिव्यादिभेदेष्वशेषेषूद्भवप्रसिद्धेः।

यदि चार्वाक यों कहें कि जैनोंके कहे गये जो जो पृथिवी आदिकोंका साधारण गुण है वह एक एकमें भी प्रकट होजाता है जैसे कि स्पर्श। इस अनुमानमें दिया गया स्पर्शदृष्टांत तो साध्यसे रहित है क्योंकि दीपककी फैल रही प्रभामें प्रगटरूप नहीं ऐसा उष्णस्पर्श देखा जाता है। अतः प्रगट होकर रहना रूप साध्य दीपकशिखाकी प्रभाके उष्णस्पर्शमें नहीं रहा। ग्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि दीपककी प्रभाका वह उष्ण स्पर्श असाधारण गुण है। शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, हलका, भारी, नरम, कठोर इन स्पर्शके भेदोंमें साधारणपनेसे व्यापक स्पर्शसामान्य तो सम्पूर्ण पृथिवी आदिकोंके प्रत्येक भेद उपभेदोंमें प्रगट होकर प्रसिद्ध हो रहा है। वह स्पर्शसामान्य दीपककी प्रभामें भी है। यहां दीपकमें तो उष्णस्पर्श प्रगट है ही किंतु उसकी तैजस कांतिमें स्पर्श प्रकट नहीं अतः प्रभाके स्पर्शसे दोष दिया है। उसका समाधान होचुका है।

परिणामविशेषाभावात् न तत्र चैतन्यस्योद्भूतिरिति चेत्, तर्हि परिणामविशिष्टभूतगुणो बोध इत्यसाधारण एवाभिमतः, तत्र चोक्तो दोषः, तत्परिजिहीर्षुणावश्यमदेहगुणो बोधोऽभ्युपगन्तव्यः।

यदि चार्वाक यहां यों कहें कि अकेले पृथ्वी आदिकमें चैतन्यकी उत्पत्तिका कारण माना गया विशेषपरिणाम नहीं है। अतः वहां चैतन्यकी उत्पत्ति या प्रकटता नहीं होती है। तब ऐसा कहनेपर तो चार्वाकोंने विलक्षण परिणामोंको धारण करनेवाले भूतोंका गुण चैतन्य माना। इस तरह चैतन्य असाधारण गुण ही इष्ट किया गया और उसमें हम दोष पहिले ही कह चुके हैं अर्थात् प्राण आदिके संबंध समान चैतन्य भी बहिरङ्ग इंद्रियोंका विषय होजाना चाहिये। उस दोषको दूर करनेकी यदि इच्छा रखते हो तो चैतन्यको देहका गुण नहीं किंतु आत्माका गुण आपको अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

इति न देहचैतन्ययोर्गुणगुणिभावेन भेदः साध्यते येन सिद्धसाध्यता स्यात्, ततोऽनवद्यं तयोर्भेदसाधनम्।

इस प्रकार हम जैनोंने गुण और गुणी स्वरूपसे देह और चैतन्यका भेद नहीं सिद्ध किया है। जिससे कि तुम चार्वाक हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष उठा सको। उस कारण अब तक निर्दोष-

रूपसे यह सिद्ध हो गया कि उन देह और चैतन्यका भिन्नतत्त्वपनेसे भेद है। कार्यकारणभाव या गुणगुणिभाव तथा परिणामपरिणामिभावसे भेद नहीं सिद्ध किया जारहा है। यहांतक पूर्व प्रकरणका थोडा उपसंहार किया है।

किञ्च।

और भी चैतन्य अथवा आत्माको पृथिवी आदि पुद्गलोंसे तथा शरीरसे भिन्न तत्त्वपना सिद्ध करते हैं। सुनिये।

अहं सुखीति संवित्तौ सुखयोगो न विग्रहे।
बहिःकरणवेद्यत्वप्रसङ्गान्नेन्द्रियेष्वपि ॥ १४३ ॥

"मैं सुखी हूं" इस तरहके समीचीनज्ञानमें सुखका सम्बंध शरीरमें नहीं प्रतीत होरहा है। यदि सुखपर्यायका आधार शरीर होता तो बहिरंग इंद्रियोंसे जानेगयेपनका प्रसंग आता है किंतु स्पर्शन चक्षुरादिक इंद्रियोंसे सुख, दुःख आदिक नहीं जाने जाते हैं। तथा वह सुखका अधिकरणपना इंद्रियोंमें भी नहीं देखा जाता है विशेष यह कहना है। क्योंकि पुद्गलकी बनी हुयीं इंद्रियां अतींद्रिय हैं। मुख्य प्रत्यक्षके बिना हम लोग उन इंद्रियोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। जब इंद्रियां ही अतींद्रिय हैं तो उनके गुण भी अतींद्रिय ही होवेंगे किंतु सुख, दुःख आदिकका प्रत्यक्ष होरहा है अतः वे इन्द्रियोंके गुण नहीं है। घनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग आत्माके कर्ण, चक्षुः आदि नियत स्थानोंपर इंद्रियपर्याप्तिनामक पुरुषार्थद्वारा आहारवर्गणासे बनायी गयी बाह्य निर्वृत्ति ही इंद्रिय है। शेष बाह्य अंतरंग उपकरण या अभ्यंतर निर्वृत्ति अथवा भावइंद्रियां तो यहां इंद्रिय नहीं मानी गयी हैं। अन्य दर्शनिकोंके यहां भी मिलती जुलती यही इंद्रिय कही गयी है। दूसरी बात यह है कि इंद्रियोंके नष्ट हो जाने पर भी सुख और दुःखका स्मरण होता है। अतः इंद्रियोंका गुण चैतन्य नहीं है।

कर्त्तृस्थस्यैव संवित्तेः सुखयोगस्य तत्त्वतः।
पूर्वोत्तरविदां व्यापी चिद्विवर्तस्तदाश्रयः ॥ १४४ ॥

जबकि वास्तविकरूपसे सुखका सम्बंध अपने कर्त्ता (आत्मा) में ही स्थित होकर समीचीन रूपसे ज्ञात होरहा है और शरीर तथा इंद्रियोंमें सुखका सम्बंध होना दूषित होचुका है, इस कारण पूर्व और उत्तरकालमें होने वाले ज्ञानोंमें व्यापक रूपसे रहनेवाले चैतन्यद्रव्यका धारापवाहरूपसे परिणत होरहा चैतन्यसमुदाय ही उस सुखगुणका आधार है। अथवा चैतन्य परिणामोंसे परिणमन करनेवाला आत्मा ही "मैं सुखी हूं" इस ज्ञानका अवलम्ब (विषय) है।

स्याद्गुणी चेत् स एवात्मा शरीरादिविलक्षणः ।
कर्तानुभविता स्मर्तानुसन्धाता च निश्चितः ॥ १४५ ॥

यदि सुखगुणका आधारभूत कोई गुणी द्रव्य मानोगे तो वही आत्मा द्रव्य सिद्ध है । जो कि शरीर, इंद्रिय, विषय और पृथ्वी आदिसे सर्वथा विलक्षण है । वही सुख और ज्ञान आदि-पर्यायोंका कर्त्ता है, अनुभव करनेवाला है, और स्मरण करनेवाला है, तथा वही आत्मा एकत्व, सादृश्य आदि विषयोंका आलम्बन लेकर स्वकीयपरिणामोंका प्रत्यभिज्ञान करनेवाला है यह सिद्धांत निर्णीत हो गया है। शरीर इंद्रियोंके रूप, रस आदि गुणोंमें उक्त बातें नहीं पायी जाती हैं । न तो वे स्वयं किसीको स्वतंत्रतासे करते हैं तथा न अनुभवन करते हैं और स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तो वे क्या करेंगे किंतु उक्त कर्त्तव्य होते हुए देखे जाते हैं कि मैं अध्ययन करता हूं, सामायिक करता हूं । तथा स्पर्शन इंद्रियसे जाने हुएका चक्षुः इंद्रियसे प्रत्यभिज्ञान होता है। जिसको मैंने छुआ था, उसीको देख रहा हूं । चक्षुःके नष्ट हो जानेपर भी काले नीले रूपका पीछे स्मरण होता है तथा किसी किसीको पहिले जन्मके अनुभूत विषयका जन्मान्तरमें स्मरण हो जाता है । एवं उसी दिनके पैदा हुए बच्चेको स्तनसे निकला हुआ दूध मेरी इष्ट सिद्धिको करनेवाला है यह ज्ञान होता हुआ देखा जाता है । अतः अनेक युक्तियोंसे अनादि अनंत रहनेवाला आत्मा द्रव्य चार्वाकोंको मान लेना चाहिए । निरर्थक आग्रह करना अनुचित है ॥

सुखयोगात्सुख्यहमिति संवित्तिस्तावत्प्रसिद्धा, तत्र कस्य सुखयोगो न विषयस्येति प्रत्येयं । ततः कर्तृरूपः कश्चित्तदाश्रयो वाच्यस्तदभावे सुख्यहमिति कर्तृस्थसुखसंवित्त्यनुपपत्तेः ।

" मैं सुखी हूं " इस प्रकार की प्रतीति तो सुखगुणके आधारपनेसे प्रसिद्ध हो रही है । वहां पहिले यह बात विचारो या निर्णय करो कि वह सुखका योग किसको है ?, घट, पट, खाद्य, पेय, गहना, गृह आदि भोगोपभोगकी सामग्रीरूप विषयमें तो सुखगुण नहीं रहता है अन्यथा चमचा, कसैंडी आदिको सबसे पहिले स्वादका ज्ञान हो जाना चाहिए । रुपयोंकी प्रभुताकी अधिपति थैली हो जावेगी, मद्यसे बोतल नाचती हुयी नहीं देखी गयी है । तथा शरीर, इंद्रियोंका भी गुण सुख नहीं है । इसको भी सिद्ध कर चुके हैं । इस कारण सुखका कर्त्ता ही कोई उस सुखका आधार कहना चाहिये ।

यदि उस कर्त्ताको आधार न माना जावेगा तो " मैं सुखी हूं " इस प्रकार मैं स्वरूप कर्त्तामें रहनेवाले सुखके आगे लगा हुआ मत्वर्थीय " इन् " प्रत्ययका वाच्य अधिकरणस्वरूप

कर्त्तामें स्थित होकर सुखसंवित्तिकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, अतः मैं सुखी हूं, मैं ज्ञानी हूं, यहां मैंका वाच्य कर्ता चेतन आत्मा ही ज्ञान, सुखोंका आश्रय है। यह मान लेना चाहिये।

स्यान्मतं पूर्वोत्तरसुखादिरूपचैतन्यविवर्तव्यापी महाचिद्विवर्तः कार्यस्येव सुखादिगुणानामाश्रयः कर्त्ता, निराश्रयाणां तेषामसम्भवात्। निरंशसुखसंवेदने चाश्रयाश्रयिभावस्य विरोधात्तस्य भ्रांतत्वासंभवात् बाधकाभावात्तश्च स्वयमनिष्टेश्चेति। तर्हि स एवात्मा कर्त्ता शरीरेन्द्रियविषयविलक्षणत्वात्, तद्विलक्षणोसौ सुखादेरनुभवितृत्वात्, तत्स्मर्तासौ तदनुसन्धातृत्वात्, तदनुसन्धातासौ य एवाहं यत् सुखमनुभूतवान् स एवाहं सम्प्रति हर्षमनुभवामीति निश्चयस्यासम्भवद्बाधकस्य सद्भावात्।

किसीका यह मंतव्य भी हो कि " पूर्व और उत्तर कालोंमें होनेवाले सुख, दुःख, इच्छा, ज्ञानस्वरूप चेतनके परिणामोंमें व्याप्त रहनेवाला सबसे बडा चैतन्यका परिणाम ही सुख आदि गुणोंका अधिकरण होकर कर्ता है जैसे कि वह अन्य जन्म मरण करना, अपने योग्य शरीर आदिको बनानारूप कार्योंका कर्ता है। विना आधारके वे सुख आदिक गुण ठहर नहीं सकते हैं। अकर्मक धातुओंकी शयन, लज्जा, वृद्धि, भय, दीप्ति आदि क्रियाएं कर्त्तामें ही रहती हैं। विना कर्ताके वे कहां रहें? वैसे ही सुख भी कर्ता आत्मामें रहता है "।

" तथा यदि सुखके समीचीन ज्ञानको आधेयपन, क्रियापन और पर्यायपन आदि अंशोंसे रहित माना जावेगा तो इसमें आधार आधेयभाव होनेका विरोध है। इसी कारण सुख आदि गुणोंका आधार वह महाचैतन्य भ्रांतरूप भी नहीं है। क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमाण उत्पन्न नहीं होता है "।

" दूसरी बात यह भी है कि उस महाचैतन्यका भ्रमरूप होना हम या अन्य कोई इष्ट भी नहीं करते हैं " आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे, तब तो वह महाचैतन्य ही (पक्ष) कर्ता-स्वरूप आत्मा है (साध्य) क्योंकि वह शरीर, इंद्रिय, विषयोंसे सर्वथा भिन्न है (हेतु) इस हेतुको सिद्ध करते है कि आत्मा उन शरीर आदिसे विलक्षण है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह सुख, दुःख और ज्ञानका अनुभवन करनेवाला है (हेतु) इस हेतुको भी फिर साध्य करते हैं कि आत्मा (पक्ष) सुखादिकका अनुभव करनेवाला है (साध्य) क्योंकि पीछे उनका स्मरण करता हुआ देखा जाता है। (हेतु) इस हेतुकी पुष्टि सुनिये कि आत्मा (पक्ष) उन सुखादिकका स्मरण करनेवाला है (साध्य , क्योंकि पीछे उन सुख आदिकोंका प्रत्यभिज्ञान करता हुआ जाना जाता है। (हेतु) इस हेतुका भी पोषण इस प्रकार है कि यह आत्मा (पक्ष) उन सुख आदिकका प्रत्यभिज्ञान करता है (साध्य) क्योंकि जो ही मैं पहिले सुखका अनुभवन कर चुका हूं, वही मैं इस समय सुखजन्य प्रसन्नताका अनुभवन कर रहा हूं (हेतु , ऐसा बाधकोंसे रहित निश्चयज्ञान

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विद्यमान है। अनेक सुखोंके समन्वाहार होनेपर पीछे जो प्रसन्नता होती है उसको हर्ष कहते हैं बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे पदार्थका निर्णय हो जाता है। सभी रुपया, गहना, सौंदर्यको कौन दिखाते फिरे ?।

नन्वस्तु नाम कर्तृत्वादिस्वभावश्चैतन्यसामान्यविवर्तः कायादर्थान्तरं सुखादिचैतन्यविशेषाश्रयो गर्भादिमरणपर्यन्तः सकलजनप्रसिद्धत्वात्तत्त्वान्तरम्, चत्वार्येव तत्त्वानीत्यवधारणस्याप्यविरोधात्तस्याप्रसिद्धतत्त्वप्रतिषेधपरत्वेन स्थितत्वात्, न पुनरनाद्यनन्तात्मा प्रमाणाभावादिति वदन्तं प्रति ब्रूमहे।

यहां चार्वाक अब स्मरण और प्रत्यभिज्ञान करनेवाले चिरस्थायी आत्मद्रव्यमें अनुज्ञा करते हुए अपना अंतिम सिद्धांत कह रहे हैं कि जैनोंका माना गया कर्ता, अनुभविता, स्मर्ता और प्रत्यभिज्ञाता आदि वह चैतन्य–सामान्यरूप–परिणामवाला आत्मा शरीरसे भिन्न है, और सुख, ज्ञान, इच्छा आदि विशेष चैतन्योंका आश्रय है। ऐसे स्याद्वादियोंके माने हुये आत्माको हम भी इष्ट कर लेंगे। किंतु वह जन्म–जन्मांतरों तक ठहरनेवाला नहीं है। गर्भसे लेकर मरणपर्यंत ही स्थिर रहता है। गर्भकी आदिमें सर्वथा असत् माने गये चैतन्यका विना उपादान कारणोंके केवल सहकारी कारणोंसे ही शब्दके समान उत्पाद होजाता है और मरणपर्यंत एक दीपकसे उत्तरवर्ती दूसरे दीपकोंके समान उपादान उपादेयभावसे अनेक चैतन्य उत्पन्न होते रहते हैं। अंतमें मरते समय उस चैतन्यका दीपकके बुझनेके समान आमूलचूल सत्का विनाश हो जाता है, यह बात संसारके सर्व ही बालगोपालोंमें प्रसिद्ध है। अत्यंत प्रेमी और लोभी जीव भी मरनेके बाद लौट कर अपने प्रिय पुत्र, स्त्री और धनको नहीं सम्हालते हैं। राजा, महाराजा, सम्राट् भी मरनेके पीछे फिर लौटते हुए नहीं देखे गये हैं। इस कारण गर्भसे मरणपर्यंत ही चेतन आत्मा है। वह पृथिवी आदिकोंसे भिन्न तत्त्व है। उसको हम पांचवां स्वतंत्र तत्त्व इस लिये नहीं कहते हैं कि पृथिवी आदि तत्त्वोंके समान वह अनादि अनंत नहीं है किंतु उस चैतन्यको हम पृथिवी आदिक जड पदार्थोंमें भी गर्भित नहीं करते हैं। अतः एक प्रकारसे थोडी देर ठहनेवाला वह चैतन्य भिन्न तत्त्व भी है। एतावता "पृथ्वी, अप्, तेज, वायु ये चार ही तत्त्व हैं" इस नियम करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। वह चार तत्त्वोंका नियम करना तो सर्वथा प्रसिद्ध नहीं ऐसे आकाश, काल, मन, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, सामान्य, शक्ति, प्रेत्यभाव आदि तत्त्वोंके निषेध करनेमें तत्पर होकर स्थित होरहा है। किंतु फिर गर्भसे मरणपर्यंत ठहरे हुए सम्पूर्ण जीवोंमें प्रसिद्ध होरहे इन चेतन आत्माका वह नियम निषेध नहीं करता है। हां ! अनादिसे अनंत–कालतक माना गया जैनोंका आत्मा कोई तत्त्व नहीं है। ऐसे आत्माको सिद्ध करनेवाला तुम्हारे पास कोई प्रमाण भी नहीं है। इस प्रकार कहते हुए चार्वाकके प्रति अब हम जैन गौरवान्वित होकर अपने इस सिद्धांतको प्रमाणसहित अच्छी तरह स्पष्ट कर कहते हैं।

द्रव्यतोऽनादिपर्यन्तः सत्त्वात् क्षित्यादितत्त्ववत् ।
स स्यान्न व्यभिचारोऽस्य हेतोर्नाशिन्यसम्भवात् ॥ १४६ ॥
कुम्भादयो हि पर्यन्ता अपि नैकान्तनश्वराः ।
शाश्वतद्रव्यतादात्म्यात्कथञ्चिदिति नो मतम् ॥ १४७ ॥

वह आत्मा (पक्ष) द्रव्यरूपकरके अनादि कालसे अनन्त कालतक ठहरनेवाला है (साध्य) क्योंकि वह सत्पदार्थ है (हेतु) जैसे कि चार्वाकोंने पृथ्वी आदि तत्त्वोंको अनादि अनन्त माना है । (अन्वयदृष्टान्त) एकान्तरूपसे नाश होनेवाले पदार्थमें सत्त्व हेतुका विद्यमान रहना सम्भव नहीं है । अतः इस हेतुका कोई व्यभिचार दोष नहीं है अर्थात् एकांतसे सर्वथा नाश होनेवाला कोई पदार्थ संसारमें है ही नहीं, तब वहां सत्त्व हेतु कैसे रहेगा ?, जो घट, पट, पुस्तक, गृह आदि पदार्थ नाशको प्राप्त हो रहे देखे जाते हैं वे भी एकांतरूपोंसे नष्ट नहीं हो रहे हैं क्योंकि सर्वथा स्थित रहनेवाले पुद्गलद्रव्यसे उनका कथञ्चित् तादात्म्यसम्बन्ध हो रहा है । इस प्रकार हम स्याद्वादियोंका माना गया सिद्धान्त है। अतः घट आदिकमें सत्त्व हेतु गया और पुद्गलद्रव्यपनेसे अनादि अनंतपनरूप साध्य भी ठहर गया अतः व्यभिचार नहीं है ।

यथा चानादिपर्यन्ततद्विपर्ययरूपता ।
घटादेरात्मनोऽप्येवमिष्टा सेत्यविरुद्धता ॥ १४८ ॥
सर्वथैकान्तरूपेण सत्त्वस्य व्याप्त्यसिद्धितः ।
बहिरन्तरनेकान्तं तद्व्याप्नोति तथेक्षणात् ॥ १४९ ॥

तथा जैसे घट, पट आदिकोंको द्रव्यार्थिक नयसे अनादि अनंतपना है और पर्यायार्थिक नयसे उससे विपरीत यानी सादि सान्तपना है । वैसे ही आत्माको भी वह अनादि अनंतपन और सादि सांतपन हम इष्ट करते हैं । इस प्रकार हमारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है । सर्व प्रकारसे एक ही नित्यपने या अनित्यपने धर्मके साथ सत्त्वहेतुकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है । घट, पट आदिक बहिरंग पुद्गल पदार्थ और ज्ञान, इच्छा, सहित आत्मारूप अंतरंग पदार्थोंमें विद्यमान हो रहा वह सत्त्वहेतु नित्य अनित्यरूप अनेकांतधर्मोंके साथ व्याप्ति रखता है । जैसा ही संपूर्ण जनोंको दीख रहा है ।

द्रव्यार्थिकनयादनाद्यन्तः पुरुषः सत्त्वात् पृथिव्यादितत्त्ववदित्यत्र न हेतोरनैकान्तिकत्वं प्रतिक्षणविनश्वरे क्वचिदपि विपक्षेऽनवतारात् ।

मार्गदर्शक - आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

उक्त वार्तिकोंका विवरण करते हैं कि वस्तुके नित्य अंशको जाननेवाले द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा अनाद्यनंत है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह पृथिवी आदिक तत्त्वोंके समान (दृष्टांत) चिरकालवर्ती होकर सद्रूप है, (हेतु) यहां इस अनुमानमें कहा गया हेतु व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि बौद्धोंसे कल्पित किये गये किसी भी प्रतिक्षणमें नष्ट होनेकी टेववाले विपक्षमें सत्त्व हेतु नहीं रहता। भावार्थ—एक क्षणमें नष्ट होनेवाला बौद्धोंका माना गया कोई पदार्थ है ही नहीं, भला खरविषाणमें सत्त्व हेतु कैसे रहेगा ?। वहां हेतु नहीं उतरता है ॥

कुम्भादिभिः पर्यायैरनेकान्त इति चेन्न, तेषां नश्वरैकान्तत्वाभावात्। तेऽपि हि नैकान्तनाशिनः, कथञ्चिन्नित्यद्रव्यतादात्म्यादिति स्याद्वादिनां दर्शनम्, " नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा, क्षणिकं कालभेदात्ते बुध्यसंचरदोषतः " इति वचनात्।

कुछ देरतक ठहरकर नष्ट होनेवाले घट, बिजली, बुदबुद, इंद्रधनुष आदि पर्यायोंसे जैनोंका सत्त्व हेतु व्यभिचारी है। यह चार्वाकोंका कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि उन घट, बिजली आदि का सर्वथा एक अनित्य धर्मके आग्रहसे बौद्ध मतानुसार एक क्षणमें ही नाश नहीं होजाता है। वे बिजली आदि भी एकांत रूपसे नाशस्वभाववाले नहीं हैं क्योंकि वे किसी अपेक्षासे नित्य पुद्गल द्रव्यके साथ स्यात् एकम एक होरहे हैं। भावार्थ—द्रव्यका पर्यायोंसे अभेद है। शक्तिरूपसे पर्यायें द्रव्यमें सर्वदा विद्यमान हैं। यह स्याद्वादियोंका दार्शनिक सिद्धांत है। पूज्यचरण श्रीसमंतभद्र स्वामीने देवागम स्तोत्रमें यों प्रामाणिक वचन कहा है कि स्याद्वादन्यायके नायक तुम अर्हंत भगवान्के मतमें वे सम्पूर्ण जीव आदिक तत्त्व (पक्ष) कथञ्चित् नित्य ही हैं (साध्य) क्योंकि यह वही है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके विषय हैं। (हेतु) यह प्रत्याभिज्ञान यों ही विना किसी कारणके नहीं होजाता है। इस प्रत्यभिज्ञानका कारण वह कालांतरस्थायी द्रव्य ही मूल भित्ति है। इस प्रत्यभिज्ञानका कोई बाधक नहीं है। अतः अन्वयका विच्छेद भी नहीं होता है अथवा द्रव्यरूपसे मध्यमें व्यवधान न होनेके कारण वह एकत्वप्रत्यभिज्ञान समीचीन है।

यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय विच्छेदरहित नित्यद्रव्य पदार्थ नहीं माना जावेगा तो बुद्धिका संचार भी न होगा। भावार्थ—अन्वयसहित पूर्वबुद्धिका नाश हो जानेसे दूसरी बुद्धियोंकी उत्पत्ति न हो सकेगी, बुद्धिके पूर्वपरिणाम ही उत्तरपरिणामरूप न हो सकेंगे। तथा सम्पूर्ण पदार्थ एक क्षण ठहरकर द्वितीयक्षणमें नष्ट हो जाते हैं क्योंकि भिन्न भिन्न पर्यायोंका काल न्यारा न्यारा है। जिन भावोंका काल भिन्न भिन्न है वे अवश्य पर्यायदृष्टिसे क्षणिक हैं, यदि कालभेद न माना जावेगा तो भी बुद्धिका दूसरी बुद्धिरूप संचार न होसकेगा, कूटस्थ एकरूप बनी रहेगी सुवर्णके कडेको बिगाडकर बरा बनानेमें सुवर्णरूपसे नित्यपना और कडे, बरा आदिरूपसे अनित्यपना प्रसिद्ध है।

नन्वेवं सर्वस्यानादिपर्यततासादिपर्यततास्यां व्याप्तत्वात् विरुद्धता स्यादिति चेन्न, आत्मनोऽनैकांतानादिपर्यततायाः साध्यत्ववचनात्, यथैव हि घटादेरनाद्यनंतेतररूपत्वे सति सत्त्वं तथात्मन्यपीष्टमिति क विरुद्धत्वम् ।

यहां चार्वाक शंका करते हैं कि इस तरह सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वहेतुकी अनादि अनंत और सादि सांतपनेसे व्याप्ति सिद्ध हुयी तो अकेले अनादि अनंत सिद्ध करनेमें दिया गया आप जैनोंका सत्त्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास हो जायगा। आचार्य कहते हैं, कि यह तो चार्वाकोंको नहीं कहना चाहिए क्योंकि आत्माको एकांतरूपसे अनादिअनंतता साध्य नहीं कही गयी है। सादि-सांतपना भी साथमें समझना चाहिए, किंतु वह आपको पहिलेसे इष्ट है ही, इस कारण हमने कण्ठोक्तरूपसे साध्यकोटिमें नहीं डाला है। जिस हि प्रकार कि घट, पट आदिकोंको अनादि अनंत और सादिसांत होनेपर ही सत्त्व रहता है वैसे ही आत्मामें भी अनादि अनंत और सादिसांत होनेपर सत्त्व इष्ट किया है। इस तरह विरुद्ध दोष कहां रहा ! अर्थात् हमारा हेतु विरुद्ध नहीं है—

कथं तर्हि सत्त्वमनेकान्तैकांतेन व्याप्तं येनात्मनोऽनाद्यनन्तेतररूपतया साध्यत्वमिष्यत इति चेत् सर्वथैकांतरूपेण तस्य व्याप्त्यासिद्धेर्बहिरंतश्चानेकांततयोपलम्भात्, अनेकांतं वस्तु सत्त्वस्य व्यापकमिति निवेदयिष्यते ।

प्रतिवादी कहता है कि तब तो बताओ कि जैनोंके मतमें सत्त्व हेतु अनेकांत रूप इकले एकांतके साथ व्याप्ति कैसे रखता है ? जिससे कि आत्माको अनादि अनंत और सादि सांतपनेसे साध्यपना आप जैन इष्ट कर सकें। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि चार्वाक ऐसा कहेंगे तो हम उत्तर देते हैं कि अनादि अनंत और सादि सांतमेंसे सर्वथा एक अकेले धर्मके साथ उस सत्त्वहेतुकी व्याप्ति सिद्ध नहीं है। सम्पूर्ण पुद्गल और आत्मसंबंधी बहिरंग अंतरंग पदार्थ अनेक धर्मोंसे विशिष्ट होरहे ही देखे जाते हैं। अतः अनेक धर्मोंसे सहित होरहा द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही सत्त्वहेतुका व्यापक है। इस बातको और भी अधिकरूपसे अग्रिम ग्रंथमें आपसे निवेदन कर देंगे। अनेकांत भी अनेकांत रूप है अर्थात् अर्पितनयसे एकांत भी हमको इष्ट है। " अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः। अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात् " ऐसा " बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र " में लिखा है।

बृहस्पतिमतास्थित्या व्यभिचारो घटादिभिः ।
न युक्तोऽतस्तदुच्छित्तिप्रसिद्धेः परमार्थतः ॥ १५० ॥

हमारे कथञ्चित् नित्यपनेको सिद्ध करनेवाला सत्त्व हेतुका बृहस्पतिमतके अनुयायी चार्वाकोंकी परिस्थितिसे घट, पट, आदिकों करके व्यभिचार देना युक्त नहीं है क्योंकि वास्तविकरूपसे देखा जाय तो उक्त युक्तिसे उन घट आदिकोंको कथञ्चित् नित्य अनित्यपनास्वरूप उच्छेद प्रसिद्ध हो रहा है। भावार्थ–घट आदिमें नाशके साथ स्थिति देखी जाती है, मृत्तिकाका अन्वय रहता है, रूपवत्त्व, रसवत्त्व बना रहता है। घटको तोड, फोड, पीस और जला दिया जाय फिर भी परमाणुओंको कोई नष्ट नहीं कर सक्ता है। केवल देशसे देशांतर या-स्थानसे स्थानांतर होता रहता है। असंख्य पदार्थ नष्ट होते रहते हैं पैदा होते हैं। किंतु जगत् का बोझ एक रत्तीभर भी घटता बढता नहीं है। सुकाल दुष्काल पडनेपर भी संसारभरको तोलनेवाले कांटोंकी सुई बालाग्र भी हटती नहीं है।

यतश्चैवं परमार्थतो घटादीनामपि नित्यानित्यात्मकत्वं सिद्धं ततो बृहस्पतिमतानुष्ठानेनापि न सत्त्वस्य घटादिभिर्व्यभिचारो युक्तस्तेन तस्यानेकांतेनाबाधितत्वात्।

जिससे कि इस प्रकार घट आदिकोंको भी वस्तुदृष्टिसे नित्य अनित्य स्वरूपपना सिद्ध हो चुका। तभी तो बृहस्पति ऋषिके मतके अनुसार आचरण करनेसे भी सत्त्व–हेतुका घट आदिकोंसे व्यभिचार देना चार्वाकोंको युक्त नहीं है। उस सत्त्व हेतुकी उन नित्य अनित्यरूप अनेक धर्मोंके साथ व्याप्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है।

न च प्रमाणासिद्धेन परोपगममात्रात् केनचिद्धेतोर्व्यभिचारचोदने कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात्। वादिप्रतिवादिसिद्धेन तु व्यभिचारे न सत्त्वं कथञ्चिदनादिपर्यन्तत्त्वे साध्ये व्यभिचारीति व्यर्थमस्याहेतुकत्वविशेषणं अहेतुकत्वस्य हेतुकत्वे सत्त्वविशेषणवत्।

केवल दूसरोंके मनमाने तत्त्वोंके स्वीकार कर लेनेसे प्रमाणों करके नहीं सिद्ध हुए चाहे किसी भी पदार्थके द्वारा सच्चे हेतुमें यदि व्यभिचार नामक कुचोद दिया जावेगा तो ऐसी दशामें कोई भी हेतु अव्यभिचारी न हो सकेगा। वह्निमान् धूमात् " यह प्रसिद्ध हेतु भी सरोवरमें निकलती हुयी भापको धुआं समझनेवाले भ्रांतपुरुषके द्वारा व्यभिचारी बना दिया जा सकेगा। इस पोलको हटानेके लिये वादी और प्रतिवादियोंसे प्रसिद्ध स्थल करके हेतुको व्यभिचार देना न्याय्य होगा, तथा च हमारा इष्ट किया सत्त्वहेतु तो पदार्थोंको कथञ्चित् अनादि अनंत सिद्ध करनेमें व्यभिचारी नहीं है। यों फिर नित्य सिद्ध करनेके लिये इस सत्त्वहेतुमें अहेतुकपनारूप विशेषण देना व्यर्थ है। भावार्थ–नैयायिक, चार्वाक और मीमांसकोंने घट और प्रागभावमें अतिव्याप्तिको दूर करते हुए " सदकारणवन्नित्यं " यह नित्य पदार्थका लक्षण किया है अर्थात् जो सत् विद्यमान होकर अपने बनानेवाले कारणोंसे रहित है, वह नित्य है। घट सत् है, अकारणवान् नहीं क्योंकि

घटको बनानेवाले मट्टी कुम्हार आदि कारण हैं । प्रागभाव अकारणवान् है सत् नहीं अतः नित्यका लक्षण अकारणवान् होकर सत्पना माना है । किंतु जब सर्व ही पदार्थ द्रव्य और पर्याय-स्वरूपसे नित्य अनित्य रूप हैं तो अहेतुकत्व विशेषण व्यर्थ पडता है । जैसे कि अकेले अहेतुकपना यानी " नहीं है बनानेवाला कारण जिसका " इस लक्षणसे ही जब नित्य पदार्थ लक्षित हो जावेगा अथवा अहेतुकत्वको हेतु मान लेनेसे ही नित्यपना सिद्ध हो जावेगा तो उसमें सत्त्वविशेषण व्यर्थ है । भावार्थ—दोनोंमेंसे सत्त्व या अहेतुकपना एक ही नित्यपनेका लक्षण माना जावे व्यर्थ दूसरा पुंछल्ला क्यों लगाया जाता है ? ।

प्रागभावेन व्यभिचारः सत्त्वविशेषणेन व्यवच्छिद्यत इति न तद्व्यर्थमिति चेत्, न, सर्वस्य तुच्छस्य प्रागभावस्याप्रसिद्धत्वात्, भावान्तरस्य भावस्य नित्यात्मकत्वाद्विपक्षतानुपपत्तेस्तेन व्यभिचारासम्भवात्, ततो युक्तं सत्त्वस्याविशेषणस्य हेतुत्वमहेतुकत्ववदिति, ततो भवत्येव साध्यसिद्धिः ।

यहां नैयायिक और चार्वाकोंका कहना है कि नित्यके अकेले अहेतुकत्व लक्षण करनेसे प्रागभाव करके व्यभिचार हो जावेगा, देखो प्रागभाव विना किसी कारणसे उत्पन्न हुआ अनादि कालसे चला आरहा है किंतु वह प्रागभाव सांत है कार्यके उत्पन्न होजानेपर नष्ट हो जाता है । अतः वह त्रिकालवर्ती नित्य नहीं है और जब हमने नित्यके लक्षण या हेतुमें सत्त्वरूप विशेषण दे दिया, तब अभावरूप प्रागभावमें अतिव्याप्ति नहीं हुयी। अतः सत्त्वविशेषण देना व्यर्थ नहीं है । आचार्य कहते हैं कि नैयायिकोंका यह कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि बौद्ध, जैन, मीमांसक आदि सबके मतमें धर्म धर्मी, कार्यकारण आदि स्वभावोंसे रहित होरहा ऐसा तुम्हारा माना हुआ उपारव्यारहित तुच्छ प्रागभाव प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हैं वह अश्वविषाणके समान असत् है । हां पूर्वपर्यायस्वरूप दूसरे भावोंके स्वभाववाला अन्यभावरूप प्रागभाव हम सबने इष्ट किया है । वह प्रागभाव नित्य अनित्यात्मक भी है। हेतु रह गया तो साथ ही साध्य भी ठहर गया अतः यह प्रागभाव तो सपक्ष है इसको विपक्षपना सिद्ध नहीं है । विपक्षमें हेतु रहता तो व्यभिचारकी सम्भावना थी, सपक्ष होरहे उस प्रागभावमें हेतुके रहनेसे व्यभिचार नहीं है प्रत्युत हेतु पुष्ट होगया इस कारणसे अहेतुकत्वविशेषणसे रहित केवल सत्त्वको ही अनादि अनंत सिद्ध करनेमें हेतु बनाना हमारा बहुत ठीक समुचित प्रयत्न है । घटादिक भी द्रव्यरूपसे नित्य हैं । जैसे कि सत्त्वविशेषणसे रहित केवल अहेतुकपना रूप हेतुसे नित्यपना सिद्ध होजाता है । नहीं है हेतु जिसका ऐसे बहुव्रीहि समासमें क प्रत्यय करनेपर पर्युदासवृत्तिसे अहेतुकका अर्थ द्रव्य नित्य ही होता है । समवायी कारण या पूर्व पर्याय पिण्डस्वरूप प्रागभाव भी कथञ्चित् नित्य है । इस प्रकार उस रिक्त सत्त्वहेतुसे प्रकरणमें पडे हुए अनादि अनंतरूप साध्यकी सिद्धि हो ही जाती है ।

साध्यसाधनवैकल्यं दृष्टान्तेऽपि न वीक्ष्यते ।
नित्यानित्यात्मतासिद्धेः पृथिव्यादेरदोषतः ॥ १५१ ॥

सत्त्व हेतुवाले अनुमानमें दिये गये पृथिव्यादि तत्त्वरूप दृष्टांतमें साध्य और साधनसे रहितपना भी नहीं देखा जाता है क्योंकि पृथिवी, जल आदिको निर्दोषरूपसे नित्य अनित्यात्मकपना सिद्ध हो रहा है अथवा "अशेषतः पाठ रक्खा जाय" अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी, घट आदिक पदार्थोंको नित्य अनित्यपना प्रसिद्ध हो रहा है ।

न ह्येकांतानाद्यनन्तत्वमन्तस्तत्त्वस्य साध्यं येन पृथिव्यादिषु तदभावात् साध्यशून्यमुदाहरणम्, नापि तत्र सत्त्वमसिद्धं यतः साधनवैकल्यम्, तदसिद्धौ मतान्तरानुसरणप्रसङ्गात् ।

एक सौ छ्यालीसवीं वार्त्तिकमें हम केवल अंतरङ्ग तत्त्व माने गये आत्माको ही एक अनादि अनंतरूप धर्मसे सहितपना साध्य नहीं करते हैं जिससे कि पृथिवी आदिकोंमें उस धर्मके न रहनेसे उदाहरण साध्यसे रहित होजाता । भावार्थ—अपि तु पृथिवी आदिमें भी आत्माके समान अनादि अनंतपना विद्यमान है यों मानते हैं । तथा उन पृथ्वी आदिकोंमें सत्त्व हेतु भी असिद्ध नहीं है । जिससे कि हमारा दृष्टान्त साधनसे रहित हो जाता । दृष्टान्तमें ही जब उन साध्यसाधनकी सिद्धि नहीं हो सकेगी तो हमें दूसरे नैयायिक और चार्वाकोंके मतोंके अनुकूल चलनेका प्रसङ्ग आता अर्थात्—हमको भी आत्माको कूटस्थ नित्य और घट आदिकको सर्वथा अनित्य माननेको बाध्य होना पडता, किन्तु जब हमारा सत्त्वहेतु तथा साध्य दोनों दृष्टान्त और पक्षमें विद्यमान हैं ऐसी दशामें नैयायिक और चार्वाकोंको हमारा सिद्धांत माननेके लिये अगत्या बाध्य होना पडता है ।

ततोऽनवद्यमनाद्यनन्तत्वसाधनमात्मनस्तत्त्वान्तरत्वसाधनवत् ।

उस कारणसे अब तक आत्माको भिन्नतत्त्वपना सिद्ध करनेके समान अनादि अनंतपना सिद्ध करना भी निर्दोषरूपसे सम्पन्न हो चुका है । यहां तक चार्वाकका खण्डन करनेके लिये प्रारम्भ किये गये प्रकरणका उपसंहार कर दिया गया है । श्रीविद्यानन्द स्वामी इसके आगे बौद्धमतका विचार चलाते हैं ।

सत्यमनाद्यनन्तं चैतन्यं सन्तानापेक्षया न पुनरेकान्वयिद्रव्यापेक्षया क्षणिकचित्तानामन्वयानुपपत्तेरित्यपरः सोऽप्यनात्मज्ञस्तदनन्वयत्वस्यानुमानबाधितत्वात् । तथा हि—

यहां नैयायिकोंसे भिन्न दूसरा बौद्धमतानुयायी कहता है कि वह चैतन्य अपने पूर्वापर कालमें होनेवाले परिणामोंकी धारापवाहरूप संतानकी अपेक्षासेही अनादि कालसे अनंत कालतक

अनुयायी है यह सच है। किन्तु फिर आप जैनोंके मतानुसार ध्रुवरूपसे अन्वय रखनेवाले एक-द्रव्यकी अपेक्षासे चैतन्य अनादि अनंत कालतक ठहरने वाला नहीं है क्योंकि एक क्षणमें उत्पन्न होकर द्वितीय क्षणमें नष्ट होनेवाले विज्ञानरूप आत्माओंका उसी स्वरूपसे अन्वय चलना सत्य सिद्ध नहीं है। जैसे कि गंगाका पानी जलबिन्दुओंका समुदाय है। वहका वही एक बिंदु तो कानपुर, प्रयाग, बनारस, कलकत्ता, आदि देशोंमें अन्वित नहीं है। हां! धारारूपसे उपचार स्वरूप ध्रुव भले ही कहलो। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेवाला वह बौद्ध भी आत्मतत्त्वके मर्मको नहीं जाननेवाला है, कारण कि आत्मद्रव्यका पूर्वापर-पर्यायोंमें अन्वय न रहनापनकी इस भविष्य अनुमानसे बाधा आती है। इसी बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं। चित्त लगाकर सुनिये।

एकसन्तानगाश्चित्तपर्यायास्तत्त्वतोऽन्विताः।
प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् मृत्पर्याया यथेदृशाः ॥ १५२ ॥

आपके माने गये एक संतानमें प्राप्त हुए चित्त (आत्माके) सम्पूर्ण परिणाम (पक्ष) परमार्थरूपसे एक दूसरेमें अन्वित होरहे हैं (साध्य) क्योंकि यह वही है इस प्रकार वे प्रत्यभिज्ञान के विषय हैं। (हेतु) जैसे कि शिवक, स्थास, कोष, कुशूल और घट पर्यायोंमें यह वही मृत्तिका है इस तरह प्रत्यभिज्ञानका विषयपना है। (अन्वय दृष्टांत) भावार्थ—घूमते हुए चाकपर रखे हुए मिट्टीके लोंदेको शिवक कहते हैं और वहां कुलालके हाथसे फैलाई हुयी उस मिट्टीको स्थास कहते हैं। अंगुलियोंसे मिट्टीको किनारेकी ओरसे ऊपरकी तरफ उठानेको कोष कहते हैं और ओखलीके समान किनारोंका ऊपर उठना कुशूल कहलाता है। पीछे ग्रीवा, पेटके बन जाने पर वही मिट्टी घडा बन जाती है। इन संपूर्ण पर्यायोंमें मिट्टीपना स्थिर है। इसी प्रकार बालक, कुमार, युवा, अर्धवृद्ध और वृद्ध अवस्थाओंमें वही एक देवदत्त है। यहांतक कि देव, मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च आदि अनेक जन्मांतरोंमें भी वही देवदत्त की एक आत्मा ओतप्रोत होकर अनुष्ठान कर रही है।

मृत्क्षणास्तत्त्वतोऽन्विताः परस्परासिद्धा इति न मंतव्यं तत्रान्वयापह्नवे प्रतीतिविरोधात्, सकललोकसाक्षिका हि मृद्भेदेषु तथान्वयप्रतीतिः सैवेयं पूर्वं दृष्टा मृदिति प्रत्यभिज्ञानस्याविसंवादिनः सद्भावात्।

मिट्टीके पूर्व, अपर, कालमें होनेवाले सम्पूर्ण स्थान आदि परिणाम परस्पर (आपस) में वास्तविक रूपसे अन्वित होरहे हैं। यह बात दूसरे विद्वान् यानी बौद्धोंको असिद्ध है यह नहीं मानना चाहिये क्योंकि मिट्टीके उन पूर्व अपर विकारोंमें स्थूल पर्यायरूप मृत्तिकापनसे अन्वय होनेको यदि चुराओगे तो संसारमें प्रसिद्ध होरहीं प्रतीतियोंसे विरोध होगा। मिट्टीकी भिन्न भिन्न

पर्यायोंमें गवाहीरूपसे सम्पूर्ण जनोंके सन्मुख उस प्रकार अन्वयकी प्रतीति हो रही है कि यह वही मिट्टी है, जो हमने पहिले देखी थी। इस प्रकार सफल प्रवृत्तिको करनेवाला अविसंवादी बाधारहित प्रत्यभिज्ञाप्रमाण यहां विद्यमान है। नहीं तो मट्टीका बनाया हुआ घडा चांदीका बन बैठता और चांदीसोनेका कलश तो मट्टीका मढका तैयार हो जाता। गेहूंके आटेकी रोटी चनेकी नहीं बन जाती है यों पहिली पिछली अवस्थाओंमें अन्वय बना रहना अवश्य मानना चाहिये।

सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं नानासन्तानभाविनाम्।
भेदानामिव तत्रापीत्यदृष्टपरिकल्पनम् ॥ १५३ ॥

यहां बौद्ध कहते हैं कि जैसे कभी कभी देवदत्त, जिनदत्त, वीरदत्त आदि भिन्न भिन्न संतानोंमें सदृशताके होनेसे यह वही है, ऐसा उपचारसे एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान हो जाता है अथवा नाना मिट्टीके डेलोंमेंसे बदलकर बने हुए घडोंमें भी यह उसी मिट्टीका घडा है। ऐसा एकपनेको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान सादृश्यको कारण मानकर हो जाता है। वैद्यजी यह वही चूर्ण है जो कि कल आपने दिया था, उसी प्रकार एक संतानमें रहनेवाली उन भिन्न पर्यायोंमें भी अधिक सदृशताके बलसे द्रव्यरूपसे अन्वय न माननेपर भी एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त प्रकारसे बौद्धोंका मानना नहीं देखे हुए पदार्थकी यहां वहांसे गढकर केवल कल्पना करना है।

यथा नानासंतानवर्तिनां मृद्भेदानां सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञायमानत्वं तथैकसन्तानवर्तिनामपीति ब्रुवतामदृष्टपरिकल्पनामात्रं प्रतिक्षणं भूयात्तथा तेषामदृष्टत्वात्।

जिस प्रकार विज्ञानस्वरूप अनेक देवदत्त, जिनदत्तरूप संतानोंमें वर्तनेवाले या स्थास आदिमें ओतप्रोत रहनेवाली मिट्टीके विशेषोंकी सदृशतासे एकत्व प्रत्यभिज्ञानकी विषयता है। उसी प्रकार एक संतानमें रहनेवाली भिन्न भिन्न ज्ञानपर्यायोंमें भी सदृशताके कारण उपचारसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो गया है ऐसे कहनेवाले बौद्धोंको प्रत्येक समयमें नवीन नवीन बदलते हुए तथा नहीं देखे हुए पदार्थकी केवल कल्पना करनेका प्रसंग होगा। क्योंकि जैसे बौद्ध मान रहे हैं उस प्रकार पदार्थोंका क्षणक्षणमें सर्वथा नाश होकर दूसरे सदृश अन्य पदार्थोंका नवीन रीतिसे उत्पाद होना देखा नहीं जाता है।

तदेकत्वमपि न दृष्टमेवेति चेन्नैतत्सत्यम्।

यदि बौद्ध यों कहें कि पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंमें एकपना भी तो नहीं देखा गया है इस प्रकार यह उनका कहना तो सच्चा नहीं है क्योंकि—यह परार्थानुमान सुनिये।

तदेवेदमिति ज्ञानादेकत्वस्य प्रसिद्धितः ।
सर्वस्याप्यस्खलद्रूपात् प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिवत् ॥ १५४ ॥

संपूर्ण प्राणियोंको समीचीन प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञानसे पूर्व अपर पर्यायोंमें एकपना प्रसिद्ध हो रहा है क्योंकि यह वही है इस प्रकार अविचलित स्वरूप प्रत्यभिज्ञान ठीक है। जैसे कि संशय, विपर्ययसे रहित हो रहे प्रत्यक्षके द्वारा घट, पट आदिकोंमें सबको भेद की सिद्धि होना बौद्ध मानते हैं। भावार्थ—प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय एकपना यथार्थ है।

यथैव हि सर्वस्य प्रतिपत्तुरर्थस्य चास्खलितात्प्रत्यक्षाद्भेदसिद्धिस्तथा प्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धिरपीति दृष्टमेव तदेकत्वम्।

जैसे कि प्रमिति करनेवाले सम्पूर्ण जीवोंको संशय, विपर्ययसे रहित हो रहे प्रमाणस्वरूप प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आदिसे भेदकी निश्चयात्मक सिद्धि हो रही है। वैसे ही प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदिसे पूर्व, उत्तर कालमें होनेवाली पर्यायोंमें कथञ्चित् एकपना भी सिद्ध हो रहा है। इस कारण वह एकत्व प्रमाणोंके द्वारा निर्णीत ही है। कल्पना किया हुआ नहीं है।

प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं संवादनाभावादिति चेत्, प्रत्यक्षमपि प्रमाणं माभूत् तत एव, न हि प्रत्यभिज्ञानेन प्रतीते विषये प्रत्यक्षस्यावर्तमानात्तस्य संवादनाभावो न पुनः प्रत्यक्षप्रतीते प्रत्यभिज्ञानस्याप्रवृत्तेः प्रत्यक्षस्येत्याचक्षाणः परीक्षको नाम।

यदि बौद्ध यों कहें कि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें दूसरे प्रत्यक्ष प्रमाणोंकी प्रवृत्तिरूप संवाद नहीं होनेके कारण हेतु प्रत्यभिज्ञान (पक्ष) प्रमाण नहीं है (साध्य) यों तो बौद्धोंके मतमें प्रत्यक्ष भी प्रमाण न हो सकेगा, क्योंकि उस ही कारणसे, यानी क्षणिकपदार्थको जाननेवाले निर्विकल्पकप्रत्यक्षके विषयमें दूसरे प्रमाणोंका प्रवृत्त होना रूप संवादन नहीं पाया जाता है। आपने माना भी नहीं है तभी तो आपने प्रमेयके भेदसे प्रमाणका भेद माना है। प्रत्याभिज्ञानके द्वारा जाने हुए एकत्वमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति न होनेसे प्रत्यभिज्ञानको तो संवादकपनेका अभाव मान लिया जावे, किंतु फिर प्रत्यक्षसे बढियां जाने हुए स्वलक्षण या क्षणिकत्वमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति न होनेसे प्रत्यक्षको संवादकपनेका अभाव न माना जावे, ऐसा कह रहा बौद्ध परीक्षक कैसे भी नहीं कहा जासकता है। वह स्वमंतव्यका कोरा पक्षपाती है।

न प्रत्यक्षस्य स्वार्थे प्रमाणांतरवृत्तिः संवादनम्, किं तर्हि ? अबाधिता संविच्चिरिति चेत्।

बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्षका अपने विषयमें दूसरे प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना रूप संवादन नहीं माना है तब तो क्या माना है ? सो सुनिये ! बाधाओंसे रहित समीचीनज्ञप्ति होजाना ही प्रत्यक्षका संवादन है आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो—

यथा भेदस्य संवित्तिः संवादनमबाधिता ।
तथैकत्वस्य निर्णीतिः पूर्वोत्तरविवर्तयोः ॥ १५५ ॥

जैसे घट, पट, देवदत्त, जिनदत्त आदि विशेषोंको जाननेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणमें बाधक प्रमाणोंसे रहित प्रमिति होना स्वरूप ही संवादन माना जाता है वैसे ही शिवक, स्थास आदि या बाल, कुमार, युवा आदि पहिले, पीछे होने वाली अनेक अवस्थाओंमें भी द्रव्यरूपसे एकपनेका निर्णय हो रहा है।

कथं पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वस्य संवित्तिरबाधिता या संवादनमिति चेत्, भेदस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः ।

यदि बौद्ध यों कहें कि पूर्व उत्तरवर्ती भिन्न पर्यायोंमें वर्तनेवाले एकपनेका निर्णय भला बाधारहित होकर कैसे उत्पन्न होगा ? जो कि संवादन कहा जावे ऐसा कहनेपर हम जैन भी बौद्धोंसे पूंछते हैं कि अन्वितरूपसे रहनेवाले पूर्व अपर परिणामोंमें सर्वथा भेदका निर्णय भी बाधा-रहित कैसे होगा ? बताओ, इस प्रकार हमारा भी प्रश्नरूप कटाक्ष आपके ऊपर समानरूपसे लागू होता है। जैसा कहोगे वैसा सुनोगे।

तस्य प्रमाणांतरत्वादतद्विषयेण बाधनासम्भवादबाधिता संवित्तिरिति चेत् तर्ह्येकत्वस्य प्रत्यभिज्ञानविषयत्वस्याध्यक्षादेरगोचरत्वात्तेन बाधनासम्भवादबाधिता संवित्तिः किन्न भवेत् ?

यदि बौद्ध इस कटाक्षका उत्तर यों देंगे कि वस्तुभूत विशेषस्वरूप भेदोंको जाननेवाला वह प्रत्यक्ष प्रमाण स्वतंत्र न्यारा है। भेदके जाननेमें प्रत्यक्षकी ही प्रवृत्ति है। दूसरे प्रमाण जब भेदको विषय नहीं करते हैं तो भेदको जाननेमें प्रत्यक्षके बाधक क्या हो सकेंगे ? उसको विषय नहीं करनेवाले ज्ञान करके बाधा देना असम्भव है। इस कारण दूसरे प्रमाणोंसे बाधारहित होकर भेदकी भली ज्ञप्ति हो जाती है और प्रत्यक्षप्रमाण संवादी बन जाता है यदि वे ऐसा कहेंगे तब तो हम जैन भी कहते हैं कि नित्यपनेको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानके एकत्वस्वरूप विषयमें भी जब प्रत्यक्ष या स्मरण आदिकी प्रवृत्ति ही नहीं है तो वे एकपनेमें बाधा नहीं दे सकते हैं असम्भव है। तथा च एकत्वका ज्ञान भी बाधारहित क्यों न माना जावे ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान भी संवादयुक्त है।

कथं प्रत्यभिज्ञानविषयः प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्यः ? प्रत्यभिज्ञानेन प्रत्यक्षविषयः कथमिति समानम्।

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि जैनोंने कैसे जाना कि प्रत्यभिज्ञानका विषय प्रत्यक्षके द्वारा नहीं जानने योग्य है यानी नहीं जाना जाता है तो हम जैन भी कहते हैं कि बौद्धोंने कैसे जाना कि प्रत्यक्षका विषय तो प्रत्यभिज्ञानप्रमाणसे नहीं जाना जाता है ? यों यह प्रश्न और उसका उत्तर भी हमारा और तुम्हारा बराबर है।

तथा योग्यताप्रतिनियमादिति चेत्तर्हि—

बौद्ध कहते हैं कि उस प्रकार भेदके जाननेमें प्रत्यक्षकी ही योग्यता प्रतीति अनुसार नियत हो रही है अतः प्रत्यक्षके विषयमें प्रत्यभिज्ञान नहीं चलता है और प्रत्याभिज्ञानके विषयको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है। ऐसा कहोगे तब तो ठीक है सुनिये।

वर्तमानार्थविज्ञानं न पूर्वापरगोचरम्।
योग्यतानियमात्सिद्धं प्रत्यक्षं व्यावहारिकम् ॥ १५६ ॥
यथा तथैव संज्ञानमेकत्वविषयं मतम्।
न वर्तमानपर्यायमात्रगोचरमीक्ष्यते ॥ १५७ ॥

जैसे वर्तमान कालके अर्थको विशेषरूपसे जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उन पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंको या उनमें रहनेवाले एकत्वको विषय नहीं करता है क्योंकि इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञानकी योग्यता वर्तमान अर्थके जाननेमें ही नियमित है। उस ही प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी एकत्वको विषय करनेमें नियमित माना है। वह केवल वर्तमान पर्यायको विषय करनेवाला नहीं देखा जाता है। अर्थात् जैसे प्रत्यक्षके विषयमें प्रत्यभिज्ञान बाधा नहीं देता है वैसेही प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रत्यक्ष भी बाधा नहीं दे सकता है क्योंकि वह उसका विषय नहीं है। जो जिसका विषय ही नहीं है वह उसका साधक या बाधक भी नहीं हो सकता है।

यद्यद्विषयता प्रतीयते तत्तद्विषयमिति व्यवस्थायां वर्तमानार्थाकारविषयतया समीक्ष्यमाणं प्रत्यक्षं तद्विषयम्, पूर्वापरविवर्तवर्त्येकद्रव्यविषयतया तु प्रतीयमानं प्रत्यभिज्ञानं तद्विषयमिति को नेच्छेत् ?

जो ज्ञान जिसको विषय करनेवाला परीक्षकजनोंको प्रतीत होवे, वह ज्ञान उस पदार्थको विषय करनेवाला माना जावे, इस प्रकार व्यवस्था माननेपर तो जैसे यह बात आपको इष्ट है कि वर्तमानकालके अर्थोंको उल्लेख करके विषय करता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण बालक, पशु, पक्षियों-

तक देखा जा रहा है। अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण वर्तमान अर्थकोही विषय करता है वैसे ही पूर्व काल और उत्तरकालके पर्यायोंमें होनेवाले द्रव्यरूपसे एकपनेको विषय करता हुये स्वरूप करके तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रतीत हो रहा है इस कारण प्रत्यभिज्ञानका गोचर एकत्व है इस बातको कौन नहीं इष्ट करेगा ! सर्व ही वादी प्रतिवादी न्याय्य बातको मान लेंगे। यहां यह बात विशेष समझ लेना कि ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार जैन सिद्धांतमें माना है। आकारका अर्थ तो समझ लेना और दूसरोंको समझा देनेकी योग्यता है। या स्वयं विशेषरूपसे प्रतिभासन हो जाना है। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसका निरूपण हो सकता है। सुख, दुःख, इच्छा, सम्यक्त्व, चारित्र, दर्शन, रूप, रस आदिका प्ररूपण या आख्यान नहीं होता है। यदि रूप आदिकको कोई कहेगा तो वह रूपज्ञानको ही कह रहा है। रूपको तो बादमें हम स्वयं श्रुतज्ञानसे जान लेते हैं। यदि रूप या सुखको ज्ञानद्वारा नहीं किंतु सीधा कह दिया जाता तो सुननेवाले सब श्रोताओंको अवश्य रूपज्ञान होजाना चाहिये कोई अवधि न रह सकेगा और सुख के कहनेसे सब सुखी बन जावेंगे किंतु ऐसा नहीं है। वक्ताके शब्दोंसे क्षयोपशमके अनुसार श्रोता ज्ञान पैदा कर लेते हैं। वह ज्ञान उसी समय ज्ञेयोंके जाननेमें अभिमुख हो जाता है अतः समझ लो कि वक्ता अपने ज्ञानका निरूपण करता है तभी तो शिष्यको ज्ञान ही पैदा होता है। ज्ञान और ज्ञेयका घनिष्ठ सम्बंध होनेसे वह निरूपण ज्ञेयका बोला जाता है। ज्ञान और ज्ञेयमें तथा ज्ञान और उसके निरूपणमें बादरायण संबंध है। एक पथिक, किसी महाजनके घर गया। सेठानीने उसे सेठका मित्र समझकर विशेष सत्कार किया और सेठने भी सेठानीके गांवका सम्बंधी समझ आदर किया। बात स्पष्ट होनेपर दोनोंने भी पथिकसे ही पूछा कि हमारे साथ आपके हेलमेल करनेका क्या कारण है ! पथिकने उत्तर दिया कि मेरे, घरके सामने बेरियाका पेड है और आपकी हवेलीके पास भी बदरीवृक्ष है यही हमारा और आपका बादरायण सम्बंध है। "बदरी तरुश्च युष्माकमस्माकं बदरी गृहे। बादरायणसम्बंधो यूयं यूयं वयं वयं" इस तरह अन्वयीपरम्परा सम्बंध होते हैं जैसे कि वाच्यवाचक भाव, प्रतिबिम्बप्रतिबिम्बक भाव आदि—कहां तो सिद्ध भगवान् परम विशुद्ध चेतन पदार्थ हैं और कहां उनका वाचक कण्ठतालु आदि तथा पुद्गल वर्गणाओंसे बनाया गया अशुद्ध जड सिद्ध शब्द है। एवं कहां तो कांच और पारेसे बनाया गया प्रतिच्छाया लेनेवाला दर्पण या कागज स्याही का तसवीर हैं और कहां सदाचारी शरीरधारी देवदत्त चेतनद्रव्य प्रतिबिम्ब्य है। ये सब आकाश पाताल के कुलाठोंको मिलानेके समान योजनायें हैं किंतु कार्यकारी हैं अतः सम्बंध माने गये हैं। साक्षात् सम्बंध तो संयोग, बंधन, और तादात्म्यही हैं अतः साक्षात् रूपसे ज्ञानको और परम्परासे ज्ञेयको समझना तथा समझा सकना ही ज्ञानकी साकारता है और अन्य सब गुण उस अपेक्षासे निराकार माने गये हैं।

यदि आकारका अर्थ लम्बाई, चौडाई, मोटाई मानी जावे तो द्रव्यका जो आकार है। उतना ही उसके गुणोंका भी आकार है। एवं च दर्शन, सुख, चारित्रगुण भी साकार हो जावेंगे,

बौद्ध लोग ही ज्ञानको दर्पणके समान साकार मानते हैं। जैन लोग उन बौद्धोंका खण्डन कर देते हैं। साकार ज्ञान मानने पर कोई सर्वज्ञ न होगा क्योंकि इस समय भूत भविष्यत् पदार्थ ही जब नहीं हैं तो उनका प्रतिबिम्बरूप आकार क्या पडेगा ? तथा स्मरणज्ञान भी न हो सकेगा, प्रतिबिम्ब तो वर्तमान पदार्थोंका पडता है, अविद्यमानोंका नहीं। इत्यादि अन्यत्र विस्तारसे प्रतिपादन हैं।

नन्वनुभूतानुभूयमानपरिणामवृत्तेरेकत्वस्य प्रत्यभिज्ञानविषयत्वेऽतीतानुभूताखिलपरिणामवर्तिनोऽनागतपरिणामवर्त्तिनश्च तद्विषयत्वप्रसक्तिः, भिन्नकालपरिणामवर्तित्वाविशेषात्, अन्यथानुभूतानुभूयमानपरिणामवर्तिनोऽपि तदविषयत्वापत्तेरिति चेत्, तर्हि साम्प्रतिकपर्यायस्य प्रत्यक्षविषयत्वे कस्यचित्सकलदेशवर्तिनोऽप्यध्यक्षविषयता स्यादन्यथेष्टस्यापि तदभावः, साम्प्रतिकत्वाविशेषात्, तदविशेषेऽपि योग्यताविशेषात् साम्प्रतिकाकारस्य कस्यचिदेवाध्यक्षविषयत्वं न सर्वस्येति चेत्तर्हि—

बौद्ध शंका करते हैं कि भूतकालमें अनुभव किये जा चुके और वर्तमानमें अनुभव किये जा रहे परिणामोंमें ठहरनेवाले एकपनेको यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय होना मानोगे तो पूर्वकालसंबंधी अनुभव किये गये सम्पूर्ण परिणामोंमें रहनेवाले और सभी भविष्य परिणामोंमें रहनेवाले अनेक एकत्वोंको भी उस प्रत्यभिज्ञानकी विषयताका प्रसंग आता है, क्योंकि समीपभूत और वर्तमानमें रहनेवाला एकत्व जैसे भिन्नकालके परिणामोंमें वर्तनेवाला है उसीके समान चिरभूत और लम्बा भविष्यत् परिणामोंमें रहनेवाला एकत्व भी है। भिन्नकालके परिणामोंमें रहनेकी अपेक्षासे इनमें कोई अंतर नहीं है। अन्यथा यानी यदि भिन्नकालमें रहनेवाले एकत्वको प्रत्यभिज्ञानका विषय नहीं मानोगे तो जैनोंके मतमें अनुभव किये जा चुके और अनुभवमें आ रहे कतिपय परिणामोंमें रहनेवाला वह एकत्व भी प्रत्यभिज्ञानका विषय न हो सकेगा यह आपत्ति होगी। अब ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध यों कहेंगे तब तो उनके प्रत्यक्षपर भी यह कटाक्ष हो सकता है कि आप बौद्ध वर्तमान कालकी पर्यायको अल्पज्ञके प्रत्यक्षका विषय मानोगे तो सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाली वर्तमान कालकी पर्यायें भी किसी भी साधारण मनुष्यके प्रत्यक्षका विषय हो जावेंगी। अन्यप्रकारसे यानी यदि वर्तमानकी पर्यायोंको प्रत्यक्षका विषय न मानोगे तो आपका इष्ट किया गया प्रत्यक्ष भी उस वर्तमानकी पर्यायको नहीं जान सकेगा, क्योंकि अनेक देशोंमें रहनेवाली विद्यमान पर्यायोंमें और संमुख रहनेवाली उस पर्यायमें वर्तमान कालमें विद्यमान होनेकी अपेक्षा कोई अंतर नहीं है उस कुछ अंतरके नहीं रहते हुए भी ज्ञानकी विशिष्ट क्षयोपशमसे होनेवाली परिमित शक्तिरूप विशेष योग्यतासे वर्तमानमें सन्मुख पर्याय ही किसीके प्रत्यक्षका विषय है। सम्पूर्ण देशवर्ती वर्तमान कालकी पर्यायें प्रत्यक्षका विषय नहीं हैं। इस प्रकार कहोगे तब तो—हम जैन भी यों कहते हैं उसे दत्तचित्त होकर सुनिये।

यथैव वर्तमानार्थग्राहकत्वेऽपि संविदः ।
सर्वसाम्प्रतिकार्थानां वेदकत्वं न बुद्ध्यते ॥ १५८ ॥
तथैवानागतातीतपर्यायैकत्ववेदिका ।
वित्तिर्नानादिपर्यन्तपर्यायैकत्वगोचरा ॥ १५९ ॥

जिस ही प्रकार कि वर्तमानकालके अर्थोंकी ग्राहकता होते हुए भी प्रत्यक्ष ज्ञानको सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाले वर्तमान कालके अनेक अर्थोंकी ग्राहकता नहीं समझी जाती है वैसे ही भूत भविष्यत्की कतिपय पर्यायोंमें विद्यमान होरहे एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञानरूप मतिज्ञान विचारा अनादि अनंत कालकी पर्यायोंमें ठहरनेवाले एकत्वको विषय नहीं कर सकता है। जितनी शक्ति होगी उतना कार्य किया जा सकेगा।

यथा वर्तमानार्थज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वर्त्तमानार्थस्यैव परिच्छेदकमक्षज्ञानं तथा कतिपयातीतानागतपर्यायैकत्वज्ञानावरणक्षयोपशमात्तावदतीतानागतपर्यायैकत्वस्यैव ग्राहकं प्रत्यभिज्ञानमिति युक्तमुत्पश्यामः।

जैसे थोडेसे वर्तमान अर्थोंके ज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे वर्तमान कतिपय अर्थोंको ही जाननेवाला इंद्रियों करके जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है उस ही प्रकार भूत, भविष्यत् कालकी कतिपय (कुछ) थोडीसी पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्वके ज्ञानका प्रतिबंधक होरहे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान भी उतने ही भूत, भविष्यत् कालकी परिमित स्तोक पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्वका ही ग्राहक है। इस बातको हम युक्तियोंसे सहित देख रहे है, अनुभव कर रहे हैं। युक्तियोंसे सिद्ध होगयी चर्चाको मान लिया करो।

तस्माच्चैकसंतानवर्तिघटकपालादिमृत्पर्यायाणामन्वयित्वसिद्धेर्नोदाहरणस्य साध्यसाधनविकलत्वं, येन चित्तक्षणसंतानव्याप्येकोऽन्वितः पुमान्न सिद्धयेत्।

उस कारण अब तक सिद्ध हुआ कि एक संतानमें रहनेवाले शिवक, स्थास, कोष, कपाल और घट आदि मिट्टीकी पर्यायोंमें भी मृत्तिकारूपसे ओतप्रोतरूप अन्वय भरा हुआ है। अतः एकसौ बावनवीं कारिकामें दिया गया मृत्पर्यायस्वरूप उदाहरण तो अन्वयसहितपनेरूप साध्यसे और प्रत्यभिज्ञानका विषयपनारूप हेतुसे रहित नहीं है। जिससे कि आत्माके ज्ञानपर्यायोंकी संतानमें व्यापकरूपसे अन्वययुक्त रहनेवाला एक आत्मा सिद्ध न होवे। भावार्थ—" सम्पूर्ण ज्ञान धाराओंमें मोतियोंकी मालामें सूतके समान यह वही आत्मा है " इस अन्वयबुद्धिका जनक एक आत्मा द्रव्य सिद्ध होगया है ऐसे ही निजके सुख, चारित्र, अस्तित्व आदि गुणोंकी पहिली पीछे-पर्यायोंमें आत्मा व्यापक है।

कथमेकः पुरुषः क्रमेणानन्तान् पर्यायान् व्याप्नोति ? न तावदेकेन स्वभावेन सर्वेषामेकरूपतापत्तेः नानास्वरूपैर्व्याप्तानां जलानलादीनां नानात्वप्रसिद्धेरन्यथानुपपत्तेः।

यहां पर बौद्ध लोग आत्माका नित्यपना उडानेके लिये कटाक्षसहित चौडा पूर्वपक्ष करते हैं कि एक ही आत्मा क्रमसे होनेवाली अनंत भिन्न भिन्न पर्यायोंको कैसे व्याप्त कर लेता है ? बताओ। यदि जैन लोग एक स्वभावके द्वारा आत्माका अनेक पर्यायोंमें व्यापक होजाना मानेंगे वह तो ठीक नहीं है क्योंकि यों तो सम्पूर्ण पर्यायोंको एकपनेकी आपत्तिका प्रसंग होगा। जो एक स्वभावसे रहते हैं वे एक ही हैं। जैसे घट और कलश एकस्वभावसे भूतलमें रहते हैं। इस कारण दोनों घट और कलश एक ही तो हैं। जल, अग्नि आदिको अनेकपदार्थपना तभी प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है जब कि वे शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, गीला करना, सुखाना, कम्पन कराना आदि अनेक स्वभावोंसे अपनी अपनी पर्यायोंमें व्याप्त होकर ठहरते हैं। यदि ऐसा नहीं मानकर अन्य प्रकारोंसे माना जावे अर्थात् एकस्वभावके द्वारा भी जल, अग्नि, आदिको अपनी पर्यायोंमें व्यापक मान लिया जावे तो जल, अग्नि वायु, आदिको अनेकपना सिद्ध नहीं हो सकेगा। सर्व एक द्रव्य हो जावेंगे।

सत्ताद्येकस्वभावेन व्याप्तानामर्थानां नानात्वदर्शनात् पुरुषत्वैकस्वभावेन व्याप्तानामप्यनन्तपर्यायाणां नानात्वमविरुद्धमिति चायुक्तम्, नानार्थव्यापिनः सत्त्वादेरेकस्वभावत्वानवस्थितेः कथमन्यथैकस्वभावव्याप्तं किंचिदेकं सिद्धयेत्।

यदि यहांपर नैयायिक या जैन यों कहें कि जैसे सत्ता, द्रव्यत्व आदि एक स्वभावकरके व्याप्त होरहे भी पृथ्वी, जल, वायु आदि अर्थोंका अनेकपन देखा जाता है वैसे ही आत्मत्व या चेतनत्व नामक एकस्वभावसे व्याप्त हुये भी अनंत ज्ञान, सुख आदि पर्यायोंको अनेकपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि यह भी कहना युक्तियोंसे रहित है क्योंकि अनेक अर्थोंमें व्यापकरूपसे रहनेवाले सत्त्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व आदिको जैनसिद्धान्तमें एकस्वभावपना व्यवस्थापूर्वक सिद्ध नहीं है। वे सत्त्व आदिक अनेक स्वभाववाले होकर ही अनेक पदार्थोंमें ठहर सकते हैं। यदि ऐसा न स्वीकार कर अन्यप्रकारोंसे माना जावेगा तो एकस्वभावसे व्याप्त होरहा कोई एक पदार्थ ही कैसे सिद्ध हो सकेगा ? बताओ। भावार्थ—अबतक एकस्वभावपनेसेही एक पदार्थ होनेकी व्यवस्था है, यही स्याद्वादियोंका भी मत है किन्तु अब आप नैयायिकके मन्तव्यके अनुसार एकस्वभावके द्वारा अनेकपनकी भी सिद्धि करने लगे, सो ठीक नहीं है। यों तो पदार्थके एकत्वकी व्यवस्थाही उठ जावेगी। तथा नैयायिककी मानी गई नित्य, एक, और अनेकोंमें रहनेवाली सत्ताजाति तो अनेक दोषोंसे दूषित है।

यदि पुनर्नानास्वभावैः पुमाननन्तपर्यायान् व्याप्नुयात्तदा ततः स्वभावानामभेदे तस्य नानात्वम्, तेषाञ्चैकत्वमनुषज्येत, भेदे सम्बन्धासिद्धेर्व्यपदेशानुपपत्तिः, संबन्धकल्प-

नायां किमेकेन स्वभावेन पुमान् स्वस्वभावैः संबध्यते नानास्वभावैर्वा ? प्रथमकल्पनायां सर्वस्वभावानामेकतापत्तिः, द्वितीयकल्पनायां ततः स्वभावानामभेदे च स एव दोषः, अनिवृत्त (श्च) पर्यनुयोगः, इत्यनवस्थानात्, कुतोऽनन्तपर्यायवृत्तिरात्मा व्यवतिष्ठेतेति केचित्।

अभी तक बौद्ध कहते जा रहे हैं कि द्वितीयपक्ष अनुसार यदि आप जैनजन फिर अनेक स्वभावोंसे अनंत पर्यायोंको आत्मा व्याप्त कर लेगा, ऐसा मानेंगे तो हम बौद्ध पूंछते हैं कि ये अनेक स्वभाव आत्मासे अभिन्न हैं या भिन्न हैं ?

यदि अनेक स्वभावोंका उस आत्माके साथ अभेद मानोगे तो स्वभावोंके समान वह आत्मा भी अनेक हो जावेंगी, अथवा आत्माके समान उन स्वभावोंको भी एकपनेका प्रसंग होगा अभेदमें ऐसा ही होता है।

यदि दूसरा पक्ष लोगे यानी उस आत्मासे उसके स्वभावोंको भिन्न मानोगे तो आत्माका और स्वभावोंका संबंध सिद्ध न होगा। संबंध सिद्ध न होनेसे "आत्माके ये स्वभाव हैं।" इस प्रकारके लोकव्यवहारकी व्यवस्था न होसकेगी क्योंकि सह्य और विन्ध्यके समान सर्वथा भेद होनेपर संबंध नहीं बनता है और सह्य पर्वतका यह विन्ध्य पर्वत है इस प्रकार व्यवहार भी नहीं होता है। अतः संबंधवाचक षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त नहीं हो सकती है।

यदि स्वभावोंके साथ आत्माके संबंधकी कल्पना करोगे तो हम पूंछते हैं कि आत्मा क्या अपने अनेक स्वभावोंके साथ एक स्वभावसे सम्बन्धित होगा अथवा अपने अनेक स्वभावोंके साथ अनेक स्वभावोंकरके सम्बद्ध हो ? बताओ यदि पहिले पक्षकी कल्पना करोगे तो आत्माके उन सम्पूर्ण स्वभावोंको पूर्वके समान एकपनेका प्रसंग होता है और दूसरे पक्षकी कल्पनामें नाना स्वभावोंके साथ संबंध करानेवाले उन दूसरे अनेक स्वभावोंका उस आत्मासे अभेद मानोगे तो वही पहिला दोष हो जावेगा अर्थात् या तो वे सब स्वभाव एक हो जावेंगे या आत्मा अनेक हो जावेंगी तथा उन स्वभावोंको आत्मासे भिन्न पडा हुआ मानोगे तो आत्माका स्वभावोंके साथ संबंध सिद्ध न होगा।

यदि पुनः संबंधकी कल्पना करोगे तो फिर एक स्वभावसे या अनेक स्वभावोंसे संबंध माननेके विकल्प उठाये जावेंगे और वे ही पूर्वोक्त दोष आते जावेंगे। इस तरह कटाक्षरूप प्रश्न, उत्तर और विकल्प उठाना नहीं निवृत्त होगा। इस प्रकार मूलपदार्थका क्षय करनेवाला अनवस्था दोष होगा तब जैनोंका अनंत पर्यायोंमें अन्वयरूपसे व्यापक होरहा भला एक आत्मा कैसे व्यवस्थित होगा ? आप जैन उत्तर दीजिये इस प्रकार कोई बौद्ध पण्डित कह रहे हैं।

तेऽपि दूषणाभासवादिनः कथम्—

अब आचार्य कहते हैं कि वे बौद्ध भी सच्चा दोष नहीं दे रहे हैं किंतु उनको दूषणाभास कहनेकी लत पडी हुयी है। सो कैसे ? उसको सुनिये—

क्रमतोऽनन्तपर्यायानेको व्याप्नोति ना सकृत्।
यथा नानाविधाकारांश्चित्रज्ञानमनंशकम् ॥ १६० ॥

युगपत्में जैसे अकारता, विशेषता, साधेतता, ग्राह्यता, ग्राहकता, आदि अंशोंसे रहित होरहा भी एक चित्रज्ञान नाना प्रकारके नीलाकार, पीताकार, हरिताकारोंको एकसमयमें व्याप्त कर लेता है। वैसे ही एक आत्मा भी क्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंको एक ही बारमें व्याप्त कर लेता है। अर्थात् आत्मा अनंत भूत, भविष्य, कालकी पर्यायोंमें अन्वितरूपसे विद्यमान है। ऐसा जैन मानते हैं। बौद्धोंका दृष्टांत मिल गया।

चित्रज्ञानमनंशमेकं युगपन्नानाकारान् व्याप्नोतीति स्वयमुपयन् व्याप्नुवन्तमात्मानं प्रतिक्षिपतीति कथं मध्यस्थः ? तत्र समाधानाक्षेपयोः समानत्वात्।

धर्मधर्मीभावसे रहित हो रहा एक निरंश चित्रज्ञान एक समयमें अनेक आकारोंको व्याप्त कर लेता है। इस बातको बौद्ध स्वयं स्वीकार कर रहा है किंतु क्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंमें व्याप रहे आत्माका खण्डन करता है। ऐसा कहनेवाला बौद्ध पक्षपातरहित होकर न्याय करने वाला मध्यस्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं, जो चित्रज्ञानमें समाधान करोगे वैसा ही आत्माकी व्यापकताका समाधान हो जावेगा और अपनी पर्यायोंमें आत्माके अन्वित रहनेपर जो दोषारोपण करोगे, वही दोष समानरूपसे वहां चित्रज्ञानमें भी लागू होगा, कारण कि यहां चित्रज्ञान-रूप दृष्टांत सम है।

नन्वनेकोऽपि चित्रज्ञानाकारोऽशक्यविवेचनत्वादेको युक्त इति चेत्—

यहां ननुका अर्थ यह है जैसे कि कोई अनिर्णीत अपराधी जजके सम्मुख प्रश्नकर्ता बनकर अपने दोषके निवारणार्थ उत्तरकालके फलका उद्देश्य रखकर समाधानरूप निर्दोषताका बखान करता है वैसेही शङ्काकारका वेष धारण कर बौद्ध कहते हैं कि नील, पीत आदि नाना आकार अनेक ही हैं। फिर भी उन आकारोंका पृथग्भाव नहीं किया जासकता है। अतः उन आकारोंसे मिलकर बना हुआ एक चित्रज्ञान मानना युक्त है आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो—

यद्यनेकोऽपि विज्ञानाकारोऽशक्यविवेचनः।
स्यादेकः पुरुषोऽनन्तपर्यायोऽपि तथा न किम् ॥ १६१ ॥

यद्यपि चित्रज्ञानके अनेक आकार हैं किंतु उनका पृथक्करण नहीं हो सकता है। अतः यदि उन अनेक आकारवाले ज्ञानोंको एक माना जावेगा तो उसी प्रकार अनंत पर्यायोंमें रहनेवाला आत्मा भी पृथक् न कर सकनेके कारण एक क्यों न माना जावे न्याय समान होना चाहिये।

क्रमभुवामात्मपर्यायाणामशक्यविवेचनत्वमसिद्धमिति मा निश्चैषीः यस्मात्—

बौद्धोंके प्रति आचार्य कह रहे हैं कि क्रम क्रमसे होने वाली आत्माकी पर्यायोंका पृथक् न कर सकनापन असिद्ध है। इस प्रकार निश्चय न कर बैठना, जिस कारणसे कि—

यथैकवेदनाकारा न शक्या वेदनान्तरम्।
नेतुं तथापि पर्याया जातुचित्पुरुषान्तरम् ॥ १६२ ॥

जिस प्रकार एक विज्ञानकी लहीके आकार दूसरे ज्ञानमें ले जानेको अशक्य हैं तैसे ही देवदत्तकी आत्माके सुख, दुःख आदि पर्याय भी दूसरे यज्ञदत्तकी आत्मामें कभी नहीं प्राप्त किये जा सकते हैं अतः अशक्यविवेचनत्व हेतु दोनोंमें रह गया।

ननु चात्मपर्यायाणां भिन्नकालतया वित्तिरेव शक्यविवेचनत्वमिति चेत्तर्हि चित्रज्ञानाकाराणां भिन्नदेशतया वित्तिर्विवेचनमस्तीत्यशक्यविवेचनत्वं माभूत् तथाहि—

बौद्ध अनुनय करते हैं कि एक आत्माकी नाना ज्ञान, सुख, आदि पर्यायोंकी भिन्न भिन्न कालमें वृत्ति होकर प्रतीति हो जाना ही उनका पृथग्भाव कर सकना है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तब तो चित्रज्ञानके आकारोंका भी भिन्न भिन्न देशमें हुये रूपसे वेदन होना ही पृथक् कर सकना है। इस तरह चित्रज्ञानके आकारोंमें भी पृथक् न कर सकनापन न होगा, सो ही स्पष्ट कर अगिली वार्त्तिकमें कहते हैं—

भिन्नकालतया वित्तिर्यदि तेषां विवेचनम्।
भिन्नदेशतया वित्तिर्ज्ञानाकारेषु किन्न तत् ॥ १६३ ॥

यदि भिन्न भिन्न कालमें वर्त रहे रूपसे ज्ञप्ति होना ही आत्माकी पर्यायोंका पृथग्भाव करना है तो भिन्न देशोंमें रहना, रूपसे जानना ही क्यों नहीं चित्रज्ञानके आकारोंका पृथक् कर सकना माना जाता है? बताओ। भिन्ना भिन्ना देशा येषां ते भिन्नदेशास्तेषां भावो भिन्नदेशता, तया भिन्नदेशतया, यों निरुक्ति करना।

न हि चित्रपटीनिरीक्षणे पीताद्याकाराश्चित्रवेदनस्य भिन्नदेशा न भवन्ति ततो बहिस्तेषां भिन्नदेशताप्रतिष्ठानविरोधात्।

किसी उद्यान या महलके प्रतिबिम्बित या चित्रित अनेक रंगवाले चित्रपटको देखनेपर उस चित्रज्ञानके पीत, नील आदिक आकार भिन्न भिन्नदेशमें वृत्ति रखनेवाले नहीं हैं यह नहीं कहना। अन्यथा उस चित्रपट (तसवीर) से बाहिर रखे हुए वास्तविक प्रतिबिम्बक बगीचे या महलके उन नील, पीत आदिक आकारोंका भिन्नदेशवृत्तिरूपमें प्रतिष्ठित रहनेका विरोध हो जावेगा। अर्थात् वे एक ही ज्ञानमें भिन्न भिन्नदेशोंमें रहते हुए दीख रहे हैं क्योंकि बगीचेमें अनेक आकार या रंगवाले फल, फूल, वृक्ष, बेल आदि भिन्न भिन्न देशोंमें विद्यमान हैं। तभी तो उनका प्रतिबिम्ब चित्रमें वैसा पड गया है।

न ह्यभिन्नदेशपीताद्याकारानुकारिणश्चित्रवेदनाद्भिन्नदेशपीताद्याकारो बहिरर्थश्चित्रः प्रत्येतुं शक्योऽपीताकारादपि ज्ञानात्पीतप्रतीतिप्रसंगात्।

एक ही देशमें पीत, नील आदिक आकारका निरूपण करनेवाले चित्रज्ञानसे भिन्न देशवर्ती पीत आदिक आकारवाले बहिरंग इन्द्रधनुष, चितकबरी गाय, तितैया, तितली आदि अर्थ चित्र विचित्र नहीं समझे जा सकते हैं, अन्यथा पीतका आकार न लेनेवाले ज्ञान से भी पीतकी समीचीन प्रप्ति होजानेका अतिप्रसंग आजावेगा। भावार्थ—ज्ञानके आकारोंमें भिन्नदेशता है तभी तो बहिरंग विषयोंमें भिन्नदेशपना निर्णय किया जाता है। इस कारण ज्ञानके आकारोंमें भिन्न भिन्न देशोंमें रहनापन सिद्ध हुआ। ऐसी दशामें आत्माके समान ज्ञानके आकारोंमें भी पृथक् न कर सकनापन नहीं है। अब आप बौद्ध एक चित्रज्ञानका क्या उपाय रचेंगे? बताओ।

पीताकारादिसंवित्तिः प्रत्येकं चित्रवेदना।
न चेद्नेकसन्तानपीतादिज्ञानवन्मतम् ॥ १६४ ॥

देवदत्त, जिनदत्त आदिकी अनेक भिन्न सन्तानोंमें होनेवाले और नील, पीत, हरित आदिकको जाननेवाले एक एक ज्ञानव्यक्ति जैसे चित्रज्ञान नहीं है उसी प्रकार एक ज्ञानमें होनेवाले नील, पीत आदि आकार भी अकेले अकेले चित्रज्ञान नहीं है किन्तु एक ज्ञानके समुदित आकारोंका चित्र बन जाता है यदि बौद्धोंका यह मंतव्य है तब तो—

चित्रपटीदर्शने प्रत्येकं पीताकारादिवेदनं न चित्रज्ञानं क्रमाद्भिन्नदेशविषयत्वात्ताद्दशानेकसंतानपीतादिज्ञानवदिति मतं यदि।

उक्त कथनको बौद्ध अनुमान बना कर कहते हैं कि अनेक रंगवाले चित्रको देखनेपर पीत, हरित, नील आदिक आकारको जाननेवाले अनेक आकारके ज्ञानोंमेंसे एक आकारवाला प्रत्येक प्रत्येक ज्ञानांश चित्रज्ञान नहीं है क्योंकि वे ज्ञान क्रमसे भिन्न भिन्नदेशोंमें विद्यमान रहनेवाले नील, पीत आदिकको विषय करते हैं। जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त आदिक भिन्नसंतानोंके उस प्रकारके

नील, पीत आदिक आकारवाले ज्ञान अकेले अकेले चित्रज्ञान नहीं हैं उन भिन्न भिन्नसंतानके ज्ञानोंका समुदाय नहीं होपाता है किंतु एकज्ञान समुदित आकारोंसे मिश्रित होगा तब तक चित्र कहा जावेगा। इस प्रकार यदि आप बौद्धोंका मत है तो सुनिये।

सह नीलादिविज्ञानं कथं चित्रमुपेयते।
युगपद्भाविरूपादिज्ञानपंचकवत्त्वया ॥ १६५ ॥

यदि एक आत्माके क्रमसे होने वाले ज्ञान, सुख आदि पर्यायोंमें एक द्रव्यपनेसे सांकर्यरूप चित्रता नहीं मानते हो तो एक समयमें साथ होते हुए नील, पीत आदिक आकारवाले विज्ञानको चित्रज्ञान कैसे स्वीकार कर सकोगे ? जैसे कि पापड खाते समय एक समयमें रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दके पांचों इंद्रियोंसे जन्य पांच ज्ञान साथ होते हैं। उन पांचोंका मिश्रणात्मक एक चित्र-ज्ञान तुमने नहीं माना है वैसे ही नील, पीत आदि आकारोंका मिश्रणरूप एक चित्रज्ञान तुमको नहीं मानना चाहिये।

शक्यं हि वक्तुं कुरकुरीभक्षणादौ सहभाविरूपादिज्ञानपञ्चकमिव नीलादिज्ञानं सकृदपि न चित्रमिति, सहभावित्वाविशेषात्।

हम यों अवश्य कह सकते हैं कि कुरकुरी कचौडी खाते समय या रायतेको सपोट कर पीने पर आदि प्रकरणोंमें एक साथ होनेवाले रूप, रस आदिकके पांच ज्ञान जैसे परस्परमें मिलकर एक चित्रज्ञानरूप नहीं बन जाते हैं। उसी प्रकार एक समयमें होनेवाले नील, पीत आदिक आकार-वाले ज्ञान भी मिलकर चित्रात्मक एक नहीं हो सकते हैं। भुरभुरी कचौडी खानेमें या अनेक रंग-वाले चित्रपटके देखनेमें अनेक आकारवाले ज्ञानोंका साथ होनापन समान है। कोई भी अन्तर नहीं है।

तदविशेषेऽपि पीतादिज्ञानं चित्रमभिन्नदेशत्वाच्चित्रपतङ्गादौ न पुना रूपादिज्ञान-पञ्चकं क्वचिदिति न युक्तं वक्तुं तस्याप्यभिन्नदेशत्वात् न हि देशभेदेन रूपादिज्ञानपञ्चकं सकृत् स्वस्मिन् वेद्यते, युगपज्ज्ञानोत्पत्तिवादिनस्तथानभ्युपगमात्।

उस नील, पीत आदि ज्ञान और रूप, रस आदिक ज्ञानको एक कालमें होनेकी अपेक्षासे कुछ अंतर न होते हुए भी अनेक रंगवाले पतङ्गे, तितली, ततैया आदि या चित्रपटके नील, पीत आकारवाले ज्ञानको अभिन्न देशमें होनेके कारण आप चित्रज्ञान कहें किन्तु फिर कहीं कहीं कचौडी, पापड, ताम्बूलके भक्षण करनेपर साथमें होनेवाले रूप आदिकके पांच ज्ञानोंको चित्ररूप न मानें, इस प्रकार आपका पक्षपातसे कहना युक्तियोंसे सहित नहीं है क्योंकि रूप, रस आदिकके

वे ज्ञान भी उस कचौडीस्वरूप अभिन्नदेशमें उत्पन्न हुए हैं। कचौडी खाते समय रूप आदिके पांचों ज्ञान एक समयमें होते हुए आत्मामें जाने जा रहे हैं। उनमें कोई देशका भेद नहीं है। भावार्थ—रूपका ज्ञान किसी पदार्थमें हो और रसका ज्ञान अन्यमें हो, एवं गन्धका ज्ञान तीसरेमें हो, ऐसा नहीं है। जो एकसमयमें अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति होना कहते हैं उन्होंने उस प्रकार पांच ज्ञानोंका भिन्न देशमें उत्पन्न होना स्वीकार नहीं किया है किन्तु एकही वस्तुमें एक समयमें अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते हैं उनकी यों कहनेकी टेव है। इस विषयमें जैनोंका सिद्धान्तमन्तव्य दूसराही है, जो कि अग्रिम प्रकरणमें प्रतीत हो जावेगा। दूसरेके मन्तव्यका खण्डन करते समय पद पद पर अपने घरकी बात कह देना हलकापन है। संक्षेपमें सिद्धांत यह है कि अनेक पदार्थोंको भिन्न भिन्न रूपसे जानने वाले एक ज्ञानको समूहावलम्बन ज्ञान कहते हैं। कचौडी खाते समय भी क्रम क्रमसे पांच ज्ञान होते हैं। एक समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते हैं। दर्शन, ज्ञान या मतिज्ञान श्रुतज्ञान अथवा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा या रासनप्रत्यक्ष और चाक्षुषप्रत्यक्ष ये हम लोगोंके एक समयमें दो नहीं होते हैं। लब्धिरूप चार ज्ञान भले ही हो जावें। लब्धिरूप ज्ञान प्रमितिका साक्षात् जनक नहीं है। यों तो अंधे मनुष्यके भी लब्धिरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष माना है। चित्रपटमें अनेक रंगोंके ज्ञानको एक चित्रज्ञान हम इष्ट करते हैं किंतु बौद्धोंके सदृश क्षणिक परमाणुरूप विज्ञानके अनेक नील, पीत आकारोंका मिश्रण होकर बने हुए चित्रज्ञानको हम नहीं मानते हैं। एक पदार्थके अनेक ज्ञान होना और अनेक पदार्थोंका एक ज्ञान होना भी हम मानते हैं, तभी तो अंश, उपांशोंको जाननेवाले ध्यान और सर्वज्ञताकी आपत्ति होती है।

ननु चादेशत्वाच्चित्रचैतसिकानामभिन्नदेशत्वचिंता न श्रेयसीति चेत्, कथं भिन्नदेशत्वाच्चित्रपटीपीतादिज्ञानानां चित्रत्वाभावः साध्यते? संव्यवहारात्तेषां तत्र भिन्नदेशत्वसिद्धेः तत्साधने तत एव शष्कुलीभक्षणादौ रूपादिज्ञानानामभिन्नदेशत्वसिद्धेः, सहभावित्वसिद्धेश्च तद्वत् सकृदपि पीतादिज्ञानं चित्रमेकं माभूत्।

बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि विज्ञानस्वरूप आत्माके चित्र विचित्र ज्ञानोंका जब देश ही कोई नहीं है क्योंकि वे क्षणिक विज्ञान किसी देशमें रहते हुए हमने नहीं माने हैं तो फिर भिन्नदेशमें रहनेका विचार करना कुछ अच्छा नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि आप बौद्धोंने चित्रपटके नील, पीत आदिक ज्ञानोंको भिन्न देशमें रहनेके कारण चित्रपनेका अभाव क्यों सिद्ध किया है? बताओ, आप तो भिन्नदेशपना मानते ही नहीं है।

यदि आप बौद्ध लोकके समीचीन व्यवहारसे उन ज्ञानोंमें भिन्नदेशपना या अभिन्न देशपना मानोगे और जहां भिन्न देशपनेका व्यवहार सिद्ध नहीं है वहां उससे चित्रज्ञानपनेका साधन

करोगे तो उस ही से भुरभुरी (खस्ता) कचौडी खानेपर होनेवाले रूप आदिकके पांचों ज्ञानोंमें भी अभिन्नदेशपना सिद्ध है और इसी कारण साथमें होनापन सिद्ध है तो इस हेतुसे रूप आदिकके पांचों ज्ञानोंका मिलकर एक चित्रज्ञान क्यों न हो जावे। अथवा रूप आदिक पांच ज्ञान जिस प्रकार न्यारे न्यारे हैं, उसीके समान एक समय होनेवाले, नील, पीत आदिकके ज्ञान भी न्यारे न्यारे होंगे। एक चित्रस्वरूप न हो सकेंगे।

यदि पुनरेकज्ञानतादात्म्येन पीताद्याभासानामनुभवनात्तद्भेदनं चित्रमेकमिति मतम्, तदा रूपादिज्ञानपञ्चकस्यैकसन्तानात्मकत्वेन संवेदनादेकं चित्रज्ञानमस्तु।

यदि बौद्ध मतानुयायिओ, फिर तुम्हारा यह मंतव्य होय कि नील, पीत आदिक आकार-स्वरूप प्रतिभासोंका एक ज्ञानमें तादात्म्य रूपसे अनुभव होरहा है इस कारण उस ज्ञानको हम एक चित्रज्ञान मानते हैं, तब तो रूप, रस आदिकके पांच ज्ञानोंका भी एक संतानरूप तादात्म्यसे वेदन होरहा है अतः वे पांचों ज्ञान भी एक चित्रज्ञानरूप हो जाओ, चित्रपना बनानेके लिये दोनों स्थलोंमें तादात्म्य सम्बंध एकसा है।

तस्यानेकसन्तानात्मकत्वे पूर्वविज्ञानमेकमेवोपादानं न स्यात्।

यदि रूप, रस आदिकके पांच ज्ञानोंको अनेक संतानस्वरूप मानोगे ऐसा होते संते तो पहिलेका एक विज्ञान ही उनका उपादान कारण न हो सकेगा, अर्थात् जैसे देवदत्त, जिनदत्तके अनेक ज्ञानोंका उपादान कारण उनके पूर्वकालमें होनेवाले ज्ञान हैं। विवक्षित आत्माके एक ज्ञान-रूप उपादान कारणसे नाना आत्माओंका ज्ञान उपादेय नहीं हो पाता है। वैसेही एक आत्मामें रूप ज्ञानकी संतान पृथक् चल रही है। रसज्ञानकी संतानधारा भिन्न रूपसे प्रचलित होरही है। गंध-ज्ञानकी संतति न्यारी बह रही है। स्पर्शज्ञान स्वतंत्र होकर अपने उपादान उपादेयोंकी धाराओंमें परिणत है। इसी तरह श्रोत्रजन्य शब्द प्रत्यक्षकी अन्वयसंतति अलग हो रही है। इस प्रकार आप बौद्धोंके मानने पर रसज्ञानको गंधज्ञानकी और रूपज्ञानको रसज्ञानकी उपादान कारणता जो प्रसिद्ध हो रही है सो न बनेगी। बौद्धमतसे गंधज्ञानका पूर्वकाल सम्बंधी गंधज्ञान ही उपादान कारण होगा; तथा च आत्मामें अनेक उपादानकारण होने योग्य ज्ञानगुणोंके माननेका प्रसङ्ग आता है। जो कि सिद्धांतसे विरुद्ध है।

पूर्वानेकविज्ञानोपादानमेकरूपादिज्ञानपञ्चकमिति चेत्, तर्हि भिन्नसन्तानत्वात्तस्यानुसन्धानविकल्पजनकत्वाभावः।

यदि बौद्ध लोग आत्मामें एक समयमें अनेकज्ञानकी धाराएं चलती हुयी स्वीकार करोगे अर्थात् कचौडी खाते समय पांच रूप आदि ज्ञानोंके पूर्ववर्ती पांच ज्ञानोंको उपादान कारण मानोगे

तो पूर्ववर्ती रूपज्ञानसे उत्तरमें रूपज्ञान होता है। इसी प्रकार दूसरे रसज्ञानसे रस आदिका ज्ञान होना समझ लेना चाहिये तब तो देवदत्त, जिनदत्तकी संतानोंके समान भिन्न संतान हो जानेसे उन ज्ञानोंके द्वारा परस्परमें प्रत्यभिज्ञान रूप विकल्पोंको उत्पन्न करना न बन सकेगा, जैसे जिनदत्तके देखे हुए को देवदत्त स्मरण नहीं कर सकता है और न प्रत्यभिज्ञान कर सकता है। वैसे ही स्पार्शन प्रत्यक्षसे जाने हुए का चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान न कर सकेगा और घ्राणज प्रत्यक्षसे जाने हुएका रासनप्रत्यक्ष अनुव्यवसाय न कर सकेगा, किंतु अनुसंधान ऐसा होता है कि जो मैंने छुआ था, उसीको देख रहा हूं, जिसको सूंघा था, उसीका स्वाद लेरहा हूं, इस प्रकार भिन्न इंद्रियोंसे जाने हुए विषयका दूसरी इंद्रियोंसे अनुसंधान हो रहा देखा जाता है। अतः एक आत्मामें ज्ञानकी अनेक संतानें मत मानो।

पूर्वानुसन्धानविकल्पवासना तज्जनिकेति चेत्, कुतोऽहमेवास्य द्रष्टा स्प्रष्टा घ्राता स्वादयिता श्रोतेत्यनुसन्धानवेदनम्? रूपादिज्ञानपञ्चकानन्तरमेवेति नियमः सम्भाव्यताम्।

बौद्ध कहते हैं कि हम लोग स्मरण और प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण नहीं मानते हैं। जैसे अनेक मिथ्याज्ञान आत्मामें पहिलेसे बैठी हुयीं झूंठी अविद्यारूप वासनाओंसे उत्पन्न हो जाते हैं। उसी प्रकार वे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान भी अपनी पूर्ववर्ती अविद्यास्वरूप मिथ्याविकल्पोंकी वासनासे स्वप्न ज्ञानोंके सदृश उत्पन्न हो जाते हैं। और रूप, रस आदिक ज्ञानोंका उपादान कारण भी पूर्ववर्ती ज्ञान नहीं है किंतु मिथ्या वासनाएं उनकी जनक हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो रूप आदिकके पांच ज्ञानके अव्यवहित उत्तरकालमें ही नियमसे ऐसा होना कैसे सम्भावित होगा? कि जो ही मैं इस पदार्थको देखता हूं सो ही मैं छू रहा हूं और वही मैं सूंघ रहा हूं। इसका स्वाद लेरहा हूं और उसको सुनता चला आरहा हूं बताओ। किंतु इस प्रकार अनुसन्धान स्वरूप ज्ञान होते हैं अतः इनका कारण वस्तुभूत ज्ञान मानना चाहिए।

यदि झूंठी वासनाओंसे अनुसन्धान ज्ञान हुये माने जावेंगे तो एक ही आत्मामें उनके ठीक ठीक उत्पन्न होनेका नियम नहीं सम्भव होगा। भावार्थ—मिथ्यासंस्कारोंसे प्रत्यभिज्ञान होने लगेंगे तो अंटसंट चाहे जब हो जावेंगे। देश, काल और द्रव्यके नियतपनेसे नहीं होंगे। परंतु नियतरूपसे होरहे देखे जाते हैं॥

तस्य तद्वासनाप्रबोधकत्वादिति चेत्, कुतस्तदेव तस्याः प्रबोधकम्? तथा दृष्टत्वादिति चेन्न, अन्यथा दर्शनात्, प्रागपि हि रूपादिज्ञानपञ्चकोत्पत्तेरहमस्य द्रष्टा भविष्यामीत्याद्यनुसन्धानविकल्पो दृष्टः।

अनुसन्धानके नियम करनेका बौद्ध यदि यह उत्तर देंगे कि मैं जिसको देखता हूं, उसीको छूता हूं, सूंघता हूं, इस अनुसन्धानके नियम करानेवाली मिथ्यासंस्कार रूप वासना आत्मामें न्यारी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पडी हुयी हैं। वे रूप आदिकके पांच ज्ञान उस वासनाको प्रबुद्ध करा देते हैं। इस जगी हुयी वासना उस अनुसन्धानको उत्पन्न कर देती है, ऐसा कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि क्या कारण है जिससे कि वे पांच ज्ञान ही अनुसन्धान करानेवाली उस वासनाका प्रबोध करते हैं। चाहे कोई भी ज्ञान झूंठी वासनाको क्यों नहीं जगा देता है ? बताओ इसके उत्तरमें बौद्ध यों कहे कि उस प्रकार होता हुआ कार्य देखा गया है। सो कहना तो ठीक नहीं है क्योंकि दूसरे प्रकारोंसे भी कार्य होना देखा गया है, जब कि रूप आदिक पांच ज्ञानोंकी उत्पत्तिके पहिले भी मैं इस पदार्थका देखनेवाला, चखनेवाला, होऊंगा, इत्यादि प्रकारके प्रत्यभिज्ञानरूप विकल्प होना देखा जा रहा है।

सत्यं दृष्टः, स तु भविष्यद्दर्शनाद्यनुसन्धानवासनात एव, तत्प्रबोधकश्च दर्शनाद्यभिमुखीभावो न तु रूपादिज्ञानपञ्चकमिति तदुत्पत्तेः पूर्वमन्यादृशानुसन्धानदर्शनात्तासां नियमप्रतिनियतानुसन्धानानां प्रतिनियतवासनाभिर्जन्यत्वात्तासां च प्रतिनियतप्रबोधकप्रत्ययायत्तप्रबोधत्वादिति चेत्, कथमेवमेकत्र पुरुषे नानानुसन्धानसन्ताना न स्युः ?।

बौद्ध कहते हैं कि रूप आदिक पांच ज्ञानोंके पूर्वमें अनुसंधान होना आपने देखा है सो ठीक है। हम भी कहते हैं कि आपने अवश्य देखा होगा, किंतु उस अनुसन्धानका कारण ज्ञान नहीं है। वह विकल्पज्ञान तो उपादान कारणके विना ही भविष्यमें देखने, सूंघने, चाटनेके अनुसन्धानको उत्पन्न करनेवाली दुष्कर्मजनित दूसरी वासनाओंसे ही उत्पन्न हुआ है, आत्मामें बैठी हुयी उन वासनाओंका जनानेवाला कारण तो देखने, सूंघने, सुननेके लिए सन्मुख होनापन है किंतु रूप आदिके ज्ञान उन वासनाओंके प्रबोधक नहीं हैं। इसी प्रकार उनकी उत्पत्तिके पहिले भी दूसरे प्रकारके प्रत्यभिज्ञान होते हुए देखे जाते हैं। उन अनुसन्धानोंको नियम करके रूप रस आदिकमें ही नियमित करना पूर्वकी नियत हुयी वासनाओंसे जन्य हैं और वे पूर्वकी वासनाएं उनके जगानेवाले नियमित ज्ञानोंके वशमें पडकर प्रबुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार मिथ्याज्ञान और वासना तथा उनके प्रबुद्ध होनेकी नियत व्यवस्था है। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो इसी प्रकार एक आत्मामें अनुसंधानोंकी अनेक संतानें कैसे न होंगी ? बताओ। अर्थात् अपने वासनाओंके नियमित होरहे अनेक ज्ञानोंसे ही उत्तरवर्ती अनेक ज्ञान होते हुये माने हैं तथा च देवदत्तके देखे हुए का जिनदत्तको जैसे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है वैसे ही चाक्षुष ज्ञानसे जाने हुए का स्पार्शन प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। यह उक्त दोष तुम्हारे ऊपर अब भी लागू है।

प्रतिनियतत्वेऽप्यनुसन्धानानामेकसन्तानत्वं विकल्पज्ञानत्वाविशेषादिति चेत्, किमेवं रूपादिज्ञानानामेतन्न स्यात् ? करणज्ञानत्वाविशेषात्।

आप बौद्ध देखने, सूंघनेके अनुसंधानोंके नियत होनेपर भी एकसंतानपना है क्योंकि वे सूंघने, स्वाद लेनेका अनुव्यवसाय करनेवाले प्रत्यभिज्ञान सभी एकसे विकल्पज्ञान हैं कोई अंतर

नहीं है, यदि ऐसा कहोगे तो इस प्रकार कहीं भी आगे उत्पन्न होने वाले रूप, रस आदिकके ज्ञानोंको भी एक संतानपना क्यों न हो जावे क्योंकि ये भी सम्पूर्णज्ञान प्रमितिके उत्पादक करण-ज्ञानपना बहिरंग इंद्रियोंसे जन्य होनेके कारण अंतररहित समान हैं फिर इनकी न्यारी न्यारी संतान क्यों मानी जारही है ? ।

संतानांतरकरणज्ञानैर्व्यभिचार इति चेत्, तवापि संतानांतरविकल्पज्ञानैः कुतो न व्यभिचारः ?

सौगत कहते हैं कि बहिरंग इंद्रियजन्य ज्ञान या प्रमाजनक प्रमाणज्ञान तो देवदत्त, जिन-दत्त, और इंद्रदत्तकी इंद्रियोंसे होनेवाले ज्ञान भी हैं । एतावता क्या उन ज्ञानोंकी भी एक संतान हो जावेगी ? तुम्ही कहो, आप जैनोंका इंद्रियजन्य ज्ञानपना या करणज्ञानपना हेतु तो संतानांतरोंके प्रमितिजनक प्रमाण ज्ञानों करके व्यभिचारी है । ग्रंथकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तो तुम्हारा भी विकल्पज्ञानपना हेतु क्यों नहीं व्यभिचारी होगा ? क्योंकि देवदत्त, इंद्रदत्त आदि भिन्न चित्तोंमें भी देखने सूंघनेके अनेक कल्पनात्मकज्ञान होरहे हैं । इन करके बौद्धोंका हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास है ।

एकसामग्र्यधीनत्वे सतीति विशेषणाच्चेत् समानमन्यत्र ।

यदि आप बौद्ध एक सन्तानपनको सिद्ध करनेके लिये बोले गये अपने विकल्प ज्ञानपन हेतुमें एक सामग्रीके वश होते हुए यह विशेषण लगा दोगे तो व्यभिचार दोष दूर हो जावेगा । किन्तु उसीके समान एक सामग्रीके अधीन इस विशेषणसे अन्य स्थलपर हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान-पने या प्रमाणज्ञानपन हेतुमें भी व्यभिचार निराकृत हो जावेगा, क्योंकि दूसरे सन्तानोंके देखने सूंघनेके अनुसन्धान तो भिन्न सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं, एक सामग्रीके अधीन नहीं हैं, उसी प्रकार भिन्न आत्माओंके इन्द्रियजन्य ज्ञान भी एक सामग्रीके अधीन नहीं हैं सबके क्षयोपशम, इन्द्रिय, आत्माएं, भिन्न है ।

तथाक्षमनोज्ञानानामेकसन्तानत्वमेकसामग्र्यधीनत्वे सति स्वसंविदिति कुतस्तेषां भिन्नसन्तानत्वम् येन रूपादिज्ञानपञ्चकस्य युगपद्भाविनः पूर्वैकविज्ञानोपादानत्वं न सिद्धेयत् । तत्सिद्धौ च तस्यैकसन्तानात्मकत्वादेकत्वमिति सूक्तं दूषणं नीलाद्याभासमेकं चित्रज्ञानमिच्छतां रूपादिज्ञानपञ्चकमप्येकं चित्रज्ञानं प्रसज्येतेति ।

तथा एक बात यह भी है कि एक सामग्रीसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पज्ञानोंकी जैसे आप बौद्ध एकसंतान मानते हैं उसी प्रकार पांच बहिरिन्द्रियोंसे जन्य और मनसे जन्य ज्ञानोंकी भी एकज्ञान सन्तान मान लो, इंद्रियजन्य ज्ञान और मानस ज्ञानोंकी भिन्न संतान आप मान भी कैसे

सकते हैं ? क्योंकि वे ज्ञान एक सामग्रीके अधीन होते हुए स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं। जिस कारणसे कि उनको उसका उपादान कारणपना नहीं सिद्ध हो पाता अर्थात् इंद्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षको एक संतानपना सिद्ध होगया तो रसना इंद्रिय, चक्षु इंद्रियसे एक ही समयमें होनेवाले रूप आदिकके पांचों ज्ञानोंको भी एक संतानपना सिद्ध हो ही जाता है ? इस प्रकार पूर्वसमयवर्ती कोई भी एक रासनप्रत्यक्ष या चाक्षुष प्रत्यक्ष उत्तर कालमें होनेवाले स्पार्शन प्रत्यक्ष या घ्राणज प्रत्यक्षका उपादान कारण क्यों न सिद्ध होगा ? बताओ और जब पूर्व उत्तरवर्ती चाहे किन्हीं भी ज्ञानोंमें वह उपादान उपादेय भाव सिद्ध हो गया तब तक संतानस्वरूप हो जानेसे उन रूप रस आदिकके पांच ज्ञानोंमें कथञ्चित् द्रव्यदृष्टिसे एकपना भी सिद्ध हो जाता है। इस लिये हमने बहुत अच्छा दूषण कहा था कि बौद्ध लोग नील पीत आदिकके आभासोंको मिलाकर यदि एक चित्रज्ञान बनाना चाहते हैं तो उनको कचौडी खाते समय होनेवाले रूप आदिकके पांच ज्ञानोंका भी मिश्रण कर एक चित्रज्ञान बन जानेका प्रसंग आवेगा। इस प्रकार आपके ऊपर लगाये गये दोषको पुष्ट करनेवाला प्रकरण समाप्त होता है।

चित्राद्वैताश्रयाच्चित्रं तदप्यस्तीति चेन्न वै।
चित्रमद्वैतमित्येतदविरुद्धं विभाव्यते ॥ १६६ ॥

इष्टापत्ति करते हुए बौद्ध कहते हैं कि हम घट, पट आदिक पदार्थ या देवदत्त, जिनदत्त तथा जड, चेतन सब पदार्थोंको चित्रज्ञानस्वरूप ही मानते हैं। संसारमें चित्रज्ञानरूप ही एक पदार्थ है और कुछ भी नहीं है। इस कारण चित्राद्वैतका आश्रय कर लेनेसे रूप आदिकके पांच ज्ञानोंका भी मिलकर वह एक चित्रज्ञान बन जाओ। अच्छी बात है। इसमें हमारे ऊपर कुछ भी दोष नहीं है प्रत्युत गुण ही है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंको चित्रज्ञानका ही एकांत रूप अवधारण करना उचित नहीं है क्योंकि विचार करनेपर चित्र और अद्वैत ये दोनों निश्चयसे अविरुद्ध सिद्ध नहीं होते हैं किंतु विरुद्ध ही हैं। अद्वैतका अर्थ शुद्ध एक है और चित्र अनेकोंसे मिलकर बनता है। चित्र और अद्वैत शब्दोंमें समास होनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। जैसे कि पण्डित और मूर्ख शब्दका समास नहीं होता है। यों शब्दशक्तिका कुछ भी विचार नहीं कर जाहे जो अनर्गल कह बैठो, कोई रोकता नहीं है। परामर्श करोगे तो पता चल जायगा।

चित्रं ह्यनेकाकारमुच्यते तत्कथमेकं नाम ? विरोधात्।

जब कि अनेक आकारोंसे युक्त होरहे को चित्र कहते हैं इसकारण वह चित्र भला अद्वैत यानी एक कैसे हो सकता है ? क्योंकि चित्रविचित्रपनेका एकपनेके साथ विरोध है।

तस्य जात्यन्तरत्वेन विरोधाभावभाषणे।
तथैवात्मा सपर्यायैरनन्तैरविरोधभाक् ॥ १६७ ॥

चित्र न तो एक है और न अनेक है किन्तु एक और अनेकसे न्यारी तीसरी ही जातिवाला पदार्थ है। अतः एकपने और चित्रपनेमें कुछ भी विरोध नहीं है, जैसे कि स्याद्वादियोंके मतमें कथञ्चित् भेदका कथञ्चित् अभेदसे विरोध नहीं है। बौद्धोंके इस प्रकार भाषण करनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि उसही प्रकार एक आत्मा भी अपनी अनन्त पर्यायोंके साथ रहकर अविरोधको धारण करता है। भावार्थ—अपनेसे सर्वथा विपरीतके साथ विरोध हो सकता है। जैसे घट और घटाभावका, सर्वज्ञता और अज्ञताका, रूपरहित और रूपसहितपनेका, एवं जीवोंमें बद्ध और मुक्तका तथा केवलज्ञान और क्षायोपशमिक ज्ञानका विरोध होना सम्भव है क्योंकि इन उक्त दोंके जोडोंमेंसे एकका निषेध करनेपर दूसरेका विधान या दूसरेका निषेध करनेपर पहिलेका विधान अवश्य हो जाता है। अतः दोका तुल्यबलवाला विप्रतिषेध होनेपर विरोध माना गया है किंतु जहां तीन चार कोटियां हो सकती हैं वहां विरोध होवे, यह एकांत नहीं हो सकता है। कथञ्चित् एकपनेका कथञ्चित् अनेकपना भाई है। हां! सर्वथा अनेकपना विरोधी है। स्याद्वाद सिद्धांतमें तीसरी अवस्था माननेपर पूर्वके प्रकृत दोमें विरोध नहीं सिद्ध हो सकता है। जैसे बाजीगरके द्वारा स्त्री या पुरुषसंबंधी प्रश्न करनेपर चतुर बालक अपनेको पुरुष होनेका उत्तर देता है और मूर्ख, पण्डितपनेका प्रश्न करनेपर पण्डित होनेका उत्तर देता है, एवं मनुष्य और पशुमेंसे एकके पूंछनेपर स्वयंको मनुष्य मानता है। किंतु नारकी या स्त्री तथा घोडा या हाथी इन दोनोंमेंसे तुम कौन हो? ऐसा पूंछनेपर कुशल बालक दोनोंका निषेध कर देता है क्योंकि वह बालक उक्त दोनों अवस्थाओंसे भिन्न तीसरी जातिवाली अवस्थाको धारण करता है। तुम मनुष्य है? या जीव है, अथवा पञ्चेन्द्रिय है? एवं त्रस है? ऐसा प्रश्न करनेपर चारोंका विधिस्वरूप उत्तर दे देता है। अतः अनेक पर्यायोंके साथ एक आत्माके रहनेका कोई विरोध नहीं है।

नैकं नाप्यनेकम्, किं तर्हि? चित्रं चित्रमेव, तस्य जात्यन्तरत्वादेकत्वानेकत्वाभ्यामित्यविरुद्धं चित्राद्वैतसंवेदनमात्रं बहिरर्थशून्यमित्युपगमे, पुंसि जात्यन्तरे को विरोधः? सोऽपि हि नैक एव, नाप्यनेक एव, किं तर्हि? स्यादेकः स्यादनेक इति, ततो जात्यन्तरं तथा प्रतिभासनादन्यथा सकृदप्यसंवेदनात्, इति नात्मनोऽनन्तपर्यायात्मता विरुद्धा चित्रज्ञानस्य चित्रतावत्।

सौगत बोल रहे हैं कि चित्रज्ञान न तो एक है और न अनेक ही है तो क्या है? ऐसा पूंछने पर हम बौद्ध कहते हैं कि वह चित्रज्ञान चित्रस्वरूप ही है। एकपन और अनेकपनसे भिन्न तीसरी ही चित्रत्वजातिवाला वह चित्रज्ञान है। इस प्रकार चित्र और अद्वैत शब्दका समास भी हो जावेगा और बहिरंग घट, पट आदि भेदोंसे सर्वथा रहित होरहे केवल अकेले चित्रज्ञानका संवेदन भी विना विरोधके हो जावेगा। ग्रंथकार कहते हैं कि यदि बौद्ध ऐसा स्वीकार करेंगे तो आत्मामें भी तीसरी जातिका स्वभाव मानने पर क्या विरोध है? कहो तो सही। वह आत्मा भी न

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तो एक ही है और न निश्चयसे अनेक ही है तब तो क्या है ? सो उत्तर सुनिये, कथञ्चित् द्रव्यरूपसे आत्मा एक है और पर्यायरूपसे आत्मा स्यात् अनेक है। उन सर्वथा एकांतोंसे भिन्न तीसरी एकानेकात्मकत्वजातिके स्वभावसे ही आत्माका प्रतिभास होरहा है। अन्य दूसरे एकांतप्रकारोंसे एक बार भी आत्माका वेदन नहीं हुआ है। इस कारण एक आत्माको अनंतपर्यायस्वरूपपना विरुद्ध नहीं है। जैसे कि बौद्धोंके चित्रज्ञानको अनेक नील, पीत आदिक आकारोंसे सहित होकर चित्र विचित्रपना विरुद्ध नहीं है। अब तक आत्माका अनंत पर्यायोंमें व्याप्त होना सिद्ध करनेके लिये " क्रमतोऽनंतपर्यायात् " इस एक सौ साठमीं कारिकामें उदाहरणरूप दिये गये चित्रज्ञानको घटित करके अनंत सहभावी और क्रमभावी पर्यायोंमें रहनेवाला एक अखण्ड आत्मा द्रव्य सिद्ध कर दिया है।

भ्रान्तेयं चित्रता ज्ञाने निरंशेऽनादिवासना-
सामर्थ्यादवभासेत स्वप्नादिज्ञानवद्यदि ॥ १६८ ॥
तदा भ्रान्तेतराकारमेकं ज्ञानं प्रसिद्धयति ।
भ्रान्ताकारस्य चाऽसत्त्वे चित्तं सदसदात्मकम् ॥ १६९ ॥
तच्च प्रबाधतेऽवश्यं विरोधं पुंसि पर्ययैः ।
अक्रमैः क्रमवद्भिश्च प्रतीतत्वाविशेषतः ॥ १७० ॥

बौद्ध कहते हैं कि वास्तवमें ज्ञान हमारे यहां कार्यता, कारणता, ग्राह्यता, ग्राहकता, आभास और आभासीपन आदि अंशोंसे रहित माना गया है। स्वप्न देखते समय या सन्निपात होनेपर तथा अधिक मादकवस्तुओं आदिका उपभोग करनेपर विना कारण केवल अनादिकालके मिथ्यासंस्कारोंकी शक्तिसे यों ही झूंठे अनेक आकारवाले ज्ञान प्रतिभासित होते जाते हैं। उसी प्रकार जागते हुए भी आत्मामें अनादिकालसे बैठे हुए कुत्सित संस्कारोंके बलसे ज्ञानोंमें चित्र विचित्र आकार ज्ञात हो जाते हैं। वस्तुतः ज्ञानमें चित्रपन यह भ्रमरूप है। अब आचार्य कहते हैं कि यदि शुद्ध संवेदनाद्वैतवादी बौद्धोंका यह मत है तब तो एक ज्ञानमें स्वयं झूंठे आकारोंके प्रतिभास करनेकी अपेक्षासे भ्रान्तपना आया और अपनेको ग्रहण करनेकी अपेक्षासे अभ्रांतपना आया। इस प्रकार एक ज्ञानमें मिथ्याज्ञान और प्रमाणपन यों दो विरुद्ध आकार प्रसिद्ध हुए। चलो एक आत्माको अनेकपर्यायोंमें व्यापक होकर रहनेका यही दृष्टांत सही।

यदि भ्रांत आकारको वन्ध्यापुत्रके समान असत् मानोगे तो भी ज्ञानमें स्वकी अपेक्षा विद्यमानता और भ्रांत आकारोंकी अपेक्षासे अविद्यमानता रह गयी अतः एक ज्ञान सदात्मक और असदात्मक होगया। तथा यों तो वही दृष्टांत एक आत्मामें अनेक पर्यायोंके साथ रहनेके विरोधको

अवश्य बाधा दे रहा है। जैसे ज्ञानमें सत् असत्पना आपको प्रतीत होरहा है वैसे ही आत्माका क्रमसे रहित होकर साथ ठहरनेवाले गुणस्वरूप-पर्यायों तथा क्रमसे होनेवाले मतिज्ञान, सुख, आदि पर्यायोंके साथ रहना भी समानरूपसे प्रतीत होरहा है कोई अंतर नहीं है। पर्यायका सिद्धांतलक्षण अखण्डद्रव्यके अंशोंकी कल्पना करना है। आत्माके सुख, चारित्र, चेतना, अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक तीनों कालमें ध्रुव रहनेवाले सहभावी गुणरूप अंश है और श्रुतज्ञान, इच्छा, उत्साह, दुःख, प्रतिक्षणपरिणति लम्बाई, चौड़ाई आदि क्रमसे होने वाली अर्थपर्यायें और स्थंजनपर्यायें उत्पादविनाशवाले अंश हैं।

चित्राद्वैतमपि माभूत् संवेदनमात्रस्य सकलविकल्पशून्यस्योपगमादित्यपरः। तस्यापि किमभ्यारोप्यमाणो धर्मः कल्पना, मनोविकल्पमात्रं वा, वस्तुनः स्वभावो वा ? प्रथमद्वितीयपक्षयोः सिद्धसाधनमित्युच्यते—

यहां बौद्धका कोई एक देशमतानुयायी न्यारा विद्वान् यों कह रहा है कि चित्राद्वैत भी मत हो, हम वैभाषिक तो सम्पूर्ण संकल्प विकल्पोंके कल्पित हुये आकारोंसे रहित होरहे केवल शुद्ध ज्ञानको ही स्वीकार करते हैं। आचार्य कहते हैं कि उस एकदेशीसे हम पूंछते हैं कि आप कल्पनाओंसे रहित शुद्ध ज्ञान मानते हैं। यहां आप कल्पनाका क्या अर्थ करते हैं ? बताओ वस्तुमें जो धर्म विद्यमान नहीं है उस धर्मका थोडी देरके लिये वस्तुमें आरोप करना कल्पना माना है ? या दरिद्रोंके मनोरथसमान मनके केवल संकल्पविकल्पोंको कल्पना इष्ट किया है ? अथवा वस्तुकी स्वभावकल्पना है ?। पहिले और दूसरे पक्षमें सिद्धसाधन दोष है यानी पहिली दो कल्पनाओंसे रहित हो रहेको हम भी समीचीन ज्ञान मानते हैं। इसी बातको वार्त्तिकों द्वारा कहते हैं—सावधान होकर सुनिये।

निश्शेषकल्पनातीतं संचिन्मात्रं मतं यदि।
तथैवान्तर्बहिर्वस्तु समस्तं तत्त्वतोऽस्तु नः ॥ १७१ ॥
समस्ताः कल्पना हीमा मिथ्यादर्शननिर्मिताः।
स्पष्टं जात्यन्तरे वस्तुन्यप्रबाधं चकासति ॥ १७२ ॥
अनेकान्ते ह्यपोद्धारबुद्धयोऽनेकधर्मगाः।
कुतश्चित्सम्प्रवर्तन्तेऽन्योन्यापेक्षाः सुनीतयः ॥ १७३ ॥

यदि बौद्ध यह मानेंगे कि आरोपित धर्म और मानसिक संकल्परूप सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित हो रहा अकेला ज्ञान ही केवल तत्त्व है तो उसी प्रकार हम स्याद्वादियोंके मतमें भी अंतरंग

आत्माएं और बहिरंग घट, पट आदिक सम्पूर्ण वस्तुएं परमार्थरूपसे उन दो कल्पनाओंसे रहित सिद्ध हो जाओ। देखो ये झूंठ मूठ अनेक प्रकारकी सम्पूर्ण कल्पनाएं नियम करके अतत्त्वश्रद्धानके वशसे गढ ली जाती हैं। क्योंकि जब कल्पनाओंसे रहित और अनेक स्वभाववाले तथा अनेकांतपनेकी भिन्नजातिसे युक्त होरहे वस्तुका (में) बाधारहित स्पष्टरूपसे प्रकाशन हो रहा है। ऐसा होते संते तो अपरमार्थभूत धर्मोंकी कल्पना करना मिथ्यात्वपिशाचसे ग्रसित हुये जीवका बहक जाना मात्र है। सम्पूर्ण पदार्थ वास्तविक अनेक-धर्मस्वरूप हैं। उनमें मिथ्यादृष्टिजनोंकी अनेक कल्पित धर्मोंको आश्रय करनेवाली वस्तुसे पृथग्भूत कल्पनाबुद्धियें किसी न किसी मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हुयीं खूब प्रवर्त रही हैं। जगत्में अनेक कुमत छा रहे हैं, कोई वादी कहता है कि आत्मा अनित्य ज्ञानस्वरूप है। कोई आत्माको नित्य मानता है। कोई एक और कोई अनेक, एवं अंशोंसे रहित और सहित आदि धर्मोंकी गढंत ढाल रहे हैं किंतु ये सब मिथ्याज्ञानजनित कुनय हैं। यदि ये ही धर्म वस्तुकी भित्ति पर परस्परकी अपेक्षा रखते हुए माने जावें तो वे वचन या ज्ञान सुनय हो जाते हैं। क्योंकि अनेक धर्मवाली वस्तुमेंसे पृथक् पृथक् मानकर एक एक धर्मको विवक्षावश समीचीन कल्पनासे न्यारा न्यारा जाना है। एकसे दूसरेको अलग कर अनेक धर्मोंको विषय करनेवालीं सुनयें विवक्षावश जीवोंके अच्छी तरह वर्त रहीं हैं।

यस्मान्मिथ्यादर्शनविशेषवशान्नित्याद्येकान्ताः कल्पनाः स्पष्टं जात्यन्तरे वस्तुनि निर्बाधमवभासमाने तत्त्वतो न सन्तीति स्वयमिष्टम्, यतश्चानेकान्ते प्रमाणतः प्रतिपन्ने कुतश्चित्प्रमातुर्विवक्षाभेदादपोद्धारकल्पनानि क्षणिकत्वाद्यनेकधर्मविषयाणि प्रवर्तन्ते परस्परापेक्षाणि सुनयव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति।

जिस कारणसे कि सर्वथा एकांतोंसे रहित कथञ्चित् अनेक एकांतस्वरूप अनेकांतात्मक वस्तुका बाधारहित जब विशदरूपसे प्रतिभास हो रहा है ऐसा होते सन्ते तो एकांत, विपरीत, मिथ्यादर्शनकी या गृहीतमिथ्यात्वविशेषकी पराधीनतासे उत्पन्न हुए नित्य अनित्य आदि धर्मोंके आग्रहरूप कल्पित किये जारहे एकांत वास्तविक रूपसे नहीं हैं। यह बात स्वयं इष्ट हो जाती है। और भी यह बात है कि जब कि प्रमाणोंसे अनेकांत सिद्ध हो रहा है प्रतीत भी कर लिया है तो प्रमिति करनेवाले किसी भी आत्माकी विवक्षाके भेदसे वस्तुमें न्यारे न्यारे पृथक् कर माने गये क्षणिकत्व, नित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व धर्मोंको विषय करनेवाले भी ज्ञान प्रवर्तित होते हैं। वे सभी धर्म परस्परमें अपेक्षा रखनेवाले हैं। जब उन धर्मोंकी समीचीन कल्पनाएं परस्परमें अपेक्षा रखती हैं तब तो वे सुनय इस नामसे व्यवहारको धारनेवालीं कही जाती हैं।

तस्मादशेषकल्पनातिक्रांतं तत्त्वमिति सिद्धं साध्यते नहि कल्प्यमाना धर्मास्तत्त्वं तत्कल्पनमात्रं वा, अतिप्रसंगात् तेनांतर्बहिश्च तत्त्वं तद्विनिर्मुक्तमिति युक्तमेव।

उस कारण हमारे यहां सम्पूर्ण मिथ्याकल्पनाओंसे अतिक्रांत होरहा सत्त्व सिद्ध है। आप बौद्ध पहिली दो कल्पनाओंसे रहित ज्ञानतत्त्वको सिद्ध करते हो। इस प्रकार आप सिद्धका ही साधन कर रहे हो। यह तुम्हारे ऊपर सिद्धसाधन दोष हुआ। कोरी कल्पनाओंसे जाने जारहे धर्म अथवा वे केवल कल्पनाएं वास्तविक तत्त्व नहीं हो सकते हैं क्योंकि अतिप्रसंग हो जावेगा। यानी मूछोंमें लगी लौनीवाले पुरुषकी गढंत या छोकरोंके मनमें राजा हो जानेकी कल्पना भी वस्तुको स्पर्श करनेवाली हो जावेगी। उस कारण आत्मा, ज्ञान, सुख आदि अंतरङ्ग तत्त्व या घट, पट, पाषाण आदि सम्पूर्ण बहिरंग पदार्थ उन दो कल्पनाओंसे सर्वांशरहित हैं। यह बात युक्तियोंसे सहित ही है।

तृतीयपक्षे तु प्रतीतिविरोधः कथम्—

यदि तीसरा पक्ष लोगे यानी वस्तुके स्वभावोंको कल्पना मानोगे तब तो ऐसी कल्पनाओंसे रहित ज्ञानको इष्ट करनेपर तुमको लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंसे विरोध होगा। यह कैसे ? सो सुनिये।

परोपगतसंवित्तिरनंशा नावभासते।
ब्रह्मवत्तेन तन्मात्रं न प्रतिष्ठामियर्ति नः॥ १७४॥

जैसे ब्रह्माद्वैतवादियोंका माना हुआ आधेयता, आधारता, कार्यता, कारणता और ग्राह्यता, ग्राहकता आदि अंशोंसे रहित एक परब्रह्म प्रतिभासित नहीं होता है। उसीके सदृश अन्य बौद्धोंके द्वारा स्वीकार किया गया संवेद्य संवेदक और इन स्वभावरूप अंशोंसे रहित हो रहा केवल शुद्ध ज्ञान भी नहीं प्रतिभासित होता है। इस कारण कोरा शुद्ध ज्ञानाद्वैत तत्त्व भी हमारे सन्मुख प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं कर सकता है।

वस्तुनः स्वभावाः कल्पनास्ताभिरशेषाभिः सुनिश्चितासम्भवद्बाधाभी रहितं संविन्मात्रं तत्त्वमिति तु न व्यवतिष्ठते तस्यानंशस्य परोपवर्णितस्य ब्रह्मवदप्रतिभासनात्।

इस वार्त्तिककी टीका यों है कि, तीसरे पक्षके अनुसार यदि वस्तुके स्वभावोंको कल्पना मानोगे तो सम्पूर्ण बाधक प्रमाणोंके नहीं सम्भव होनेका अच्छी तरहसे निश्चय कर लिया है जिनका ऐसी उन स्वभावरूप सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित केवल संवेदन ही तत्त्व तो इस तरह व्यवस्थित नहीं हो पाता है। क्योंकि बौद्धोंके द्वारा माना गया स्वभाव और विशेषणरूप अंशोंसे रहित उस संवेदनका ब्रह्माद्वैतके समान प्रतिभास नहीं होता है और वस्तुभूत कल्पनायें निर्बाध्य होकर पदार्थोंमें दीख रही हैं।

नानाकारमेकं प्रतिभासनमपि विरोधादसदेवेति चेत्—

यदि बौद्ध यों कहें कि अनेक आकारवाला स्याद्वादियोंका एक प्रतिभासन भी तो नहीं दीखता है क्योंकि एकमें अनेकपनेका विरोध है। अतः नाना आकारवाला एक पदार्थ भी घोड़ेके सींगसमान असत् ही हैं। जैनोंके ऊपर ऐसा आक्षेप करनेपर तो—आचार्यमहाराज आदेश करते हैं कि—

नानाकारस्य नैकस्मिन्नध्यासोऽस्ति विरोधतः ।
ततो न सत्तादित्येतत्सुस्पष्टं राजचेष्टितम् ॥ १७५ ॥
संवेदनाविशेषेऽपि द्वयोः सर्वत्र सर्वदा ।
कस्यचिद्धि तिरस्कारे न प्रेक्षापूर्वकारिता ॥ १७६ ॥

विरोध दोष हो जानेके कारण एक पदार्थमें अनेक आकारोंकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। इस कारण वह पदार्थ सत् रूप नहीं है। यों इस प्रकार बौद्धोंका कहना तो सर्वथा स्पष्टरूपसे उच्छृङ्खल राजाओंकी सी चेष्टा करना है। जैसे मनचले उद्दण्ड राजा, महाराजा लोग अपनी मनमानी आज्ञा चलाते हैं। कोई विचारशील मन्त्री यदि तर्क, सुमन्त्रणा, युक्तियोंसे श्रेष्ठ मार्ग सुझाता है तो वे उसके साथ विरोध करते हैं। उसी प्रकार बौद्धोंकी राजाज्ञा चल रही है। जबकि ज्ञानमें अनेक आकार और एकपना इन दोनोंका सब स्थान और सब कालमें अब अंतररहित समानरूपसे संवेदन हो रहा है तो उन दोनोंमेंसे चाहे किसीका स्वीकार और दूसरे किसी एक का तिरस्कार करनेपर बौद्धोंका विचारपूर्वक कार्य करना नहीं कहा जा सकता है। न्यायोचित प्रसङ्गोंमें पक्षपात नहीं करना चाहिये।

नानाकारस्यैकत्र वस्तुनि नाध्यासो विरोधादिति ब्रुवाणो नानाकारं वा तिरस्कुर्वीतैकत्वं वा ? नानाकारं चेत्सुव्यक्तमिदं राजचेष्टितम्, संविन्मात्रवादिनः स्वरुच्या संवेदनमेकमनंशं स्वीकृत्य नानाकारस्य संवेद्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा प्रतिक्षेपात्, तस्य प्रेक्षापूर्वकारित्वायोगात्।

" एक पदार्थमें अनेक आकारोंके स्थित रहनेका निश्चय नहीं है क्योंकि विरोध है " इस प्रकार आटोपसहित कहता हुआ बौद्ध उन दोनोंमेंसे नाना आकारोंका खण्डन करता है ? अथवा क्या वस्तुमेंसे एकपन धर्मको निकाल कर फेंकना चाहता है ? बतावे।

पहिला पक्ष होनेपर यदि नाना आकारोंका खण्डन करेगा तब तो यह सबके सन्मुख खुल्लम खुल्ला राजाओंकीसी चेष्टा करना है क्योंकि शुद्ध संवेदनके अद्वैतको कहनेवाले बौद्धने अपनी रुचिसे मनमाने निरंश एक संवेदनको स्वीकार कर ज्ञानमें जाने जा रहे भी और सब देश तथा सब

कालमें होनेवाले अनेक आकारोंका खण्डन किया है। जो वादी सब देशकालमें अनुभव किये गये अंशोंका खण्डन करता है उसको विचारपूर्वक कार्य करनेवालापन नहीं बनता है। और दूसरे पक्षके अनुसार एकपनेका खण्डन तो आप कर नहीं सकते हैं अन्यथा अपसिद्धान्त हो जावेगा।

तस्मादबाधिता संवित्सुखदुःखादिपर्ययैः।
समाक्रान्ते नरे नूनं तत्साधनपटीयसी ॥ १७७ ॥

उस कारण हर्ष, विषाद, ज्ञान, इच्छा आदि पर्यायोंसे पूर्णरूपसे ठसाठस व्याप्त होरहे एक आत्मामें बाधारहित प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। अतः वह ज्ञान निश्चयसे एकमें उन अनेक आकारोंको सिद्ध करनेके लिये बहुत अच्छा दक्ष है। श्रेष्ठ प्रमाणसे वस्तुतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है।

न हि प्रत्यभिज्ञानमतिः सुखदुःखादिपर्यायात्मके पुंसि केनचिद्बाध्यते यतस्तत्साधनपटीयसी न स्यात्। ततो नाशेषस्वभावशून्यस्य संविन्मात्रस्य सिद्धिस्तद्विपरीतात्मप्रतीत्या बाधितत्वात्।

सुख, दुःख आदि अनेक पर्यायोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध रखनेवाले एक आत्मामें उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञानस्वरूप मतिज्ञान किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। जिससे कि अनेक गुण, पर्याय, धर्मोंमें ये व्यापक हो रहे उस एक वस्तुके सिद्ध करनेमें बहुत बढिया कुशल न होता। उस कारण तृतीयपक्षके अनुसार बौद्धोंके द्वारा माना गया कल्पनाका अर्थ ठीक नहीं है। यों सम्पूर्ण स्वभावोंसे रहित होरहा शुद्ध संवेदन सिद्ध नहीं हो पाता है क्योंकि तुम्हारे माने गये संवेदनके सर्वथा विपरीत ऐसे अनेक धर्मात्मक आत्माओंकी प्रमाणसिद्ध प्रतीति करके तुम्हारा मन्तव्य बाधित हो जाता है।

नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते यथा।
तथैव प्रत्यभिज्ञेयं पूर्वतद्वासनोद्भवा ॥ १७८ ॥
तद्वासना च तत्पूर्ववासनाबलभाविनी।
सापि तद्वदिति ज्ञानवादिनः सम्प्रचक्षते ॥ १७९ ॥
तेषामप्यात्मनो लोपे सन्तानान्तरवासना।
समुद्भूता कुतो न स्यात् संज्ञाभेदाविशेषतः ॥ १८० ॥

बौद्ध कहते हैं कि जैसे नीलका विकल्पज्ञान आत्मामें बैठे हुए कुत्सित संस्कारोंसे उत्पन्न हो जाता है वैसे ही जैनोंका यह प्रत्यभिज्ञान भी उसको बनानेवाले पूर्वके संस्कारोंसे उत्पन्न हो जाता

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

है और वे वासनाएं भी उनके पहिलेके संस्कारोंके बलसे उत्पन्न हो चुकी हैं और वे संस्कार भी पहिलेके मिथ्याज्ञानजनित संस्कारोंसे उत्पन्न हुए थे, इस प्रकार उस अनादिमिथ्यादृष्टिके समान वे वासनाएं भी धाराप्रवाहसे अनादिकालकी लग रही हैं। इस प्रकार ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध यों ही जीव या स्वप्नज्ञानका दृष्टांत देकर शुद्धज्ञानका भले प्रकार निरूपण करते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन बौद्धोंके यहां भी एक अन्वित आत्माके लोप करनेपर यह दोष आता है कि भले प्रकार जगायीं गयीं देवदत्तरूप–संतानकी वासनाएं दूसरे यज्ञदत्तको प्रत्यभिज्ञान, स्मरण, आदि मिथ्याज्ञान उत्पन्न करा देनेमें क्यों नहीं कारण हो जाती हैं ? बताओ, क्योंकि आपके मतमें देवदत्तकी वासनाएं जैसे अतिनिकट किंतु नहीं मिले हुए क्षणिक विज्ञानोंकी पङ्क्तिरूप देवदत्तसे भिन्न हैं। वैसे ही क्षणिक विज्ञानधारास्वरूप यज्ञदत्तसे भी भिन्न हैं। एक ही प्रकारकी शास्त्राकार मुद्रित पुस्तकोंके न्यारे न्यारे पत्र उसी प्रकारकी किसी भी दूसरी पुस्तकमें पलटे जा सकते हैं। इसी प्रकार बौद्धोंके मतमें देवदत्त, यज्ञदत्त, की आत्माएं अन्वित एक नहीं हैं किंतु न्यारी न्यारी बालुके कणोंके समान न्यारे न्यारे ज्ञानोंका समुदाय है। अतः वासनाओंका संकररूपसे कार्यकारणभाव होनेका दूषण लागू होता है। दोनों संतानोंका भिन्न प्रत्यभिज्ञान भी एकसा है कोई अंतर नहीं है।

यथा नीलवासनया नीलविज्ञानं जन्यते तथा प्रत्यभिज्ञेयं तदेवेदं तादृशमेतदिति वा प्रतीयमाना प्रत्यभिज्ञानवासनयोद्भाव्यते न पुनर्बहिर्भूतेनैकत्वेन सादृश्येन वा येन तद्ग्राहिणी स्यात्। तद्वासना कुत इति चेत्, पूर्वतद्वासनातः, सापि पूर्वस्ववासनाबलादित्यनादित्वाद्वासनासन्ततेरयुक्तः पर्यनुयोगः कथमन्यथा बहिरर्थेऽपि न सम्भवेत् ? तत्र कार्यकारणभावस्यानादित्वात्पर्यनुयोगे पूर्वापरवासनानामपि तत एवापर्यनुयोगोऽस्तु। कार्यकारणभावस्यानादित्वं हि यथा बहिस्तथान्तरमपीति न विशेषः केवलं बहिरर्थोऽनर्थः परिहृतो भवेत् अशक्यप्रतिष्ठत्वात्तस्येति ज्ञानवादिनः।

संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि जैसे नीलकी वासनासे नीलविज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह वही है या यह उसके सदृश है इस प्रकार अनुभवद्वारा जाने गये ये प्रत्यभिज्ञान भी उन प्रत्यभिज्ञानकी वासनाओंसे उत्पन्न कराये जाते हैं। सौत्रान्तिकोंके मतमें ही ज्ञानके विषय कहे गये बहिरंग एकत्व अथवा सादृश्य पदार्थ प्रत्यभिज्ञानोंके कारण माने गये हैं हम योगाचारोंके यहां ज्ञानका कारण विषय नहीं है। एकत्व या सादृश्य करके प्रत्यभिज्ञान नहीं उपजाता है जिससे कि प्रत्यभिज्ञान अपने उन कारणोंको विषय करनेवाला माना जावे।

यदि कोई हम बौद्धोंसे पूंछे कि वे वासनायें कहांसे आयी ? तो हम कहेंगे कि उससे भी पहिले की वासनाओंसे प्रकृत वासनायें पैदा हुयीं हैं और वे भी पहिले की वासनायें उससे भी पहिलेकी अपनी वासनाओंके बल बूतेसे उत्पन्न हुयी हैं। इस प्रकार वासनाओंकी सन्तति अनादि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

से चल रही है। अतः वासनाओंकी उत्पत्तिका प्रश्नरूप कटाक्ष करना हमारे ऊपर युक्त नहीं है अन्यथा यदि ऐसे ही कुत्सित कटाक्ष करते रहोगे तो घट, पट आदिक बहिरंग अर्थोंमें भी जैन-धर्मवालोंके ऊपर हमारा कटाक्ष क्यों नहीं सम्भव होगा ? अर्थात् घटका कारण माना गया कुलाल कहांसे आया ? यदि कुलालके बापसे कुलालकी उत्पत्ति मानोगे तो बताओ ? कुलालका बाप कहांसे आया ? कुलालके बाबासे उसकी उत्पत्ति मानोगे तो अनवस्थादोष होगा। यदि वहां कार्यकारण-भावको अनादि मानकर प्रश्नोंके अवसरको टाल दोगे तो हम बौद्ध भी पहिले पीछे होनेवाली वास-नाओंके ऊपर भी चले हुए प्रश्नोंकी भरमारको हटा देवेंगे कोई कुचोद्य नहीं होओ। जैसे बहिरंग घट, पट, मृत्तिका, कपास, आदिका कार्यकारणभाव अनादिकालसे चला आ रहा है वैसे ही अंतरङ्गके विज्ञान पदार्थ और वासनाओंमें भी अनादिकालसे धाराप्रवाहरूप कार्यकारणभाव विशेष-ताओंसे रहित होकर चला आ रहा है। अंतर केवल इतना ही है कि बहिरंग घट, पट आदिक पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, प्रयोजनसाधक भी नहीं हैं। अतः ज्ञानाद्वैतवादी हम उनका परित्याग कर देते हैं क्योंकि उन बहिरंग पदार्थोंकी प्रमाणोंके द्वारा व्यवस्थिति होना शक्य नहीं है। यहां तक ज्ञानाद्वैतवादी कह रहे हैं।

तेषामपि नेयं प्रत्यभिज्ञा पूर्वस्ववासनाप्रभवा वक्तुं युक्तान्वयिनः पुरुषस्याभावात्, संतानांतरवासनातोऽपि तत्प्रभवप्रसंगात्तन्नानात्वाविशेषात् !

अब आचार्य कहते हैं कि उनका भी यह कहना युक्त नहीं है कि यह प्रत्यभिज्ञा अपने पहिलेकी वासनाओंसे पैदा हुयी है, क्योंकि देखनेवाला और वही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान करनेवाला इतने लम्बे काल तक अन्वितरूपसे रहता हुआ एक आत्मा तुमने माना नहीं है तो फिर यह देव-दत्तके प्रत्यभिज्ञानकी वासना है, यह यज्ञदत्तके ज्ञानकी है, ऐसा नियम कैसे कर सकोगे ? बताओ। यदि यों ही अंटसंट कार्यकारणभाव माना जावेगा तो दूसरे देवदत्त, गुरुदत्त आदि संतानोंकी वास-नाओंसे भी प्रकृत जिनदत्तको उस प्रत्यभिज्ञानके हो जानेका प्रसंग आवेगा। जिस प्रकार चांदीका रुपया सराफ, सुनार, बजाज, जमीदार और राजा इन सबका हो जाता है, वैसे ही भिन्न भिन्न संतानियोंसे न्यारी न्यारी पडी हुयीं वासनायें भी चाहे जिस संतानकी होजानेमें कोई अंतर नहीं रखती हैं। भेद सर्वत्र छा रहा है, ऐसी दशामें चाहे जिसकी वासनाओंसे किसीको भी ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। उन वासनाओंका तो सब जीवोंके साथ समानरूपसे भेद है फिर अनेक संतानोंमें अंतर-रहित भिन्न भिन्न पडी हुई वासनाओंके नियत करानेका उत्तर आपके पास क्या है ? बताओ।

सन्तानैकत्वसंसिद्धिर्नियमात्स कुतो मतः।
प्रत्यासत्तेर्न सन्तानभेदेऽप्यस्याः समीक्षणात् ॥ १८१ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि हमारे यहां एक संतानकी भले प्रकार सिद्धि है जैसे कि आप जैनोंके यहां एक अखण्ड आत्मद्रव्यकी नियत अनादि अनंत पर्यायोंमें धारा बह रही है। अतः

चाहे जिस व्यक्तिकी वासनाएं अन्य दूसरे किसीके प्रत्यभिज्ञानका हेतु नहीं हो सकेंगी, इस पर आचार्य पूंछते हैं कि आप बौद्धोंने एक संतानपनेको किस नियमसे माना है ? बताओ। एकदेशमें सम्बन्ध होनेसे या एक कालमें वृत्ति होनेसे तो नियम बन नहीं सकता है क्योंकि भिन्नसंतानोंमें भी यह देश और कालकी प्रत्यासत्ति बढिया देखी जाती है। भावार्थ—जैसे देवदत्तरूप सन्तानके आगे पीछे होनेवाले पर्यायरूप सन्तानिएं जिस स्थानमें हैं उसी देशमें यज्ञदत्त, जिनदत्तरूप सन्तानोंकी पर्यायें भी चल रही हैं। एवं जिस समयमें देवेदत्तकी सन्तानीरूप पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं, उसी समय जिनदत्त, इन्द्रदत्तकी भी पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं। क्या एक ही समय-में जौहरीकी दुकानमें आये हुए मोती चाहे जिन भिन्न भिन्नमालाओंमें नहीं पिरोये जा सकते हैं ? अर्थात् कोई भी मोती किसी भी मालामें पिरोया जा सकता है। वैसे ही समानदेश और एक कालमें होनेवाले यज्ञदत्त, देवदत्तके भिन्न भिन्न परिणाम चाहे जिस सन्तानमें ढुलकाये जा सकते हैं तथा च विवक्षित एक सन्तानकी ठीक ठीक सिद्धि नहीं हुयी। व्यभिचार या अतिप्रसंग दोष आता है। जिन जीवोंमें ज्ञान या सुख आदि समान देखे जाते हैं उनमें भावप्रत्यासत्ति है यह माननेपर भी व्यभिचार होगा। यों क्षेत्रप्रत्यासत्ति, कालप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्ति तो सन्तानके एकपनका नियम नहीं करा सकती है। एक द्रव्यप्रत्यासत्ति (सम्बन्धा) ही शेष रह जाती है। वही एक सन्तानकी नियामिका हम जैनोंको इष्ट है। क्षणिकवादी अनादि अनंत कालीन, द्रव्यको मानते नहीं है।

व्यभिचारविनिर्मुक्तकार्यकारणभावतः।
पूर्वोत्तरक्षणानां हि सन्ताननियमो मतः ॥ १८२ ॥
स च बुद्धेतरज्ञानक्षणानामपि विद्यते।
नान्यथा सुगतस्य स्यात्सर्वज्ञत्वं कथञ्चन ॥ १८३ ॥

आप बौद्ध यदि व्यभिचारदोषसे सर्वथा रहित हो रहे कार्यकारणभावसे ही पूर्व उत्तरवर्ती संतानियोंके संतान (लडी) हो जानेका नियम मानोंगे तब तो वह निर्दोष कार्यकारणरूप संबंध इन बुद्ध सर्वज्ञ और देवदत्त, यज्ञदत्तके ज्ञानक्षणोंका भी विद्यमान है। बौद्धोंका मंतव्य है कि जो ज्ञानका कारण होता है वही ज्ञानसे जाना जाता है। बुद्धदेव सबको जाननेवाले सर्वज्ञ हैं। बुद्धके ज्ञानमें देवदत्त जिनदत्तके अनेक ज्ञानसंतानिएं भी विषय हो रहे हैं। अतः बुद्धज्ञानके अनेक ज्ञानसंतानीरूप जिनदत्त यज्ञदत्त भी कारण हुए, जैसे बुद्धदेवके पूर्वकालमें होनेवाले अपने परिणाम कारण हैं वैसे ही जिनदत्त, यज्ञदत्तके ज्ञान स्वलक्षण परिणाम भी बुद्धज्ञानमें कारण हैं। अन्यथा यानी यदि जिनदत्त यज्ञदत्तके विज्ञान बुद्धज्ञानके कारण न होते तो बुद्ध उन ज्ञानोंको नहीं जान सकते थे। एवं बुद्धको किसी प्रकार भी सर्वज्ञता नहीं प्राप्त हो सकती थी, किंतु आपने बुद्धको

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सर्वज्ञ माना है तथा च व्यभिचारदोषसे रहित कार्यकारणसंबंध सुगतके ज्ञान और संसारी जीवोंके ज्ञानमें भी विद्यमान है। यों तो कार्यकारणरूप दोनों संतानी ज्ञानोंकी धारामें मिल जानेसे सुगत और संसारी जीवोंकी भी एक संतान बन बैठेगी, जो कि तुमको भी इष्ट नहीं ॥

संतानैक्यात्पूर्ववासना प्रत्यभिज्ञाया हेतुर्न संतानांतरवासनेति चेत्, कुतः संतानैक्यम् ? प्रत्यासत्तेश्चेत्, साप्यव्यभिचारी कार्यकारणभाव इष्टस्ततो बुद्धेतरक्षणानामपि स्यात्, न च तेषां स व्यभिचरति बुद्धस्यासर्वज्ञत्वापत्तेः। सकलसत्त्वानां तदकारणत्वे हि न तद्विषयत्वं स्यान्नाकारणं विषय इति वचनात्।

उक्त कारिकाओंका विवरण करते हैं कि संतान एक है इस कारण देवदत्तकी पूर्ववासनाएं ही देवदत्तमें होनेवाले प्रत्यभिज्ञानका कारण बनेंगी। जिनदत्त, यज्ञदत्त आदि दूसरी भिन्नसंतानोंकी वासनाएं देवदत्तके प्रत्यभिज्ञानका कारण नहीं हो पाती हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि तुम बौद्ध ऐसा कहोगे तो जैन हम पूछते हैं कि संतानका एकपन किससे सिद्ध करोगे ? बताओ, अन्वितद्रव्यको नहीं माननेवालों पर यही कठिन प्रश्न है। यदि किसी विशेष एक सम्बंधसे संतान की एकता मानोगे तो दैशिक सम्बंध, कालिक सम्बंध, और भावप्रत्यासत्ति के अतिरिक्त आपने वह सम्बंध भी व्यभिचाररहित कार्यकारणभाव ही इष्ट किया है किंतु उस सम्बंधसे तो बुद्ध और संसारीजीवोंके ज्ञानसंतानियोंकी भी एक संतान बन जावेगी, क्योंकि बुद्धज्ञान और उसके ज्ञेय संसारी जीवोंके ज्ञानक्षणोंमें कार्यकारणभाव सम्बंध विद्यमान है। उनका वह सम्बंध व्यभिचारदोषयुक्त भी नहीं हैं, यदि ऐसा होता यानी इतर जीवोंके ज्ञान बुद्धज्ञानके कारण न बनते तो आपके बुद्ध भगवान् सर्वज्ञ ही नहीं होने पाते, अर्थात् आपके मतानुसार विज्ञानरूप सम्पूर्णजीव सुगतज्ञानके कारण हैं। यदि वे कारण न होते तो सुगत उनको अपने ज्ञानका विषय नहीं कर पाते, क्योंकि आपका सूत्रवचन है कि " नाकारणं विषयः " जो ज्ञानका कारण नहीं है। वह ज्ञानका विषय भी नहीं है।

सकलसत्त्वचित्तानामालम्बनप्रत्ययत्वात् सुगतचित्तस्य न तदेकसन्तानतेति चेन्न, पूर्वस्वचित्तैरपि सहैकसन्तानतापायप्रसक्तेस्तदालम्बनप्रत्ययत्वाविशेषात्।

बौद्ध कहते हैं कि ज्ञानके कारण तीन प्रकारके होते हैं। उपादानकारण, निमित्तकारण और अवलम्ब कारण। उनमें पूर्वक्षणवर्ती ज्ञानपरिणामको उत्तरक्षणवर्ती ज्ञानका उपादान कारण माना है। इंद्रियां, प्रकाश, हेतु, अविद्याक्षय, आदि निमित्तकारण हैं और ज्ञानका जानने योग्य विषय उसका अवलम्बकारण है। अवलम्बकारण कारककारणोंके समान प्रेरक नहीं है। जैसे बादल या शाखाओंमें द्वितीयाके चंद्रमाको देखो ? यहां बादल या वृक्षकी शाखा उस चंद्रमाके ज्ञानमें केवल अवलम्बकारण है। प्रधानकारण पूर्वज्ञान और इंद्रियां ही हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विज्ञान भी सुगतज्ञानके अवलम्बन कारण हैं। जैसे बुड्ढे मनुष्यको गमन करनेमें लठियाका सहारा है। चलनेकी प्रेरकशक्ति तो बूढेमें विद्यमान है वैसे ही घटका अवलम्ब लेकर घटज्ञान होजाता है उपादान कारणोंके साथ एकसंतान होनेका नियम है। उन अवलम्ब कारणोंकी कार्यके साथ एक संतान बन जाना नहीं होता है। अतः बुद्धदेवकी संसारीजीवोंके साथ एक संतान नहीं है। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञानके विषय होवेंगे उनको केवल अवलम्ब (सहारा) देनेवाला कहोगे और उनके साथ ज्ञानकी एक संतान न मानोगे तो बुद्धके स्वकीयज्ञानोंके साथ भी सुगतकी एकसंतान होजाना न बन सकेगा, कारण कि इतर पदार्थोंके समान सुगतके पूर्वज्ञानक्षण भी सुगतज्ञानमें विषय पड चुके हैं। अतः वे अवलम्ब कारण हैं कोई अंतर नहीं है। अन्यथा सुगत अपने पूर्ववर्ती ज्ञानोंको न जान सकेगा तथा च फिर भी बुद्धको सर्व पदार्थोंका ज्ञातापन न हुआ।

समनन्तरप्रत्ययत्वात् स्वपूर्वचित्तानां तेनैकसंतानतेति चेत्, कुतस्तेषामेव समनन्तरप्रत्ययत्वं न पुनः सकलचित्तानामपीति नियम्यते? तेषामेकसंतानवर्तित्वादिति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः, सत्येकसंतानत्वे पूर्वापरसुगतचित्तानामव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तस्मिन्सति तदेकसंतानत्वमिति।

सुगतके पूर्वज्ञानक्षणोंमें जैसे आलम्बन कारणपन है। उसी प्रकार अव्यवहित पूर्ववर्ती होनेके कारण उपादानकारणपन भी है। उस कारण सुगतका अपने सम्पूर्ण पूर्वचित्तक्षणोंके साथ एक संतानपना बन जावेगा। ग्रंथकार कह रहे हैं कि यदि आप बौद्ध ऐसा कहेंगे तो हम पूंछते हैं कि जब अव्यवहित पूर्ववर्ती होकर जैसे सुगतके पूर्वज्ञानक्षण कारण बन गये हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके ज्ञान भी नियमसे व्यवधानरहित पूर्वक्षणवर्ती होकर बुद्धज्ञानके कारण बने हैं। तो फिर उन सुगतके क्षणोंको ही अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती होनेके कारण उपादानता मानी जावे किन्तु फिर सम्पूर्ण प्राणियोंके चित्तोंकी भी उपादानता न मानी जावे। इस प्रकार पक्षपातग्रस्त आप कैसे नियम कर सकते हैं? यदि आप इसका उपाय यह करें कि वे सुगतके पूर्वउत्तरवर्ती ज्ञानरूपक्षण एक सन्तानमें पडे हुए हैं। अतः उनकाही परस्परमें कार्यकारणपन है। संसारी जीवोंके चित्तोंके साथ व्यवधानरहित कारणपना नहीं है ऐसा बौद्धोंके कहनेपर तो यह वही प्रसिद्ध अन्योन्याश्रय दोष है। जब एक सन्तानपन सिद्ध हो जावे, तब तो सुगतके आगे पीछे होनेवाले चित्तोंकाही व्यभिचाररहित कार्य कारणभाव सिद्ध होवे और जब सुगतचित्तोंकाही वह अव्यभिचारी कार्यकारण भाव सिद्ध हो चुके, तब कहीं उनहीमें एक संतानपना सिद्ध होवे, इस प्रकार परस्परमें एकको दूसरेका आसरा पकडनेके कारण परस्पराश्रय दोष हुआ। ताली गृहके भीतर रह गई और विना तालीकेही ताला बाहरसे लगा दिया। अब गुजराती ताला कब खुले? जब ताली मिल जावे और ताली कब मिले? जब ताला खुल जाय। यही दशा यहां हुई।

ततः पूर्वक्षणाभावेऽनुत्पत्तिरेवोत्तरक्षणस्याव्यभिचारी कार्यकारणभावोऽभ्युपगन्तव्यः। स च स्वचित्तैरिव सकलसत्त्वचित्तैरपि सहास्ति सुगतचित्तस्येति कथं न तदेकसंतानापत्तिः ?

उस कारण इस दोषको हटानेके लिये आपको यही उपाय अङ्गीकृत करना पडेगा कि पूर्ववर्ती पर्यायरूप क्षणोंके विना उत्तरवर्ती पर्यायोंकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। यही व्यभिचारदोषरहित कार्यकारणभाव है। इससे अन्योन्याश्रय दोषका तो वारण हो गया क्योंकि आप बौद्धोंने एकसंतानपनेसे कार्यकारणभाव नहीं माना है अन्वयव्यतिरेकसे माना है। किंतु वह कार्यकारणभाव तो सुगतके चित्तका अपने पूर्व उत्तरभावी चित्तोंके समान सम्पूर्ण जीवोंके विज्ञानोंके साथ भी है। फिर यों सुगतकी और उन इतर जीवोंकी एकसंतान हो जानेका प्रसंग क्यों नहीं आवेगा ? इस प्रसंगका वारण आप नहीं कर सके।

स्वसंवेदनमेवास्य सर्वज्ञत्वं यदीष्यते।
संवेदनाद्वयास्थानाद्धता संतानसंकथा ॥ १८४ ॥

बौद्ध कहते हैं कि संसारी जीवोंके ज्ञानोंकी सुगतज्ञानोंके साथ एक संतान न बन जावे, इस लिए इस सुगतकी सर्वज्ञताका हम यह अर्थ इष्ट करते हैं कि बुद्ध भगवान् अपनी संतानोंको ही जानते हैं। घट, पट आदिक या देवदत्त, यज्ञदत्तके ज्ञानोंको नहीं जानते हैं। संसारी जीवोंको जाननेके कारण ही संतानसंकर होनेका प्रसंग आया था किंतु हमने चोरकी नानीको हटा दिया। "न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी" अब आचार्य कहते हैं कि यदि तुम ऐसा इष्ट करोगे तो अकेले ज्ञानके अद्वैतकी श्रद्धा हो जानेके कारण संतानकी समीचीन कथा करना तो उडा दिया गया, फिर आप पूर्वके कथनानुसार संतानकी एकतासे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होनेके लिए वासनाओंका नियम कैसे कर सकोगे ? बताओ। यों तो देवदत्त, जिनदत्तकी संतान कहना तथा सर्वज्ञ मानना यह आपका ढकोसला निकला।

न ह्यद्वये संतानो नाम लक्षणभेदे तदुपपत्तेः, अन्यथा सकलव्यवहारलोपात् प्रमाणप्रमेयविचारानवतारात् प्रलापमात्रमवशिष्यते।

विचारो तो सही कि सर्वथा अद्वैत या अभेद माननेपर भला संतान कैसे बनती है ? भिन्न भिन्न लक्षणवाले अनेक संतानियोंके होनेपर उस संतानकी सिद्धि मानी गयी है। अन्यथा यानी यदि आप स्थास, कोष, कुशूल आदि संतानियोंकी या बाल्य, कुमार, युवा, वृद्ध अवस्थारूप संततियोंकी एक मृत्तिका या देवदत्तरूप संतान न मानेंगे तो लोकप्रसिद्ध सम्पूर्ण व्यवहारोंका लोप हो जावेगा। लेना, देना, अपराधीको दंड मिलना, मातृपुत्रव्यवहार या पतिपत्नीभाव सब नष्ट हो जावेंगे। यहांतक कि यह प्रमाण है और यह उस प्रमाणसे जाना गया प्रमेय है ये विचार भी न हो सकेंगे।

संसारमें केवल बकवादपना छा जावेगा। समीचीन व्यवहार कोई भी शेष न रहेगा। प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता, वाद, संवाद, पुण्यक्रियायें करना आदि कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अभ्युपगम्य वाऽव्यभिचारि कार्यकारणभावं सुगतेतरसन्तानैकत्वापत्तेः सन्तान-नियमो निरस्यते। तत्त्वतस्तु स एव भेदवादिनोऽसम्भवी केषांचिदेव क्षणानामव्यभिचारी-कार्यकारणभाव इति निवेदयति—

बौद्धोंने प्रथम तो अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचारसे रहित कार्यकारणभावको स्वीकृत किया है और जब हमने बुद्धसन्तान तथा संसारीजीवोंकी संतानके एक हो जानेकी आपत्तिका प्रसंग दिया। तब इस दोषके डरसे संतानके नियमका खण्डन कर दिया है यह बौद्धोंकी व्यर्थ बकवाद है। वास्तवमें विचारा जाय तो पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंमें सर्वथा भेदको कहनेवाले बौद्धके वह कार्यकारणभाव बनना ही असम्भव है। जब कि स्याससे कोष भिन्न है और कुशूल भी भिन्न है तब कुशूलका कारण कोष ही क्यों है? स्यास क्यों नहीं? तन्तु भी कारण क्यो नहीं है? बताओ। इस प्रकार किन्हीं एक विवक्षितपर्यायोंमें ही व्यभिचाररहित कार्यकारणभाव नहीं संभवता है; आचार्यमहाराज इसी बातको बौद्धोंके प्रति निवेदन करते हैं।

कथञ्चाव्यभिचारेण कार्यकारणरूपता।
केषाञ्चिदेव युज्येत क्षणानां भेदवादिनः॥ १८५॥

पूर्व, अपर, कालमें होनेवाली स्वलक्षण पर्यायोंका सर्वथा भेद मानते रहनेकी टेववाले बौद्धके मतमें किन्हीं विशिष्ट पर्यायोंका ही परस्परमें व्यभिचारदोषरहित कार्यकारणस्वरूपपना कैसे युक्त हो सकता है? बताओ, यानी नहीं, क्योंकि घट, पट, पुस्तक आदि तथा देवदत्त, जिनदत्त आदि की पर्यायें अपनी अपनी पूर्व उत्तरवर्ती पर्यायोंसे और अन्य द्रव्योंकी दूसरी पर्यायोंसे एकसा भेद रखती हैं। सभीमें सर्वथा भेद रहनेके कारण नियम करनेवाला कोई नहीं है।

कालदेशभावप्रत्यासत्तेः कस्यचित्केनचिद्भावाद्भावेऽपि व्यभिचारान्न भेदैकांतवादि-नामव्यभिचारी कार्यकारणभावो नाम, तथाहि—

यद्यपि किन्हीं किन्हीं पर्यायोंमें पूर्ववर्ती पर्यायसे उत्तरवर्ती पर्यायका अव्यवहित उत्तरकालमें होनारूप कालिकसम्बंध है जोकि कार्य और कारणोंके लिये उपयुक्त है। तथा किन्हीं पूर्व उत्तर पर्यायोंका एक देशमें ठहरनारूप दैशिक सम्बन्ध है। एवं लम्बाई चौडाई की समानता या ज्ञान, सुख, दुःख आदिक की समानता होनेसे किन्हीं किन्हीं पर्यायोंमें भावरूपसम्बंध भी है। तथापि उक्त तीनों सम्बंधोंका व्यभिचार देखा जाता है। विवक्षितकार्यके पूर्वसमयमें अन्य भी अनेकपर्यायें हैं उस देशमें भी अन्य कई पर्यायें उपस्थित हैं। एकसा ज्ञान या सुख भी अनेक व्यक्तियोंमें

देखा जाता है इस कारण सर्वथा भेदका एकांत माननेवाले बौद्धोंके मतमें व्यभिचाररहित कार्यकारण भाव कैसे भी नहीं बनता है। इसी बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं—द्रव्यप्रत्यासत्तिको नहीं मानकर व्यर्थ चाहे जितना भटकते फिरो।

कालानन्तर्यमात्राच्चेत्सर्वार्थानां प्रसज्यते।
देशानन्तर्यतोऽप्येषा किन्न स्कन्धेषु पंचसु ॥ १८६ ॥
भावाः सन्ति विशेषाच्चेत् समानाकारचेतसाम्।
विभिन्नसन्ततीनां वै किं नेयं सम्प्रतीयते ॥ १८७ ॥

यदि केवल कालके अव्यवहितपनेसे पूर्वपर्यायको उत्तरपर्यायका कारण मानोगे तो घटके पूर्व समयका परिणाम उसके अनन्तर उत्तरकालमें होनेवाले ज्ञान, सुख, पट, पुस्तक आदि सभीका उपादानकारण बन जावेगा अथवा पटका पूर्वकालवर्ती परिणाम उत्तरकालमें होनेवाले घटका उपादान कारण हो जानेका प्रसङ्ग आवेगा, इस प्रकार आगे पीछे होनेवाले सम्पूर्ण अर्थोंको सबके उपादान उपादेयपनेका अतिप्रसंग दोष आता है। यदि आप देशके व्यवधानसे रहित पर्यायोंमें परस्पर कार्यकारणभाव मानोगे तो भी एक देशमें रखे हुए रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार इन पांच स्कन्धों में भी यही परस्पर कार्यकारणभाव क्यों न हो जावे? क्योंकि इन सबका देश अभिन्न है। वायु, घाम, आकाश और धूल का भी आपसमें कार्यकारणभाव हो जाना चाहिये। एक आकाशके प्रदेशपर छहों द्रव्य विद्यमान हैं क्षेत्रप्रत्यासत्ति होजानेका कारण उनका भी उपादान उपादेयपना हो जावेगा, जो कि आपको इष्ट नहीं है।

यदि आप विशेष (खास) भावप्रत्यासत्तिसे किन्हीं विशिष्टपर्यायोंमें ही कार्यकारण भावका नियम मानोगे तब तो एक घटको ही समान आकारधारी अपने अपने भिन्न भिन्न ज्ञानोंसे जाननेवाले देवदत्त, जिनदत्तके ज्ञानोंमें भी यह कार्यकारणभाव क्यों नहीं देखा जाता है? परस्परमें भला जिन जिन संतानोंका ज्ञान, सुख, दुःख समान है तथा जो घट, पट आदिके रूप, रस लम्बाई चौडाई आदिमें एकसे प्रतीत हो रहे हैं उनमें भी भावरूपसे संबंध विद्यमान है। अतः उनमें भी एक दूसरेकी यह कार्यताकारणता बन बैठेगी, जो कि सभीको अनिष्ट है। कार्यकारणभावकी नियत हो रही प्रक्रियाका लोप हो जावेगा।

यतश्चैवमव्यभिचारेण कार्यकारणरूपता देशानन्तर्यादिभ्यो नैकसन्तानात्मकत्वाभिमतानां क्षणानां व्यवतिष्ठते तस्मादेवमुपादानोपादेयनियमो द्रव्यप्रत्यासत्तेरेवेति परिशेषसिद्धं दर्शयति,—

जिस कारणसे उक्त कथनानुसार यों अव्यवहितकाल, देशका अभेद और पर्यायोंकी समानता आदि स्वरूप देश, काल, भाव प्रत्यासत्तियोंसे एकसंतानरूप मानी गयी स्वलक्षणपर्यायोंका भी परस्परमें व्यभिचाररहित कार्यकारणभाव व्यवस्थित नहीं हो पाता है इस कारणसे ही तो इस प्रकार द्रव्यप्रत्यासत्तिसे ही उपादान उपादेयका नियम परिशेषन्यायसे सिद्ध है। पर्यायोंमें परस्पर चार प्रकारके संबंध हैं। उनमें क्षेत्र, काल और भाव इन तीन संबंधोंमें तो व्यभिचार दोष आता है। शेष रह गया द्रव्यसंबंध, उसीसे उपादान उपादेयकी व्यवस्था ठीक बैठेगी। इसी बातको स्वयं आचार्य महाराज दिखलाते हैं—

एकद्रव्यस्वभावत्वात्कथञ्चित्पूर्वपर्ययः।
उपादानमुपादेयश्चोत्तरो नियमात्ततः,। १८८।

उस द्रव्यप्रत्यासत्ति अनुसार एक अखण्ड अन्वित द्रव्यका स्वभाव होनेके कारण पूर्वकालमें होनेवाली पर्याय तो किसी अपेक्षासे उपादान कारण हैं और उससे उत्तरकालमें होनेवाली पर्याय नियमसे उपादेय है। देवदत्त जिनदत्तका अखण्ड जीवद्रव्य उसकी हर्ष, विषाद, आदि और पूर्व उत्तर जन्मोंकी असंख्य पर्यायोंमें अन्वितरूपसे व्यापक है और पुद्गलद्रव्य अपने मिट्टी, अन्न, खात आदि अवस्थाओंमें अनादिसे अनंत कालतक ओतप्रोत देखा जा रहा है। वस्तुके प्रमाणोंसे प्रतीत होरहे इन स्वभावोंमें कुचोद्यरूप तर्कणायें नहीं चलती हैं। सिंधुनदीकी धार गंगाकी धारमें अन्वित नहीं हो सकती है। जिनदत्तकी कुमार अवस्था देवदत्तकी वृद्ध अवस्थामें संकलित नहीं की जा सकती है। इसी कारण सिद्ध भगवान्‌के केवलज्ञान आदि गुण सिद्धलोकमें विद्यमान कार्माण-वर्गणाओंके रूप, रस, आदिकके साथ एकीभावको प्राप्त नहीं हो सकते हैं और सिद्धक्षेत्रमें विद्यमान वातकायके जीवोंमें लगे हुये कुमतिज्ञानके साथ भी तदात्मक नहीं होते हैं क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ ही अभेदसम्बन्ध है॥

विवादापन्नः पूर्वपर्यायः स्यादुपादानं कथञ्चिदुपादेयानुयायिद्रव्यस्वभावत्वे सति पूर्वपर्यायत्वात्, यस्तु नोपादानं स नैवं यथा तदुत्तरपर्यायः, पूर्वपूर्वपर्यायः कार्यश्च आत्मा वा तदुपादेयाननुयायिद्रव्यस्वभावो वा सहकार्यादिपर्यायो वा।

प्रतिवादीके विचारमें पडा हुआ कोई भी पूर्वकालमें रहनेवाला विवक्षित पर्याय (यह पक्ष है) कथञ्चित् उपादानकारण है (यह साध्य है) क्योंकि किसी अपेक्षासे उपादेय पर्यायोंके पीछे पीछे चलनेवाले द्रव्यका स्वभाव होते संते वह पूर्वकालकी पर्याय है (यह हेतु है) जो उपादान कारण नहीं है। वह तो इस प्रकार उपादेयके अनुयायी द्रव्यका स्वभाव होता हुआ पूर्वपर्यायस्वरूप भी नहीं है। जैसे कि उससे भी उत्तरकालोंमें होनेवाली पर्याय (व्यतिरेक दृष्टांत) अर्थात् विवक्षित

पर्यायके उपादानकारण भविष्यमें होनेवाले परिणाम नहीं हैं। अथवा पूर्वपर्यायसे भी पहिले कालमें होनेवाला चिरतरभूतपूर्वका पर्याय जैसे उपादानकारण नहीं है अथवा स्वयं कार्य जैसे अपना उपादानकारण नहीं है। अथवा जो विवक्षित उपादेयोंमें अनुयायी न रहते हुए द्रव्योंके स्वभावोंको धारण करनेवाले दूसरे उदासीन आत्मा जैसे उपादानकारण नहीं हैं अथवा इंद्रियां, हेतु, शब्द आदिक सहकारी कारणोंकी पर्याय जैसे उपादानकारण नहीं हैं। तभी तो ये पूर्वोक्त दृष्टांत उत्तरवर्ती उपादेयोंमें अन्वय रखनेवाले द्रव्यके स्वभाव होकर पूर्वपर्यायस्वरूप नहीं हैं (ये सब व्यतिरेक दृष्टांत हैं) इस अनुमानमें उपनय और निगमन सुलभरीतिसे बनाये जा सकते हैं।

तथा विवादापन्नस्तदुत्तरपर्याय उपादेयः कथञ्चित्पूर्वपर्यायानुयायिद्रव्यस्वभावत्वे सत्युत्तरपर्यायत्वात्। यस्तु नोपादेयः स नैवं यथा तत्पूर्वपर्यायः, तदुत्तरोत्तरपर्यायो वा, पूर्वपर्यायाननुयायिद्रव्यस्वभावो वा, तत्स्वात्मा वा, तथा चासाविति नियमात्, ततः सिद्धमुपादानमुपादेयश्च, अन्यथा तत्सिद्धेरयोगात्।

उपादान उपादेयभावको पुष्ट करनेके लिये दूसरा अनुमान यह है कि विचारकालमें प्राप्त हुयी उस पदार्थ की उत्तर कालकी पर्याय (पक्ष) उपादेय है (साध्य) क्योंकि पूर्वपर्यायोंमें कथञ्चित् अन्वय रखनेवाले द्रव्यका स्वभाव होती हुयी वह उत्तरपर्याय है (हेतु)। जो कोई उपादेय नहीं है, वह इस प्रकार कहे हुए हेतुसे युक्त भी तो नहीं है। जैसे कि उससे भी पहिले कालमें रहनेवाली पर्याय उपादेय नहीं है अथवा उस उत्तरपर्यायसे भी चिरमविष्यकालमें होने वाली उत्तर उत्तर पर्याय जैसे उपादेय नहीं है, अथवा इसकी पूर्वपर्यायोंमें अन्वय न रखनेवाला स्वभाववान् उदासीन दूसरा आत्मा, या पूर्वकी सभी पर्यायोंमें अन्वय रखनेवाला उस द्रव्यका निज आत्मा यानी स्वयं अकेला वही द्रव्य जैसे उपादेय नहीं है अथवा स्वयं उत्तरपर्याय ही अपना उपादेय नहीं है तभी तो पूर्वोक्त ये दृष्टांत विवक्षित पूर्वपर्यायोंमें अन्वय रखनेवाले द्रव्यके स्वभाव नहीं हैं और उत्तरपर्याय भी नहीं हैं (ये व्यतिरेकदृष्टांत है)। और उस प्रकार व्याप्तिसे युक्त हो रहे इस हेतुको धारनेवाला वह पक्ष है अर्थात् पूर्वपर्यायोंमें अनुयायी द्रव्यका स्वभाव होकर उत्तर पर्यायपनेसे युक्त उत्तर पर्याय है (यह उपनय है)। इस प्रकार नियमसे उत्तरपर्याय उपादेय है (निगमन)। उस कारण अब तक उक्त दो अनुमानोंसे उपादान उपादेयभाव सिद्ध हुआ द्रव्यप्रत्यासत्तिके अतिरिक्त दूसरे प्रकारोंसे उन उपादान उपादेयोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

एकसन्तानवर्त्तित्वात्तथानियमकल्पने।
पूर्वापरविदोर्व्यक्तमन्योन्याश्रयणं भवेत्॥ १८९॥
कार्यकारणभावस्य नियमादेकसन्ततिः।
ततस्तन्नियमश्च स्यान्नान्यातो विद्यते गतिः॥ १९०॥

पूर्व कालवर्ती और उत्तरकालवर्ती पर्यायस्वरूपज्ञानोंका एक संतानमें रहना होनेसे उस प्रकार कार्यकारणभावके नियमकी कल्पना करोगे तो स्पष्टरीतिसे बौद्धोंके ऊपर अन्योन्याश्रय दोष लागू होगा, क्योंकि कार्यकारणपनेका जब नियम हो जावेगा तब उससे पूर्वकथनानुसार एक संतानपनेका निर्णय हो सकेगा, और जब एक संतानपनेका निर्णय हो जावे तब उससे आपके इस समयके कथनानुसार वह कार्यकारणभावका निर्णय हो सकेगा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग आपके पास नहीं है, जिसकी कि आप बौद्ध शरण ले सकें। कार्यकारणभावके लिये द्रव्यप्रत्यासत्तिकी ही शरण लेना अनिवार्य होगा अन्य उपाय नहीं हैं ॥

संतानैक्यादुपादानोपादेयताया नियमे परस्पराश्रयणात्सैव माभूदित्यपि न धीरचेष्टितम्, पूर्वापरविदोस्तत्परिच्छेद्ययोर्वा नियमेनोपादेयतायाः समीक्षणात् तदन्यथानुपपत्त्या तद्व्याप्येकद्रव्यस्थितेरिति तद्विषयं प्रत्यभिज्ञानं तत्परिच्छेदकमित्युपसंहरति ॥

बौद्ध कहते हैं कि संतानकी एकतासे उपादान उपादेयपनेका नियम माना जावेगा तब तो अन्यन्योश्रय दोष लगता है इस कारण हम शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी उस उपादान उपादेयभावको ही नहीं मानेंगे। इसपर आचार्य कहते हैं कि दोषोंसे भयभीत होकर अपने मन्तव्यको छोड देना भी धीर वीर पुरुषोंका कार्य नहीं है यह तो अज्ञानी बालकोंकी चेष्टा है। जब कि पहिले और उसके अव्यवहित पीछेके ज्ञानोंमें तथा उन ज्ञानोंके द्वारा जानने योग्य घास, कोष, या बरा, खडुआ आदिमें नियमसे उपादान उपादेय भाव अच्छी तरहसे देखा जा रहा है। इस कारण वह कार्यकारणभाव एक द्रव्यमें तादात्म्यसम्बन्धसे रहनेपनके बिना असिद्ध है। इस अविनाभावके बलसे सिद्ध होता है कि उन पूर्वउत्तर कालवर्ती अनेक ज्ञानोंमें व्यापकरूपसे रहनेवाला गंगानदीके समान एक अन्वितद्रव्य है और उन ज्ञानोंके द्वारा जानने योग्य मृत्तिका, सुवर्ण आदिके पूर्व उत्तर कालमें होनेवाले घास, कोष, खडुआ, बाजू, बरा, ठुस्सी, सतलडो आदि पर्यायोंमें भी अन्वितरूपसे व्यापक एक द्रव्य व्यवस्थित है इस प्रकार उस एक द्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान उस ध्रुवरूपसे व्यापक हो रहे अखण्ड द्रव्यको जान लेता है। इस ढंगसे उक्तप्रकरणका आचार्य महाराज संकोच करते हैं।

तस्मात्स्वावृतिविश्लेषविशेषवशार्तिनः।
पुंसः प्रवर्तते स्वार्थैकत्वज्ञानमिति स्थितम् ॥ १९१ ॥
सन्तानवासनाभेदनियमस्तु क्व लभ्यते।
नैरात्म्यवादिभिर्न स्याद्येनात्मद्रव्यनिर्णयः ॥ १९२ ॥

इस कारणसे यह बात स्थिररूपसे सिद्ध हो चुकी कि बाल्य, कुमार और युवा अवस्थामें व्यापक रहनेवाला वही एक मैं हूं। तथा स्थास, कोष, कुशूल और घट अवस्थाओंमें वही एक मृत्तिका है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान अपनेको रोकनेवाले ज्ञानावरणकर्मसंबंधी विलक्षण वियोग स्वरूप क्षयोपशमके अधीन रहनेवाले पुरुषोंके अपने और एकत्वरूप अर्थको विषय करनेवाले होकर प्रवर्त रहे हैं। यह बात निर्णीत हो चुकी है, आप बौद्ध जन तो एक आत्मद्रव्यको स्वीकार नहीं करते हैं प्रत्युत नैरात्म्यभावनाके अभ्यास करते समय आत्माके अहं भाव और ममभावका आप त्याग कराते हैं। इस प्रकारके आत्मतत्त्वको नहीं माननेकी टेववाले बौद्धोंके मतमें भिन्न भिन्न संतानोंका नियम और भिन्न भिन्न वासनाओंका नियम तो भला कहां मिलेगा ? जिस नियमसे कि आत्मद्रव्यका निर्णय न हो सके। अर्थात् नियमव्यवस्था देखी जाती है विशेष संतानमें ही। विशिष्ट वासनाका उद्बोध माननेपर वहीं प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः एक अखण्ड आत्मा द्रव्य सिद्ध हुआ। नैरात्म्यवादी बौद्धों करके कोई संतानका नियम नहीं किया जा सका।

तस्मान्न द्रव्यनैरात्म्यवादिनां सन्तानविशेषाद्वासनाविशेषाद्वा प्रत्यभिज्ञानप्रवृत्तिस्तन्नियमस्य लब्धुमशक्तेः।

इस कारणसे अखण्ड अन्वित आत्मा द्रव्यकी शून्यताको माननेवाले बौद्धोंके यहां संतान-विशेषसे या वासनाविशेषसे पूर्वापरपर्यायोंमें रहनेवाले एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि यह देवदत्तकी ही संतान है या यह देवदत्तमें ही ज्ञान करानेवाली वासना है। वह वासना भी पूर्वकी नियत वासनाओंसे या नियत ज्ञानोंसे प्रबुद्ध होती है। इत्यादिरूपसे वह नियम करना एक आत्मद्रव्यको माने विना कैसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

किं तर्हि? पुरुषादेवोपादानकारणात् स एवाहं तदेवेदमिति वा स्वार्थैकत्वपरिच्छेदकं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते स्वावरणक्षयोपशमवशादिति व्यवतिष्ठते, तस्माच्च मृत्पर्यायाणामिवैकसन्तानवर्तिनां चित्पर्यायाणामपि तत्त्वतोऽन्वितत्वसिद्धेः सिद्धमात्मद्रव्यमुदाहरणस्य साध्यविकलतानुपपत्तेः।

तब तो प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति कैसे होवेगी ? सो तुम बौद्ध सुनो ! पूर्व उत्तर पर्यायोंके उपादान कारण होरहे एक आत्मा द्रव्यसे ही जो ही मैं बाल्य अवस्था में था, वही मैं कुमार अवस्थामें हूं, अथवा जो ही स्थास अवस्थामें मृत्तिका है वही कुशूलपर्यायमें मिट्टी है इत्यादि प्रकार आत्मा और बहिरङ्ग अर्थोंके एकत्वको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञान प्रवर्त रहे हैं। उक्त सम्पूर्ण अवस्थायें ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमकी अधीनतासे आत्मामें व्यवस्थित बन रही हैं और इस कारणसे अब तक सिद्ध हुआ कि जैसे मृत्तिका की शिवक, छत्र, स्थास, कोष, कुशूल और घट

आदि पर्यायोंमें उपादान होकर मृत्तिका ओतप्रोत प्रविष्ट हो रही है। वैसे ही आत्मा रूप एक संतानमें रहने वाले सुख, दुःख, घटज्ञान, पटज्ञान आदि पर्यायोंमें भी वास्तविक रूपसे आत्माका ओतप्रोत होकर अन्वितपना सिद्ध है। इस कारण अब तक आत्मद्रव्य सिद्ध हो चुका। एकसौ साठवीं वार्तिकमें दिये गये चित्रज्ञानस्वरूप उदाहरणमें अनेक अंशोंमें अन्वितरूपसे व्यापक रहनापन रूप साध्य रह गया, अतः उस उदाहरणको साध्यसे रहितपना सिद्ध नहीं होता है। बौद्धोंके घरका उदाहरण मिल जानेसे प्रकृत साध्य की सिद्धि भले प्रकार हो जाती है। अब नैयायिकोंके साथ शास्त्रार्थ छिडता है।

सिद्धोऽप्यात्मोपयोगात्मा यदि न स्यात्तदा कुतः।
श्रेयोमार्गप्रजिज्ञासा खस्येवाचेतनत्वतः॥ १९३॥

नित्य और अनेक पर्यायोंमें व्यापक हो रहा उपयोगस्वरूप आत्मा सिद्ध भी हो गया किंतु यदि नैयायिक लोग आत्माको ज्ञान और दर्शन स्वरूप न मानेंगे तब उस आत्माके कल्याणमार्गको जाननेकी अभिलाषा कैसे होगी? क्योंकि नैयायिकोंके मतमें आत्मा आकाशके समान अचेतन माना है। भावार्थ—जैसे चेतनास्वरूप न होनेके कारण आकाशके मोक्षमार्गको जाननेकी इच्छा नहीं होती है। उसी प्रकार स्वयं अचेतन जीवात्माके भी मोक्षमार्ग जाननेकी इच्छा नहीं हो सकेगी, जो ज्ञान और इच्छासे तदात्म नहीं है वह मोक्षमार्गको नहीं जानना चाहेगा।

येषामात्मानुपयोगस्वभावस्तेषां नासौ श्रेयोमार्गजिज्ञासा वाचेतनत्वादाकाशवत्।

जिन नैयायिक और वैशेषिकोंके यहां आत्मा उपयोग स्वरूप नहीं माना गया है उनके वह मोक्षमार्गको जाननेकी अभिलाषा भी नहीं हो सकेगी क्योंकि आत्मा तो आकाशके समान स्वयं अचेतन है।

नोपयोगस्वभावत्वं चेतनत्वं किन्तु चैतन्ययोगतः, स चात्मनोऽस्तीत्यसिद्धमचेतनत्वं न साध्यसाधनायालमिति शंकामपनुदति—

नैयायिक कहते हैं कि जैनोंके समान हम उपयोगके साथ तादात्म्यसंबंध रखनेवालेको चेतन नहीं मानते हैं किंतु बुद्धिरूप चैतन्यके समवायसंबंधसे आत्माका चेतन हो जाना मानते हैं। वह ज्ञानका समवाय आत्माके विद्यमान है। इस कारण आपका दिया गया अचेतनत्व हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। वह साध्य माने गये, मोक्षमार्ग जाननेकी अभिलाषाके अभावको साधनेके लिए समर्थ नहीं है। इस प्रकार नैयायिकोंकी शंका अर्थात् जैनोंका समाधान करनेके लिए रखी हुयी हृदयकी शल्यका अब आचार्यमहाराज निराकरण करते हैं।

चैतन्ययोगतस्तस्य चेतनत्वं यदीर्यते ।
खादीनामपि किं न स्यात्तद्योगस्याविशेषतः ॥ १९४ ॥

चैतन्यके संबंधसे वह आत्मा चेतन है यदि नैयायिक ऐसा निरूपण करेंगे तो उस चैतन्यका समवाय तो आकाश, काल आदिकोंके भी समानरूपसे विद्यमान है। फिर आकाश आदिकोंको चेतनपना क्यों नहीं हो जाता है ? बताओ, ।

पुंसि चैतन्यस्य समवायो योगः स च खादिष्वपि समानः, समवायस्य स्वयमविशिष्टस्यैकस्य प्रतिनियमेहेत्वभावादात्मन्येव ज्ञानं समवेतं नाकाशादिष्विति विशेषाव्यवस्थितेः ।

जो ही चैतन्यका पुरुषमें समवाय नामका सम्बन्ध है वही समवाय आकाश, काल आदिकोंमें भी कुछ अन्तर न रखता हुआ समानरूपसे विद्यमान है क्योंकि नैयायिकोंने वास्तविकपनेसे एकही समवायसम्बन्ध इष्ट किया है। विशेषताओंसे रहित वही एक समवाय अपने आप इस प्रत्येकके लिये नियमकी व्यवस्थाका हेतु नहीं हो सकता है कि "आत्मामें ही ज्ञान समवायसंबंधसे वर्तेगा आकाश आदिकोंमें नहीं," जब कि समवाय एक ही है और वह भी सर्वथा भिन्न पडा हुआ है। ऐसी दशामें उक्त प्रकार विशेषरूपसे व्यवस्था नहीं हो सकती है।

मयि ज्ञानमितीहेदं प्रत्ययानुमितो नरि ।
ज्ञानस्य समवायोऽस्ति न खादिष्वित्ययुक्तिकम् ॥ १९५ ॥

नैयायिक कहते हैं कि " यहां यह है " इस प्रकारकी प्रतीति तो सम्बन्धको सिद्ध करती है। मुझ आत्मामें यह ज्ञान है इस आकारवाले प्रत्ययसे भी आत्मामें ही ज्ञानके समवायका अनुमान किया जाता है। परंतु आकाश, काल आदिकमें ज्ञानके समवायका अनुमान नहीं हो सकता है क्योंकि आकाश और ज्ञानका सप्तमी विभक्तिसे युक्त पदके साथ आकांक्षा रखनेवाला प्रथमा विभक्ति युक्त वाक्य बनता नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कहना युक्तियोंसे रहित है। श्रवण कीजिये,

यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययान्न तत्कुण्डादन्यत्र तद्दधिसंयोगः शक्यापादनस्तथेह मयि ज्ञानमितीहेदं प्रत्ययान्नात्मनोऽन्यत्र खादिषु ज्ञानसमवाय इत्ययुक्तिकमेव यौगस्य।

इस वार्तिकका विवरण यों है कि " इस कुण्डमें दही है। " ऐसी प्रतीति होनेके कारण उस कुण्डके अतिरिक्त दूसरे स्थानमें उस दहीके संयोगके प्रसङ्गका आपादन जैसे नहीं दिया जा सकता है वैसे ही " यहां मुझमें ज्ञान है " इस प्रकारके " यहां यह है " इस संबंधके निरू-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पक प्रत्ययसे आत्माके अतिरिक्त आकाश आदिकोंमें भी ज्ञानका समवायसंबंध नहीं बन पाता है। इस प्रकार नैयायिकोंका कहना युक्तियोंसे शून्य ही है। योगदर्शन और न्यायदर्शन ये दोनों स्वतंत्र मत हैं किंतु पदार्थनिरूपण करनेकी परिपाटी बहुभागमें दोनोंकी समान है। अतः नैयायिकको यौग भी कह देते हैं, न्यायका अभिमान करनेवालोंको पक्षपातयुक्त निरूपण नहीं करना चाहिये। हां तो अब समाधान सुनिये।

खादयोऽपि हि किं नैव प्रतीयुस्तावके मते।
ज्ञानमस्मास्विति क्वात्मा जडस्तेभ्यो विशेषभाक् ॥ १९६ ॥

गुण, गुणी और समवायका सर्वथा भेद माननेवाले तुम नैयायिकोंके मतमें आकाश, काल आदि द्रव्य भी क्यों नहीं ऐसा समझ लेवें कि ज्ञान नामक गुण हम आकाश, काल, दिशाओं आदि में समवाय सम्बन्धसे रहता है। इस प्रकार तुम्हारा जड आत्मा उन आकाश आदिकोंसे अंतर रखनेवाला रहा कहां ? अर्थात् ज्ञानके सम्बन्ध होनेके पूर्व आत्मा और आकाश आदि एकसे हैं। जडपने और ज्ञानरहितपनेसे उनमें कोई विशेषता नहीं है।

खादयो ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्तु स्वयमचेतनत्वादात्मवत्। आत्मानो वा मैवं प्रतीयुस्तत एव खादिवदिति।

आकाश, काल आदिक भी (पक्ष) यह समझ लेवें कि ज्ञान हममें समवायसम्बन्धसे वर्तता है (साध्य) क्योंकि जैसे आत्मा (दृष्टान्त) अपने स्वाभाविकरूपसे अचेतन हैं (हेतु) वैसे ही आकाश, काल आदि भी स्वयं अपने डीलसे अचेतन हैं। अथवा स्वयं गांठके अचेतन होनेके कारण आकाश, काल, आदिक तुम्हारे मतानुसार जैसे यह नहीं समझते हैं कि ज्ञानगुण हममें समवेत है वैसे ही उसीसे इसी प्रकार स्वयं अचेतन होनेके कारण आत्मा भी यों नहीं प्रतीति करे कि ज्ञान मुझमें समवायसम्बन्धसे रहता है। मेघ जैसे दरिद्र, धनवान्, मूर्ख, पण्डित तथा राजा आदिके घरमें समानरूपसे बरसता है वैसे ही लक्षण भी पक्षपातरहित वर्तना चाहिये।

जडात्मवादिमते सन्नपि ज्ञानमिहेदमिति प्रत्ययः प्रत्यात्मवेद्यो न ज्ञानस्यात्मनि समवायं नियमयति विशेषाभावात्।

जो नैयायिक सर्वथा भिन्न माने गये चेतनागुणके समवायसे आत्माका चेतन होना स्वीकार करते हैं, स्वरूपसे आत्मा भी घट,पट आदिके समान जड है यों बोलनेकी टेव रखते हैं। उनके मतमें प्रत्येक आत्मासे जानने योग्य यह बुद्धि भलेही हो जावे कि मुझ आत्मामें यह ज्ञान वर्तता है किन्तु यह होती हुयी बुद्धि भी आत्मामें ही ज्ञानके समवायका नियम नहीं करा सकती है क्योंकि आकाश घट, पट आदि जड पदार्थोंसे ज्ञानके समवाय होनेकी आत्मामें कोई विशेषता नहीं है।

नन्विह पृथिव्यादिषु रूपादय इति प्रत्ययोऽपि न रूपादीनां पृथिव्यादिषु समवायं साधयेद्यथा खादिषु, तत्र वा सत्त्वं साधयेत् पृथिव्यादिष्विवेति न क्वचित्प्रत्ययविशेषात्कस्यचिद्व्यवस्था किञ्चित्साधर्म्यस्य सर्वत्र भावादिति चेत् ।

नैयायिक स्वपक्षका अवधारण कर उत्तर देते हैं कि यों तो यहां पृथ्वी, जल और तेजमें रूप है, पृथ्वीमें गंध है, तेजोद्रव्यमें ऊष्णस्पर्श है इत्यादिक प्रत्यय भी पृथिवी आदिकोंमें रूप आदिकोंके समवायको सिद्ध न करा सकेंगे । जैसे कि वे आकाश, काल, आदिकोंमें रूप आदिकोंके समवायको नहीं सिद्ध कराते हैं । अथवा वे प्रत्यय जैसे " पृथ्वी आदिकोंमें रूप आदिक हैं " इस प्रकारकी समझ करा देते हैं वैसे ही वहां आकाश, काल आदिकोंमें भी रूप, रस आदिकका सद्भाव साध कर उनके समवायका बोध करा देवें । ऐसी पोलसे तो किसी भी विशेष प्रत्ययसे कहीं भी किसी धर्मके रहनेकी व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि किसी न किसी धर्मकी अपेक्षासे चाहे जिसमें सदृशपना सर्वत्र विद्यमान है । देवदत्तके पास धन है, पुस्तक है देवदत्तका यज्ञदत्तसे मनुष्यपनेकी अपेक्षा समानधर्मसहितपना भी है । देवदत्तसे रुपया, पुस्तक, गृह भिन्न भी है फिर देवदत्तके उन रुपया पुस्तकोंसे यज्ञदत्त धनवान् और पुस्तकवान् क्यों नहीं बन जाता है ? द्रव्यपन और सत्पना तो समान धर्म सर्वत्र सुलभ है । कहीं किसीसे किसीकी धर्मव्यवस्था माननेपर आत्मामें ज्ञानके समवायकी भी व्यवस्था बन जावेगी फिर यह टंटा क्यों खडा किया जाता है ? अब आचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तो—

सत्यं, अयमपरोऽस्य दोषोऽस्तु, पृथिव्यादीनां रूपाद्यनात्मकत्वे खादिभ्यो विशिष्टतया व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

ठीक है अर्थात् जब तक मैं उत्तर नहीं देता हूं तब तक ठीक है । उत्तर देनेपर तो तुम्हारे कटाक्षके जीर्ण वस्त्रके समान सैकडों टुकडे हो जावेंगे । नैयायिकोंने कहा था " कि पृथ्वी आदिकोंमें रूप आदिकोंके रहनेका भी नियम न हो सकेगा " यह सर्वथा सत्य है । जो पृथ्वी आदि द्रव्योंको रूप, रस, गंध आदिकसे तादात्म्यसंबंध रखते हुए नहीं मानता है उसके मतमें यह दूसरा दोष भी लागू होता है । जैसे " आत्मामें ही ज्ञानका समवाय रखनेके लिये आकाश आदिकोंसे कोई विशेषता नहीं है वैसे ही पृथ्वी, जल, और तेजमें ही रूप है तथा पृथ्वीमें ही गंध है " ऐसी व्यवस्था करनेके लिये आकाश आदिकोंसे विशिष्टताको रखता हुआ कोई नियम भेदवादी नैयायिक नहीं कर सकते हैं । चतुर्वेदी षड्वेदी होनेके लिये चले थे किंतु द्विवेदी ही रह गये नैयायिकोंने एक दोषवारण करनेका प्रयत्न किया था किंतु दूसरा और भी दोष उनके गले लगा ।

स्यान्मतम् । आत्मानो ज्ञानमस्मास्विति प्रतियन्ति आत्मत्वात् ये तु न तथा ते नात्मानो यथा खादयः आत्मानश्चैतेऽहंप्रत्ययग्राह्यास्तस्मात्तथेत्यात्मत्वमेव खादिभ्यो

विशेषमात्मानं साधयति पृथिवीत्वादिवत् । पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादियोगाद्धि पृथिव्यादयस्तद्वदात्मत्वयोगादात्मान इति । तदयुक्तम्, आत्मत्वादिजातीनामपि जातिमदनात्मकत्वे तत्समवायनियमासिद्धेः ।

सम्भव है कि नैयायिकोंका यह मत होवै वह भी होने दो कि " ज्ञान हममें समवायसम्बन्धसे रहता है इस प्रकार जीवात्माएं ही समझती हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे आत्मा हैं (हेतु) जो पदार्थ तो अपनेमें उसप्रकार ज्ञानकी वृत्तिताको नहीं समझते हैं वे जीवात्माएं भी नहीं हैं। जैसे आकाश, काल, घट आदिक जड पदार्थ है (व्यतिरेक दृष्टान्त) मैं मैं इस आकारके ज्ञान-द्वारा ये आत्मा ग्रहण किये जा रहे हैं (उपनय) तिस कारणसे ज्ञान हममें रहता है। इसकी वे दृढ प्रतिपत्ति कर लेते हैं (निगमन) ऐसे पांच अवयववाले अनुमानसे आत्मत्व–हेतुके द्वारा आत्माओंकी आकाश, काल आदिकोंसे विशेषता सिद्ध हो जाती है " जैसे कि पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, आदि जातिओंके द्वारा पृथिवी आदिक द्रव्य उन आकाश आदिकोंसे न्यारे न्यारे सिद्ध कर दिये जाते हैं। देखिये जब कि पृथिवीत्वजातिके सम्बन्धसेही पृथिवीको पृथिवीपना माना है। एवं जलत्वके योगसे जलको जलद्रव्य इष्ट किया है यों नियमितजातियोंके सम्बन्ध हो जानेके कारण द्रव्योंमें संकरपना नहीं आ पाता है। वैसे ही आत्मत्वजातिके योगसे आत्मद्रव्य भी स्वतंत्र निराले सिद्ध हैं। यहांतक नैयायिक कह चुके। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि इस तरह नैयायिकोंका वह प्रतिपादन करना युक्तिशून्य है कारण कि आत्मत्व, पृथिवीत्व, जलत्व, वायुत्व आदि जातियोंको भी उन जातिवाले आत्मा, पृथिवी, जल, वायु, आदिके साथ तदात्मक स्वरूप नहीं मानोगे तो आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वीकार किये गये आत्मत्वका आत्मामें ही समवायसम्बन्ध होवे और उस जलत्वजातिका जलद्रव्यमें ही समवाय होवे इस प्रकारके नियम नहीं बन सकेंगे, क्योंकि न्यायमतानुसार पृथिवी पृथिवीत्व, आत्मा आत्मत्व, जल जलत्व ये सब जाति और व्यक्तियां परस्परमें सर्वथा भिन्न मानी गयी हैं। ऐसी दशामें पृथिवीत्व जाति आत्मा जलको छोडकर पृथिवी द्रव्यमें ही चिपक जाय, उसका नियामक क्या है ? बताओ तथा आत्मत्वजाति इन पृथिवी, आकाशकी उपेक्षा कर आत्मद्रव्यमेंही समवेत हो जावे यह नियम बतानेका तुम्हारे पास क्या उपाय है ? जबतक आप पृथिवी पृथिवीत्वका और आत्मा आत्मत्वका तादात्म्यरूप एकीभाव नहीं मानोगे तबतक ज्ञान और ज्ञानवान्के समान जाति और जातिमान्की व्यवस्था भी न बन सकेगी।

प्रत्ययविशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, स एव विचारयितुमारब्धः परस्परमत्यन्तभेदाविशेषेऽपि जातितद्वतामात्मत्वजातिरात्मनि प्रत्ययविशेषमुपजनयति न पृथिव्यादिषु पृथिवीत्वादिजातयश्च तत्रैव प्रत्ययमुत्पादयन्ति नात्मनीति कोऽत्र नियमहेतुः ?

यदि नैयायिक यों कहें कि आत्मामें ही आत्मत्वजातिके रहनेका विशेषरूपसे ज्ञान हो रहा है। एवं जलमें ही जलत्वजातिकी वृत्तिताका बढिया ज्ञानविशेष हो रहा है। इस कारण आत्मद्रव्यमें आत्मत्वजातिके और जलद्रव्यमें जलत्वजातिके समवायका वह नियम सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार उत्तर कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वही तो विचार करनेके लिये प्रकरण आरम्भ किया गया है अर्थात् आत्मामें ही आत्मत्वजातिके रहनेका विशेष ज्ञान किस कारण होता है ? और वही उत्तर दिया जा रहा है। यह तो वैसा ही न्याय हुआ कि हमने पूंछा, यह घोडा क्यों है ? उत्तर दिया कि क्योंकि यह घोडा है। जब कि जाति और उससे सहित जातिवालोंमें परस्पर अंतररहित सर्वथा भेद विद्यमान है तो भी वह भिन्न पडी हुयी आत्मत्वजाति " आत्मामें रहती है " इस ज्ञानविशेषको तो पैदा करे और पृथिवी, जल, आदिकमें आत्मत्वके रहनेका ज्ञान न करावे इसका क्या कारण है ? बताओ। एवं पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियां भी उन्हीं पृथिवी, जल आदिमें ही उन ज्ञानविशेषोंको यानी पृथिवीमें पृथिवीत्व रहता है इन ज्ञानोंको पैदा करावें, किंतु आत्मामें पृथिवीत्वके रहनेका ज्ञान न करावें इसमें नियम करानेवाला हेतु तुम्हारे पास क्या है ? उसे बतलाओ।

समवाय इति चेत्, सोऽयमन्योन्यसंश्रयः सति प्रत्ययविशेषे जातिविशेषस्य जातिमति समवायः सति च समवाये प्रत्ययविशेष इति।

विशेष नियम करनेका हेतु यदि आप नैयायिक या वैशेषिक समवायसम्बन्ध मानोगे तब तो यह वही अन्योन्याश्रय दोष हुआ क्योंकि समवायसम्बन्ध भी तुम्हारे मतमें भिन्न पडा रहता माना गया है। अतः समवायसम्बन्धके नियम करानेके लिये ज्ञानविशेषकी आवश्यकता पडेगी। तथा च पृथिवीमें पृथिवीत्वका ही विशेषज्ञान होनेपर तो विशेष जाति पृथिवीत्वका उस जातिवाली पृथिवीमें समवायसम्बन्ध सिद्ध होवे और जब पृथिवी पृथिवीत्वका ही समवायसम्बन्ध सिद्ध हो जावे तब पृथिवीमें पृथिवीत्वके रहनेका ज्ञानविशेष सिद्ध होवे ऐसे अन्योन्याश्रय दोषवाले कार्य सिद्ध नहीं होते हैं। नैयायिक और वैशेषिकका इस विषयमें एक ही मत है। अतः हम किसी भी शब्दद्वारा पूर्वपक्षीका यहां उल्लेख कर देते हैं।

प्रत्यासत्तिविशेषादन्यत एव तत्प्रत्ययविशेष इति चेत्, स कोऽन्योऽन्यत्र कथंचित्तादात्म्यपरिणामादिति स एव प्रत्ययविशेषहेतुरर्पितव्यः, तदभावे तदघटनाज्जातिविशेषस्य क्वचिदेव समवायासिद्धेरात्मादिविभागानुपपत्तेरात्मन्येव ज्ञानं समवेतमिहेदमिति प्रत्ययं कुरुते न पुनः खादिष्विति प्रतिपत्तुमशक्तेर्न चैतन्ययोगादात्मनश्चेतनत्वं सिद्धयेत् यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात्।

यदि अन्योन्याश्रय दोषका वारण करनेके लिये किसी न्यारे दूसरे ही विशेषसम्बंधसे उस विशिष्ट ज्ञानके होनेका नियम करोगे, तब तो वह विशेषसम्बंध कथंचित् तादात्म्यसम्बंध-रूप

परिणामके अतिरिक्त और दूसरा क्या हो सकेगा ? तुम ही समझ लो इस कारण वह विशेषसम्बंध ही ज्ञानविशेषका कारण तुमको इष्ट करना चाहिये। उस तादात्म्यसम्बंधके न माननेपर विशिष्ट आत्मद्रव्यमें ज्ञानके रहनेका या पृथिवीमें पृथिवीत्वकी वृत्तिताके उन ज्ञानविशेषोंका होना नहीं घटता है। नैयायिकमतमें जाति और समवायको भी इनके आधारोंसे सर्वथा भिन्न माना गया है। अतः उस भिन्न पडे हुए जातिविशेषका किसी विशेषद्रव्यमें ही समवाय सम्बंध सिद्ध नहीं हो पाता है। जब आत्मत्व और पृथिवीत्वका नियमित समवायसम्बंध सिद्ध नहीं है तो यह आत्मा है, यह पृथिवी है, यह आकाश है, इत्यादि द्रव्योंके विभाग सिद्ध न होवेंगे, ऐसी दशामें आत्मामें ही ज्ञान समवायसंबंधसे रहता है ऐसा " यह यहां है " इत्याकारक ज्ञान आत्मामें ही ज्ञानके समवायको सिद्ध करे, किंतु फिर आकाश, काल, आदिकमें ज्ञानके समवायको सिद्ध न करे, यह भी नहीं समझा जा सकता है। अतः नैयायिकोंका चैतन्यके सम्बंधसे आत्माको चेतनपना सिद्ध नहीं हो सकता है, जिससे कि श्रेयोमार्ग की अभिलाषाके अभावको सिद्ध करनेमें हमारी ओरसे नैयायिकोंके प्रति दिया गया अचेतनत्व हेतु असिद्ध होवे, अर्थात् नैयायिकोंकी मानी हुयी आत्मामें अचेतन हो जानेके कारण मोक्षमार्गकी अभिलाषा होना नहीं बनता है।

प्रतीतिः शरणं तत्र केनाप्याश्रीयते यदि।
तदा पुंसश्चिदात्मत्वं प्रसिद्धमविगानतः ॥ १९७ ॥
ज्ञाताहमिति निर्णीतेः कथञ्चिच्चेतनात्मताम्।
अन्तरेण व्यवस्थानासम्भवात् कलशादिवत् ॥ १९८ ॥

यदि किसी भी नव्य नैयायिक या प्राचीन नैयायिकके द्वारा लोकप्रसिद्ध प्रतीतियोंकी शरण लेनेका सहारा लिया जावे, तब तो आत्माको चेतनस्वरूपपना निर्दोषरूपसे प्रसिद्ध है। मैं ज्ञाता हूं इस प्रकारके निर्णय कथंचित् चेतनस्वरूप आत्माको माने विना व्यवस्थित नहीं होते हैं। जैसे कि जड घट, पट, आदिक " मैं ज्ञाता हूं " " मैं चेतन हूं " ऐसा निर्णय नहीं कर सकते हैं, किंतु आत्मा " मैं ज्ञ हूं " ऐसा निर्णय कर रहा है। यह बात अनेक जीवोंमें स्वयं प्रसिद्ध हो रही है। ऐसी प्रतीतिसिद्ध बातको मान लेना चाहिये।

प्रतीतिविलोपो हि स्याद्वादिभिर्न क्षम्यते न पुनः प्रतीत्याश्रयणम्, ततो निःप्रतिद्वन्द्वमुपयोगात्मकस्यात्मनः सिद्धेर्न हि जातुचित्स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगाच्चेतनोऽचेतने च मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः।

बालगोपालों तकमें भी प्रसिद्ध होरहीं प्रतीतियोंका लोपना तो हम स्याद्वादियोंके द्वारा कैसे भी सहन नहीं किया जा सकता है। हां ! फिर प्रतीतिओंके अवलम्ब लेनेका हम लोप नहीं करते

हैं। उस कारणसे प्रतीतिके अनुसार उपयोगस्वरूप आत्माकी सिद्धि बाधारहित हो रही है। इस प्रकारकी प्रतीति कभी आज तक नहीं हुयी कि " मैं स्वयं तो मूलमें अचेतन हूं और चेतना बुद्धिके समवायसे चेतन हो जाता हूं, हां अचेतन होरहे मुझमें चेतनाका समवायसंबंध हो जाता है। " किंतु इसके विपरीत " मैं चेतन हूं " ऐसी प्रतीति हो रही है तथा " मैं ज्ञाता हूं " ऐसी ज्ञातापन और अहंपनेकी आत्मारूप समान अधिकरणमें ठहरे रहनेरूपसे प्रतीति हो रही है। इससे भी आत्मा स्वयं चेतन सिद्ध हो जाता है। चेतनपन, ज्ञातापन, अहंपन ये तीनों एक ही आत्मा नामक अधिकरणमें निवास करते हैं।

भेदे तथा प्रतीतिरिति चेन्न कथञ्चित्तादात्म्याभावे तददर्शनात् यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् इष्टा न पुनस्तात्त्विकी।

यदि यहां नैयायिक यों कहें कि इस प्रकार समान अधिकरणपना तो भिन्न दो पदार्थोंमें हो रहा प्रतीत होता है। जैसे कि कम्बल नीला है, फूल सुगंध युक्त है। यहां कम्बल और नील का भेद है, सुगन्धसे फूल भिन्न है, ऐसे ही आत्मा ज्ञाता है। यहां भी भेद होनेपर ही समान अधिकरणपनेकी प्रतीति हो सकती है। निरुक्ति यों है कि समान है अधिकरण जिन दो, तीन, आदि पदार्थोंका उन पदार्थोंको समानाधिकरण कहते हैं और उनका भाव समानाधिकरणता बोली-जाती है। आचार्य कह रहे हैं कि यह नैयायिकका कहना तो ठीक नहीं। है क्योंकि कथञ्चित्तादात्म्यसम्बंधके बिना ठीक समानाधिकरणता नहीं देखी जाती है। कम्बल और नीले रङ्गका तथा फूल और सुगंधका अभेद होनेपर ही समान अधिकरणपन है। सर्वथा भिन्न ठहर रही अयोध्या और गिरनार पर्वतमें सामानाधिकरण्य नहीं है। यद्यपि कहीं कहीं भेद होनेपर भी समान अधिकरणकी प्रतीति देखी गयी है। जैसे कि 'यष्टिः पुरुषः' लठियावाले पुरुषको लठिया कह देना, अथवा टोपीवाले और इक्केवालेको टोपी या इक्कासे पुकारना होता है इत्यादि, किंतु यहां भेद होते संते केवल व्यवहारसे समानाधिकरणप्रतीति इष्ट की है। हां फिर परमार्थरूपसे लकडी और लकडीवालेमें समानाधिकरणता नहीं देखी गयी है। लठियाका अधिकरण पुरुष है और पुरुषका अधिकरण भूतल है। यों तो 'अग्निर्माणवकः' चंचल क्रोधी बालकको अग्नि कह देते हैं। बोझ ढोनेवाले पलेदारको बैल कह देते हैं 'गौर्वाहीकः' यह सब उपचार है। अतः कथञ्चित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होरहे पदार्थमें समानाधिकरणत्व माना गया है। आत्मा और ज्ञानमें द्रव्यरूपसे अभेद है और पर्याय, पर्यायीपनसे भेद है। यही तो समानाधिकरण होनेका प्राण है॥

तथा चात्मनि ज्ञाताहमिति प्रतीतिः कथञ्चिच्चेतनात्मतां गमयति, तामन्तरेणानुपपद्यमानत्वात् कलशादिवत्। न हि कलशादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति।

हां तो उस कारणसे आत्मामें " मैं ज्ञाता हूं " ऐसी प्रतीति हो रही है वह कथञ्चित् चेतनात्मकताको सिद्ध करा देती है क्योंकि आत्माको वैसा चेतनस्वरूप माने बिना वह प्रतीति होना

नहीं बन सकता है। जैसे घट, पट आदिकमें वैसी ज्ञप्ति नहीं होती है। वे घट, पट आदिक स्वयं चेतन न होनेके कारण " हम ज्ञाता हैं " ऐसी प्रतीति नहीं करते हैं ॥

चैतन्ययोगाभावादसौ न तथा प्रत्येतीति चेत्, चेतनस्यापि चेतनायोगाच्चेतनोहऽमिति प्रतिपत्तेर्निरस्तत्वात्।

यदि नैयायिक यों कहें " कि चैतन्यका संबंध होनेके कारण वे घट, पट आदिक अपनेको ज्ञातापनकी वैसी प्रतीति नहीं करते हैं किंतु आत्मा चैतन्यके योगसे ज्ञातापनेकी प्रतीति कर लेता है " ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि चेतन आत्माके भी चैतन्यगुणके समवायसंबंधसे मैं चेतन हूं ऐसी प्रतिपत्ति होनेका हम खण्डन कर चुके हैं। चैतन्यके संबंधसे चैतन्यवान् प्रतीति भले ही हो जाय किंतु " चेतन हूं " यह प्रतीति नहीं होती है। फिर आप बार बार उसी बातको क्यों दुहराते हैं। वावदूकता अच्छी नहीं लगती है।

ननु च ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदोऽन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनतद्वतोर्भेदाभावानुषङ्गादिति कश्चित् तदसत्।

नैयायिक सशंक स्वपक्षका अवधारण करते हुए कहते हैं कि मैं ज्ञानवाला हूं, इस प्रकारके निर्णयसे तो आत्मा और ज्ञानमें भेद प्रतीत हो रहा है। मतुप् प्रत्यय भेदमें हुआ करता है। यदि ऐसा न मानकर अन्य प्रकार मानोगे तो देवदत्त धनवाला है, इस प्रतीतिसे भी धन और धनवान्का भेद नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक नैयायिक कह रहा है। उसका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। जब कि—

ज्ञानवानहमित्येष प्रत्ययोऽपि न युज्यते।
सर्वथैव जडस्यास्य पुंसोऽभिमनने तथा ॥ १९९ ॥

सर्वथा भेद होनेपर तो मतुप् प्रत्यय भी नहीं उतरता है। तभी तो विन्ध्यपर्वतवान् सह्य पर्वत है या पुण्यवान् आकाश है, ये प्रयोग सत्य नहीं माने गये हैं। यदि इस आत्माको सर्व प्रकारसे ही जड है यों आग्रहसहित माना जावेगा। वैसे तो मैं ज्ञानवान् हूं यह उस प्रकारकी प्रतीति होना भी युक्तिपूर्ण नहीं है।

ज्ञानवानहमिति नात्मा प्रत्येति जडत्वैकांतरूपत्वाद् घटवत्, सर्वथा जडश्च स्यात् आत्मा ज्ञानवानहमिति प्रत्येता च स्याद्विरोधाभावादिति मा निरणैषीस्तस्य तथोपपत्त्यसम्भवात्। तथाहि—

" मैं ज्ञानवान् हूं " इस बातको आत्मा नहीं जान सकता है क्योंकि न्यायमतमें घटके समान आत्माको एकांतरूपसे जडस्वरूप माना गया है। वैशेषिकोंने आत्मामें आत्मत्वजाति और

ज्ञानगुणका समवाय तो पीछे हुआ माना है, फिर मूलमें घटके समान आत्मा जड ही ठहरा, तुम नैयायिक ऐसा निर्णय नहीं कर लेना कि आत्मा सर्वप्रकारसे जड भी बना रहे और " मैं ज्ञानवान् हूं " इस बातको भी समझ लेवे, क्योंकि हम भेदवादियोंका मंतव्य है कि जड होनेमें और समझनेवाला होनेमें कोई विरोध नहीं है। आचार्य कह रहे हैं कि उस आत्माको उस प्रकार नैयायिकोंके यहां निर्णय करनेकी उपपत्ति होना नहीं सम्भव है। इसी बातको प्रसिद्ध कर कहते हैं जड आत्मा तदात्मक प्रमाण द्वारा स्व को ज्ञानवान् पनेकी प्रतीति नहीं कर सकता है॥

ज्ञानं विशेषणं पूर्वं गृहीत्वात्मानमेव च।
विशेष्यं जायते बुद्धिज्ञानवानहमित्यसौ॥ २००॥
तद्ग्रहीतिः स्वतो नास्ति रहितस्य स्वसंविदा।
परतश्चानवस्थानादिति तत्प्रत्ययः कुतः॥ २०१॥

विशिष्ट बुद्धिके उत्पन्न होनेके प्रथम विशेषण और विशेष्यके जाननेकी आवश्यकता है। " घटवान् भूतल है " यह प्रत्यय घट विशेषण और भूतल विशेष्यके ग्रहण करनेपर होता है " विशिष्टबुद्धिर्विशेषणविशेष्यसंबंधविषया " विशिष्ट बुद्धि होनेका यही क्रम है। प्रकृतमें ज्ञानविशेषणको पहिले ग्रहण कर और आत्मा स्वरूप विशेष्यको ग्रहण कर ही " मैं ज्ञानवान् हूं " इस प्रकारकी वह बुद्धि उत्पन्न होसकती है। अब उस ज्ञानका ग्रहण आत्माके अपने आपसे तो होता नहीं है, क्योंकि आपने आत्मा और ज्ञानको स्वसंवेदनसे रहित हो रहा माना है। नैयायिकोंने आत्माका वेदन, और ज्ञानका ज्ञान, स्वसंवेदनसे अपने आप होना इष्ट नहीं किया है, ऐसी दशामें जिस ज्ञानसे आत्मा विशिष्ट हो रहा है, उस ज्ञानको ज्ञानके अतिरिक्त कौन जानेगा? यदि दूसरे ज्ञानसे विवक्षित ज्ञानका ज्ञान होना मानोगे तो अनवस्था दोष आवेगा। क्योंकि दूसरे ज्ञानको तीसरे ज्ञानसे, और तीसरेको चौथे ज्ञानसे, जाननेपर आकांक्षा बढती ही जावेगी। " नाज्ञातं ज्ञापकं नाम " जो स्वयं ज्ञात नहीं हुआ है, वह दूसरे प्रमेयका ज्ञापक नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्थामें उस ज्ञानरूपविशेषणकी प्रतीति कैसे होवेगी? बताओ। जिससे कि ज्ञान और आत्माका ग्रहण होकर पैदा होनेवाली " मैं ज्ञानवान् हूं " यह विशिष्टबुद्धि उत्पन्न हो सके।

येषां नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति मतं श्वेताच्छ्वेते बुद्धिरिति वचनात्तेषां ज्ञानवानहमिति प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानारव्ये विशेषणे विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात्।

जिन नैयायिकोंका यह माना हुआ सिद्धांत है कि विशिष्टका ज्ञान तब उत्पन्न होता है, जब कि पूर्वमें विशेषण और विशेष्य दोनोंको जान लिया जाय, तथा विशेष्यज्ञान तब होगा जब

कि विशेषणका ग्रहण कर लिया जावे, विना विशेषणके ग्रहण किये विशेष्यमें बुद्धि नहीं हो पाती है। उनके यहां ऐसा कहा है कि धौला कपडा है यह बुद्धि धौलेरूपको पहिले जानकर होती है, भूरेसे भूरेमें ज्ञान होता है। उन नैयायिकोंके मतमें " मैं ज्ञानवान् हूं " ऐसी प्रतीति भी ज्ञान नामक विशेषणके और आत्मास्वरूप विशेष्यके न ग्रहण करनेपर कभी नहीं उत्पन्न हो सकती है। यदि विशेषण और विशेष्यके ग्रहण बिना भी विशिष्टबुद्धिकी उत्पत्ति मानोगे तो नैयायिकोंको अपने मतसे विरोध हो जावेगा ॥

गृहीते तस्मिन्नुत्पद्यते इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः ? न तावत्स्वतः स्वसंवेदनानभ्युपगमात्, स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा प्रयुज्यते नान्यथा संतानांतरवत्। परतश्चेत्तदपि ज्ञानांतरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यमिति ज्ञानान्तरात्तद्ग्रहणेन भाव्यमित्यनवस्थानात्कुतः प्रकृतप्रत्ययः ? ॥

यदि नैयायिक यों कहेंगे कि उस ज्ञानस्वरूप विशेषणके ग्रहण करनेपर विशिष्टबुद्धि पैदा होती है तब तो तुम बतलाओ कि उस ज्ञानका ग्रहण किससे होगा ? ज्ञानका ग्रहण अपने आप स्वयं तो हो नहीं सकता है क्योंकि आपने आत्मा और ज्ञानका अपने आप अपनेको जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं किया है। यदि ज्ञान और आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानते होते तब उन दोनोंका वह स्वतः ग्रहण होना कह सकते थे, अन्यथा नहीं कह सकते हो। दूसरे प्रकारोंसे भेदवादियोंके मतमें संतानांतरोंके समान ज्ञान और आत्माका ग्रहण नहीं हो पाता है। भावार्थ— जैसे देवदत्तके ज्ञानका यज्ञदत्त प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है या देवदत्तकी आत्माका यज्ञदत्त प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। उसीके सदृश देवदत्त भी अपने ज्ञान और आत्माको नहीं जान पावेगा।

यदि दूसरे ज्ञानसे ज्ञान और आत्माका ज्ञान होना मानोगे तो वह दूसरा ज्ञान भी विशेष्य है उसमें ज्ञानत्व विशेषण है। दूसरा ज्ञान भी अपने ज्ञानत्व विशेषणको जबतक नहीं जानेगा, तबतक प्रकृतज्ञानको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। यहां भी दूसरा ज्ञान और उसके ज्ञानत्वको जाननेके लिये तीसरे, चौथे, पांचमे ज्ञान होते रहने चाहिये। इस प्रकार अनवस्था होती है। भला ऐसी दशामें प्रकरणमें प्राप्त होरहे विशेषण रूप पहिले ज्ञानका ग्रहण कैसे होवेगा ? बताओ तो सही। भित्तिके विना कहां तक कल्पित चित्रोंको लिखोगे।

नन्वहंप्रत्ययोत्पत्तिरात्मज्ञप्तिर्निगद्यते।
ज्ञानमेतदिति ज्ञानोत्पत्तिस्तज्ज्ञप्तिरेव च ॥ २०२ ॥
ज्ञानवानहमित्येष प्रत्ययस्तावतोदिता।
तज्ज्ञानावेदनेप्येवं नानवस्थेति केचन ॥ २०३ ॥

इस पर नैयायिक अनुनयसहित उत्तर देना चाहते हैं कि मैं मैं इस प्रकारके ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही आत्मारूप विशेष्यका ग्रहण कहा जाता है और यह ज्ञान है, इस प्रकार ज्ञानका उत्पन्न हो जाना ही उस विशेषणस्वरूप ज्ञानका ग्रहण समझा जाता है। उतने मात्रसे "मैं ज्ञानवान् हूं" इस प्रकारका यह विशिष्ट प्रत्यय उत्पन्न हो जाना कहा गया है। भले ही उन ज्ञानोंका अपने आप वेदन न होवे तो भी हमारे ऐसा कहनेपर अनवस्था दोष नहीं सम्भावित है इस प्रकार कोई एक नैयायिक कह रहे हैं। भावार्थ—मैं और ज्ञानवाला हूं इन दो ज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे ही आकांक्षा शांत होजाती है। ज्ञापकपक्षमें अनवस्था दोष लगता है। कारक पक्षमें बीजाङ्कुरके समान अनवस्था हो जानेको दोष नहीं माना गया है। यहां कार्यकारणभाव नहीं चल रहा है।

ज्ञानात्मविशेषणविशेष्यज्ञानाहितसंस्कारसामर्थ्यादेव ज्ञानवानहमिति प्रत्ययोत्पत्तेर्नानवस्थेति केचिन्मन्यन्ते।

कभी पहिले समयोंमें ज्ञानको विशेषण और आत्माको विशेष्य समझ लिया था, उसका संस्कार आत्मामें रक्खा हुआ है। उस संस्कारके बलसे ही "मैं ज्ञानवाला हूं" ऐसा निर्णय उत्पन्न हो जाता है। हमारे ऊपर अनवस्था दोष नहीं है। ऐसा भी कोई एक नैयायिक मान रहे हैं।

तेऽपि नूनमनात्मज्ञा ज्ञाप्यज्ञापकताविदः।
सर्वं हि ज्ञापकं ज्ञातं स्वयमन्यस्य वेदकम् ॥ २०४ ॥

वे नैयायिक भी निश्चयसे आत्माको नहीं जान पाते हैं और ज्ञाप्यज्ञापकभावके तत्त्वको भी नहीं समझते हैं जब कि सभी दार्शनिक इस बातको मानते हैं कि जो कोई भी ज्ञापक होगा वह जाना गया होकर ही दूसरेको समझानेवाला होता है। जैसे कि धूम हेतु वह्निका ज्ञापक है। वह चाक्षुषप्रत्यक्षसे ज्ञात होकर ही अन्य वह्निको समझाता है। तथा वास्तविक रूपसे ज्ञापक हेतु ज्ञात है वह स्वयं ज्ञात होकर ही अपने ज्ञेयकी ज्ञप्ति कराता है। जिसको आजतक स्वयं जाना नहीं है, उसका संस्कार भी कहांसे आवेगा? पहिले कभी ज्ञानसे गृहीत हो चुके विषयकी ही तो धारणा कर सकते हो।

विशेषणविशेष्ययोर्ज्ञानं हि तयोर्ज्ञापकं तत्कथमज्ञातं तौ ज्ञापयेत्। कारकत्वे तदयुक्तमेव, तदिमे तयोर्ज्ञानमज्ञातमेव ज्ञापकं ब्रुवाणा न ज्ञाप्यज्ञापकभावविद इति सत्यमनात्मज्ञाः।

ज्ञानरूप विशेषणका और आत्मस्वरूप विशेष्यका ज्ञानही उन ज्ञान और आत्माका ज्ञापक माना गया है तो उन दोनोंका वह ज्ञान स्वयं अज्ञात होकर उन ज्ञात और आत्माको कैसे समझा देवेगा? बतलाइये।

यदि आप ज्ञापकपक्ष न मानकर कारकपक्ष लोगे सो तो वह युक्तियोंसे रहित ही है। भला कहीं ज्ञान और ज्ञेयके प्रकरणमें क्या कोई कारकपक्ष लेता है ? आप स्वयं विचारो। अग्निका धूम हेतु ज्ञापक है किन्तु कारकपक्षमें तो धूमका ही अग्नि कारक हेतु है। उस कारण ये नैयायिक लोग विशेष्य विशेषण के ज्ञानको अज्ञात हुये को ही ज्ञापक कह रहे हैं। अतः ये ज्ञेय ज्ञापक-भावको न समझते हुए अवश्य ही आत्माको जाननेवाले नहीं हैं यह बात सर्वथा सच्ची है। इनके यहां ज्ञान अपनेको नहीं जानता है और आत्माका स्वयंको नहीं जान पाता है।

स्यान्मतम्, विशेषणस्य ज्ञानं न ज्ञापकं नापि कारकं लिङ्गवच्चक्षुरादिवच्च, किं तर्हि ? ज्ञप्तिरूपं फलम्। तच्च प्रमाणाज्ज्ञातं चेत्तावतैवाकांक्षाया निवृत्तिः फलपर्यन्तत्वात्तस्या, विशेष्यज्ञानस्य ज्ञापकं तदित्यपि वार्तं तस्य तत्कारकत्वात्।

नैयायिकोंका यह मत भी होवे कि धूम हेतु जैसे वह्निका ज्ञापक हेतु है वैसे विशेषणका ज्ञान ज्ञापक हेतु नहीं है और चक्षु, पुण्य, पाप, आलोक आदि जैसे चाक्षुषप्रत्यक्षके कारक हेतु हैं वैसे विशेषणका ज्ञान कारक हेतु भी नहीं है। तो क्या है ? सो सुनो! हम विशेषणके ज्ञानको ज्ञप्तिस्वरूप फल मानते हैं। विशेषणके साथ इन्द्रियोंके सन्निकर्ष हो जानेको प्रमाण मानते हैं। उसका फल विशेषणका ज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न हो जाना है। एवं वह ज्ञप्तिरूपी फल भले ही प्रमाणसे नहीं भी ज्ञात हो किन्तु प्रमाणसे उत्पन्न है। इतनेसे ही आकांक्षाकी निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् तीसरे, चौथे, पांचमें, ज्ञानोंके उठानेकी आवश्यकता नहीं होती है। जिससे कि अनवस्था होवे। जब तक फल प्राप्त नहीं होता है तब तक प्रमाणोंसे ज्ञात करते रहनेकी वह आकांक्षा रहती है किंतु ज्ञप्तिरूप फलके उत्पन्न होते ही ज्ञानोंके जाननेकी आकांक्षा दूर हो जाती है। अतः वह नहीं जाना हुआ भी फलरूप विशेषणज्ञान अपने विशेष्यके ज्ञानका ज्ञापक हेतु हो जाता है। ग्रंथकार कह रहे हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कहना भी कोरी बकवाद है। क्योंकि आपने अपने दर्शनशास्त्रमें विशेषणके ज्ञानको विशेष्य ज्ञानका कारक हेतु इष्ट किया है। और अब फंस कर अनुपाय दशामें ज्ञापक हेतु स्वीकार कर रहे हैं। यह अपसिद्धांत नहीं तो क्या है ?।

प्रमाणत्वात्तस्य ज्ञापकं तदित्यप्यसारं साधकतमस्य कारकविशेषस्य प्रमाणत्ववचनात्।

प्रतिवादी कहता है कि विशेषणका ज्ञान यद्यपि विशेषणके साथ हुये इंद्रियोंके सन्निकर्ष रूप प्रमाणका फल है किंतु विशेष्यकी ज्ञप्तिका कारण भी है। अतः वह विशेषणज्ञान प्रमाण हो जानेके कारण विशेष्यका ज्ञापक हेतु हो जाता है। यह भी नैयायिकोंका कहना निस्सार है क्योंकि प्रमितिको अत्यंत प्रकृष्टरूपसे साधनेवाले विशेष कारकको आपने प्रमाण होना कहा है। आपके मतसे तो विशेष्यके साथ इंद्रियोंका सन्निकर्ष ही विशेष्यकी ज्ञप्तिका जनक हो रहा प्रमाण हो सकता है। विशेषणज्ञान नहीं।

नहि विशेषणज्ञानं प्रमाणं विशेष्यज्ञानं तत्फलमित्यभिदधानस्तत्तस्य ज्ञापकमिति मन्यते। किं तर्हि ? विशेष्यज्ञानोत्पत्तिसामग्रीत्वेन विशेषणज्ञानं प्रमाणमिति, तथा मन्यमानस्य च कानवस्था नामेति। तदेतदपि नातिविचारसहम्, एकात्मसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमिति सिद्धान्तविरोधात्, यथैव हि विशेषणार्थज्ञानं पूर्वं प्रमाणफलं प्रतिपत्तुराकाङ्क्षानिवृत्तिहेतुत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षते तथा विशेष्यार्थज्ञानमपि विशेषणज्ञानफलत्वात्तस्य।

जैनोंके प्रति पुनः नैयायिक कहते हैं कि विशेषणके ज्ञानको प्रमाण और विशेष्यके ज्ञानको उसका फल यों कहनेवाला नैयायिक वह विशेषणज्ञान उस विशेष्यका ज्ञापक है ऐसा नहीं मान रहा है तो क्या मानता है ? इसका उत्तर सुनिये ! विशेष्यज्ञानकी उत्पत्तिमें एक विशेषणज्ञान भी कारणसामग्रीमें पडा हुआ है अतः सामान्य कारण होते हुए भी विशेषणज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार ऐसे माननेवाले इन नैयायिकोंके ऊपर अनवस्थादोष आदि कहा हुआ ! आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वह नैयायिकका कहना भी परीक्षारूप विचारको अधिक सहन नहीं कर सकता है। क्योंकि नैयायिकोंका सिद्धांत है कि घट आदिक अर्थोंका ज्ञान उसी एक आत्मामें समवायसम्बंधसे रहनेवाले अव्यवहित द्वितीय क्षणवर्ती ज्ञानके द्वारा ग्राह्य हो जाता है। जब कि नैयायिक विशेषणज्ञानको विशेष्यज्ञानका कारण मानते हैं और कारण अव्यवहित पूर्व समयमें रहता है। ऐसी दशामें कार्य और कारणरूप दोनों ज्ञान अंधेरेमें पडे हुए हैं। जिस समय आप विशेष्यज्ञान होना मानते हैं उस समय तो विशेषण ज्ञानको जाननेवाले द्वितीय ज्ञानके उत्पन्न हो जानेका अवसर है। अतः उक्त सिद्धांतसे विरोध आया, और जैसे ही विशेषणरूप अर्थका ज्ञान पहिले विशेषण और इंद्रियके सन्निकर्षरूप प्रमाणका फल हो चुका है, वह ज्ञाताकी आकांक्षाओंकी निवृत्तिका हेतु हो जानेसे दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं करता है, वैसे ही विशेष्यरूप अर्थका ज्ञान भी उस विशेषणज्ञानरूप प्रमाणका फल हो जानेके कारण अपने जाननेमें दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षा न करेगा। ऐसा माननेपर अनवस्था दोष तो हट गया किंतु आपका यह सिद्धांत कहां रहा कि पहिला ज्ञान दूसरे ज्ञानसे अवश्य जाना जाता है। विशेष यह है कि नैयायिक लोग बीचमें पडे हुए विशेषणज्ञानको दण्ड आदिक विशेषणोंके साथ हुए चक्षुरादिक इंद्रियोंके सन्निकर्षका प्रमाणरूप फल मानते हैं और भविष्यमें होनेवाले विशेष्यज्ञानका कारण मानते हुए विशेषणज्ञानको प्रमाण भी मानते हैं।

यदि पुनर्विशेषणविशेष्यार्थज्ञानस्य स्वरूपापरिच्छेदकत्वात्स्वात्मनि क्रियविरोधादपरज्ञानेन वेद्यमानतेष्टा तदा तदपि तद्वेदकं ज्ञानमपरेण ज्ञानेन वेद्यमिष्यतामित्यनवस्था दुःपरिहारा।

यदि नैयायिक फिर यों कहेंगे कि विशेषणरूप अर्थ और विशेष्यरूप अर्थका ज्ञान अपने स्वरूपका ज्ञापक नहीं है क्योंकि जानने रूप क्रियाका जानना रूप स्वमें ही होनेका विरोध है।

जैसे कितनी भी पैनी तलवार क्यों न हो, अपनेको स्वयं नहीं काटती है। कैसा भी सीखा हुआ नटका छोकरा हो, वह आप ही अपने कंधे पर नहीं चढ जाता है। भक्षण रूप क्रिया स्वयं अपना भक्षण नहीं कर सकती है। इसी प्रकार ज्ञान स्वयं अपनेको नहीं जान सकता है। अतः ज्ञानका जाना गया पना हम दूसरे ज्ञानसे इष्ट करते हैं। वादी आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो अनवस्था होती है। क्योंकि जो ज्ञान पहिले ज्ञानका ज्ञापक है वह तीसरे ज्ञानसे जाना गया होना चाहिये और वह तीसरा चौथे ज्ञानसे परिच्छेद्य होना चाहिये तब कहीं पहिला ज्ञान जाना जा सकता है। इस अनवस्थाका परिहार करना आपके लिये अत्यंत कठिन पड गया है। आपने अपनेमें स्वयं क्रियाका विरोध दिया था सो ठीक नहीं है। देखो! अग्नि स्वयं अपनेको जला देती है। मैथीका शाक अपनी गर्मीसे अपने आप झुलस जाता है। दीपक, सूर्य स्वयं अपना प्रकाश करते हैं। अच्छा अध्यापक स्वयं अपनेको पढाता है, सभी तो अपने नवीन उत्पन्न किये अनुभवोंको पुस्तकमें टिप्पण कर लेता है। अनेक वैद्य स्वयं अपने आप चिकित्सा कर लेते हैं। निश्चय नयसे सम्पूर्ण पदार्थ अपनेमें स्वयं आप व्यवस्थित हो रहे हैं। वास्तवमें क्रियावान् और क्रियामें ही क्रिया रहती हैं। अतः जानना रूप ज्ञानक्रिया भी ज्ञानमें आनंदके साथ रह सकती है। नटके छोराकी पीठकी हड्डी मुडती नहीं, अतः वह अपने कंधेपर नहीं बैठ पाता है। गोह, गिलहरी, बिच्छु, सांप अपने पिछले भागको कंधोपर धर सकते हैं। पैनी कैंचीको खाली जोरसे चलाया जाय तो स्वयं अपनेको काट डालती है। दृष्टांतोंसे तत्त्व निर्णय नहीं होता है। जगतमें उदाहरण सभी प्रकारके मिल जाते हैं। सज्जनोंको सज्जनोंके और दुर्जनोंको दुर्जनोंके दृष्टान्त भरे पडे हैं।

नन्वर्थज्ञानपरिच्छेदे तदनन्तरज्ञानेन व्यवहर्तुराकांक्षाक्षयादर्थज्ञानपरिच्छित्तये न ज्ञानांतरापेक्षास्ति, तदाकांक्षया वा तदिष्यत एव। यस्य यत्राकांक्षाक्षयस्तत्र तस्य ज्ञानांतरापेक्षानिवृत्तेस्तथा व्यवहारदर्शनाच्चतो नानवस्थेति चेत्, तर्ह्यर्थज्ञानेनार्थस्य परिच्छित्तौ कस्यचिदाकांक्षाक्षयाच्चज्ज्ञानापेक्षाऽपि माभूत्।

अनवस्था दोषके परिहारके लिये नैयायिक अनुनयसहित प्रयत्न करते हैं कि पहिले अर्थज्ञानको जाननेमें उपयोगी उसके अव्यवहित उत्तरवर्ती दूसरे ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। बस! उस दूसरे ज्ञानसे ही ज्ञाता व्यवहारीकी अकांक्षा निवृत्त हो जाती है। अतः उस दूसरे ज्ञानको जाननेके लिए तीसरे चौथे ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं होती है। ऐसा कौन ठलुआ बैठा है! जो व्यर्थ ही अपने ज्ञानको जाननेकी इच्छाओंको बढाता रहे। हां! यदि कोई उन तीसरे चौथे ज्ञानोंके जाननेकी इच्छा करेगा तो हम उन चौथे, पांचमे ज्ञानोंका उत्पन्न होना इष्ट करते ही हैं। जिस व्यक्तिको जहां कहीं जाकर आकांक्षाकी निवृत्ति हो जावेगी उस व्यक्तिके वहां तकके ज्ञापक कई ज्ञान मान लेवेंगे और तैसा व्यवहार भी हो रहा देखा जाता है। जैन लोगोंको भी ज्ञानोंके जाननेकी आकांक्षा होनेपर सौ और पांच सौ तक भी ज्ञान मानने पडेंगे। अन्य कोई उपाय नहीं है, फलमुख गौरवमें

दोष नहीं माना गया है। इस कारणसे हमारे ऊपर अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि कहीं न कहीं आकांक्षा शांत हो ही जावेगी। आचार्य कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो पहिले अर्थ ज्ञानकरके अर्थकी ज्ञप्ति हो जानेपर इतनेसे ही किसी एककी आकांक्षा शांत हो जावे यों तो पहिले ज्ञानको जाननेके लिए दूसरे ज्ञानकी भी अपेक्षा न होवे, क्योंकि जहां आकांक्षा टूट जावेगी, वहीं आप दूसरे ज्ञानोंका उत्पन्न होना रोक देते हैं। ऐसी दशामें अर्थका ज्ञान अवव्यहित उत्तरवर्त्ती ज्ञानसे ग्राह्य है इस आपके ही सिद्धांतसे आप नैयायिकोंको विरोध बना रहा ॥

तथेष्यत एवेति चेत्, परोक्षज्ञानवादी कथं भवता अतिशय्यते ?।

नैयायिक कहते हैं कि हम ऐसा इष्ट करते ही हैं, अर्थात् यदि आकांक्षा न होवे तो पहिले ज्ञानको जाननेके लिए भी दूसरा ज्ञान नहीं उठाया जाता है। स्वयं अन्धेरेमें पडा पहिला घटज्ञान ही घटको जान लेता है, भविष्यमें घटज्ञानको जाननेके लिए किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। इस पर तो आचार्य कहते हैं कि ऐसी दशामें ज्ञानको परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके साथ आपकी क्या कैसी विशेषता रही ? बतलाइए ? भावार्थ— मीमांसक भी पहिले ज्ञान आदि सब ज्ञानोंका प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं। परोक्षज्ञानद्वारा ही घट आदिकका प्रत्यक्ष होना स्वीकार करते हैं। यदि किसीको ज्ञानके जाननेकी आकांक्षा हो जावे तो ज्ञानजन्य ज्ञाततासे ज्ञानका अनुमान होना मीमांसक इष्ट करते हैं, वैसा ही परोक्षपन आप मान रहे हैं, अतः मीमांसक और आपके मन्तव्यमें कोई अतिशय नहीं रहा। पहिले ज्ञानको दोनोंने परोक्ष मान लिया है।

ज्ञानस्य कस्यचित्प्रत्यक्षत्वोपगमादिति चेत्, यस्याप्रत्यक्षतोपगमस्तेन परिच्छिन्नोऽर्थः कथं प्रत्यक्षः ? सन्तानान्तरज्ञानपरिच्छिन्नार्थवत्।

नैयायिक बोलते हैं कि मीमांसकोंसे हमारे मन्तव्यमें यह अधिक अतिशय है कि हम किसी किसी ज्ञानका दूसरे ज्ञानोंसे प्रत्यक्ष होना मान लेते हैं किन्तु मीमांसक तो किसी भी ज्ञानका प्रत्यक्ष होना नहीं मानते हैं। ज्ञानोंके प्रत्यक्ष हो जानेके भयसे वे सर्वज्ञको भी नहीं स्वीकार करते हैं। घट, पट, पुस्तक आदिकका प्रत्यक्ष भले ही हो जावे किन्तु इनको जाननेवाले ज्ञानोंका तथा मनु, जैमिनि, भट्ट, प्रभाकरोंको भी अपने ज्ञानोंका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। हां ! इच्छा होनेपर वे उन ज्ञानोंका अनुमान कर लेते हैं। हम नैयायिक तो घटके ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्ष होना और सर्वज्ञके ज्ञानका सर्वज्ञके दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्ष होना मानते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि आप नैयायिक ऐसा कहोगे तो जाननेकी आकांक्षा न होनेपर जिस ज्ञानका आपने प्रत्यक्ष होना नहीं माना है, उस ज्ञानसे जाने गये अर्थका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? बताओ। जैसे कि अन्य संतान माने गये देवदत्तके द्वारा जाने जानुके अर्थका जिनदत्त ज्ञान नहीं कर सकता है, क्योंकि जिनदत्तको देवदत्तके ज्ञानका स्वयं प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। उसी प्रकार स्वयं देवदत्तके ज्ञानका देवदत्तको

जब प्रत्यक्ष नहीं है तो देवदत्त अपने उस अप्रत्यक्षज्ञानद्वारा अर्थका प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? यानी नहीं।

प्रत्यक्षतया प्रतीतेरिति चेत्, तर्ह्यप्रत्यक्षज्ञानवादिनोऽपि तत एवार्थः प्रत्यक्षोऽस्तु तथा चानर्थिका सर्वज्ञज्ञानस्य ज्ञानान्तरप्रत्यक्षत्वकल्पना।

अप्रत्यक्ष ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष हो जानेपनेसे प्रतीति होना देखा जाता है। अतः पहिले अप्रत्यक्ष ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष हो जाना बन जावेगा। यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे तब तो ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं कहनेवाले मीमांसकके भी उसी अप्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थका प्रत्यक्ष करना हो जाओ। और वैसा हो जानेपर फिर सर्वज्ञके ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्षकी नैयायिककी कल्पना व्यर्थ पडेगी। नैयायिकोंने ईश्वरके दो ज्ञान माने हैं। एकके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करता है। और दूसरे ज्ञानसे उस ज्ञानका प्रत्यक्ष कर लेता है। किंतु जब नैयायिक अप्रत्यक्ष ज्ञानसे ही अर्थका प्रत्यक्ष हो जाना मानते हैं तो स्वयं अप्रत्यक्ष भी अकेला ईश्वरका ज्ञान चराचर जगत्का प्रत्यक्ष कर लेवेगा, प्रत्यक्ष द्वारा सर्वको जानना स्वरूप सर्वज्ञत्वको रक्षित करनेके लिये प्रथम ज्ञानका ज्ञानान्तरसे प्रत्यक्ष होते रहनेकी कल्पना व्यर्थ है। हिंदुस्तानके एक महाराजा विलायतसे बढिया गाय लाये जो कि प्रतिदिन छः घडी दूध देती थी। उसको गर्भिणी करने और नस्लको ठीक रखनेके लिये सदृढ सांड भी लाना पडा, जिसका उपयोग वर्षमें मात्र एक दिन, और दैनिक व्यय गायसे भी अत्यधिक। मितव्ययीको ऐसा अपव्यय खटकता है। यों ईश्वरमें दूसरे ज्ञानको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यत्र यथा प्रतीतिस्तत्र तथेष्टिर्न पुनरप्रतीतिकं किञ्चित्कल्प्यत इति चेत्, स्वार्थसंवेदकताप्रतीतितो ज्ञानस्य तथेष्टिरस्तु।

नैयायिक कहते हैं कि जहां जैसा अवसर देखा जाता है वहां वैसे ही पैंतरा बदल दिये जाते हैं। जिस प्रकारसे जहां अर्थोंके और ज्ञानोंके प्रत्यक्ष होनेकी प्रतीति होती दीखे वहां वैसा ही हम इष्ट कर लेते हैं। हां, फिर जो कभी प्रतीतिमें नहीं आता है ऐसे किसी भी पदार्थकी हम कल्पना नहीं करते हैं। सर्वज्ञज्ञानको जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता है किन्तु संसारी जीवोंके किसी किसी ज्ञानमें ज्ञानान्तरकी अकांक्षा नहीं होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि नैयायिक ऐसा कहेंगे, तब तो प्रत्येक ज्ञानको अपने और अर्थके बढिया ज्ञापकपनेकी प्रतीति हो रही है। तो इस कारण फिर ज्ञानको उसप्रकार अर्थ और अपना दोनोंका परिच्छेदी क्यों न मान लो ! समीचीन प्रतीतिके अनुसार तो आपको चलना चाहिये। वैसा इष्ट करनेको आप स्वीकार भी कर चुके हैं।